MANGALAYATAN
UNIVERSITY

*Learn Today to Lead Tomorrow*

# Society, Culture and Social Change

## SOO-1201

Edited By

Dr. Umesh Dixit

DIRECTORATE OF DISTANCE AND ONLINE EDUCATION

MANGALAYATAN
UNIVERSITY

# विषय-सूची


| | | |
|---|---|---|
| 1. | **समाज : प्रकार एवं विशेषता** | **1–43** |
| | 1.1 उद्देश्य (Objectives) | 1 |
| | 1.2 प्रस्तावना (Introduction) | 2 |
| | 1.3 समाज का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Society) | 2 |
| | 1.4 समाज की विशेषताएँ (Characteristics of Society) | 3 |
| | 1.5 ग्रामीण जीवन (Rural Life) | 6 |
| | 1.6 नगरीय जीवन (Urban Life) | 9 |
| | 1.7 ग्रामीण एवं नगरीय जीवन की तुलना (Comparision of Rural and Urban Life) | 14 |
| | 1.8 भारत में जनजातीय समुदाय : संख्या एवं वितरण (Tribal Communities in India : Strength and Distribution) | 20 |
| | 1.9 जनजाति और जाति (Tribe and Caste) | 22 |
| | 1.10 जनजातीय शोषण, असंतोष एवं समस्याएँ (Tribal Exploitation, Unrest and Problems) | 24 |
| | 1.11 जनजातीय आन्दोलन (Tribal Movements) | 27 |
| | 1.12 आदिवासी परिवर्तन : संरक्षात्मक भेदभाव और आदिवासी कल्याण एवं विकास (Tribal Transition : Protective Discrimination and Tribal Welfare and Development) | 31 |
| | 1.13 परसंस्कृतिग्रहण और जनजातीय संस्कृति में परिवर्तन (Acculturation and Changes in Tribal Culture) | 32 |
| | 1.14 आदिवासियों का विस्थापन और पुनर्स्थापना (Displacement and Resettlement of Tribals) | 34 |
| | 1.15 एकीकरण और आत्मसातकरण (Integration and Assimilation) | 35 |
| | 1.16 औद्योगीकरण एवं शहरी विकास (Industrialization and Urban Development) | 37 |
| | 1.17 सारांश (Summary) | 43 |
| | 1.18 अभ्यास प्रश्न (Review Questions) | 43 |
| | 1.19 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings) | 43 |
| 2. | **संस्कृति, समाजीकरण एवं सामाजिक नियंत्रण** | **44–79** |
| | 2.1 उद्देश्य (Objectives) | 44 |
| | 2.2 प्रस्तावना (Introduction) | 45 |
| | 2.3 संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Culture) | 45 |
| | 2.4 संस्कृति के गुण एवं विशेषताएँ (Attributes and Characteristics of Culture) | 46 |
| | 2.5 संस्कृति के उपादान (Components of Culture) | 53 |
| | 2.6 भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति (Material and Non-material Culture) | 53 |
| | 2.7 भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति में अंतर (Distinction between Material and Non-material Culture) | 55 |
| | 2.8 समाजीकरण का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Socialization) | 55 |
| | 2.9 समाजीकरण की प्रकृति (Nature of Socialization) | 56 |
| | 2.10 समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया के रूप में (Socialization as a Process of Learning) | 57 |
| | 2.11 समाजीकरण की प्रक्रिया के स्तर या अवस्थाएँ (Stages of the Process of Socialization) | 59 |
| | 2.12 समाजीकरण की मुख्य संस्थाएँ, साधन या अभिकरण (Chief Institutions, Sources or Agencies of Socialization) | 61 |
| | 2.13 व्यक्तित्व के विकास में समाजीकरण का महत्त्व (Role of Socialization in the Development of Personality) | 65 |

2.14 सामाजिक नियंत्रण (Social Control) 66
2.15 सामाजिक नियंत्रण की परिभाषा एवं अवधारणा (Definition and Concept of Social Control) 67
2.16 समाजीकरण एवं सामाजिक नियंत्रण (Socialization and Social Control) 68
2.17 सामाजिक नियंत्रण के स्वरूप या प्रकार (Forms or Types of Social Control) 70
2.18 औपचारिक सामाजिक नियंत्रण (Formal Social Control) 73
2.19 औपचारिक नियंत्रण के साधन एवं प्रविधियाँ (Means and Techniques of Formal Control) 74
2.20 अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण (Informal Social Control) 75
2.21 औपचारिक तथा अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण में अंतर (Distinction between Formal and Informal Social Control) 77
2.22 सारांश (Summary) 78
2.23 अभ्यास प्रश्न (Review Questions) 79
2.24 संदर्भ पुस्तकें (Further readings) 79

**3. सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया : आधुनिकीकरण, लौकिकीकरण एवं वैश्वीकरण 80–107**

3.1 उद्देश्य (Objectives) 80
3.2 प्रस्तावना (Introduction) 80
3.3 सामाजिक परिवर्तन (Social Change) 81
3.4 आधुनिकीकरण (Modernisation) 89
3.5 लौकिकीकरण (Secularisation) 93
3.6 लौकिकीकरण की विशेषताएँ (Characteristics of Secularisaton) 95
3.7 लौकिकीकरण के आवश्यक तत्व (Essential Elements of Secularisation) 96
3.8 लौकिकीकरण के उद्देश्य (Object of Secularisation) 97
3.9 वैश्वीकरण का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Globalisation) 97
3.10 वैश्वीकरण सिद्धान्त (Globalisation Theory) 99
3.11 वैश्वीकरण के प्रभाव (Impact of Globalisation) 100
3.12 सारांश (Summary) 106
3.13 अभ्यास प्रश्न (Review Questions) 107
3.14 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings) 107

**4. सामाजिक स्तरीकरण 108–152**

4.1 उद्देश्य (Objectives) 108
4.2 प्रस्तावना (Introduction) 109
4.3 सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Social Stratification) 109
4.4 सामाजिक स्तरीकरण एवं विभेदीकरण (Social Stratification and Differentiation) 110
4.5 स्तरीकरण एवं विभेदीकरण में अन्तर (Distinction between Stratification and Differentiation) 110
4.6 सामाजिक स्तरीकरण की आवश्यकता (Necessity of Social Stratification) 112
4.7 सामाजिक स्तरीकरण की विशेषताएँ (Characteristics of Social Stratification) 112
4.8 सामाजिक स्तरीकरण के आधार (Bases of Social Stratification) 113
4.9 सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप (प्रकार) (Forms of Social Stratification) 115
4.10 सामाजिक स्तरीकरण का महत्त्व (प्रकार्य) (Importance (Functions) of Social Stratification) 118
4.11 सामाजिक स्तरीकरण के अकार्य (Dysfunctions of Social Stratification) 120
4.12 जाति व्यवस्था और सामाजिक स्तरीकरण (Caste System and Social Stratification) 120
4.13 जाति : अध्ययन के तीन परिप्रेक्ष्य (Caste : Three Perspectives of the Study) 122
4.14 जाति व्यवस्था में परिवर्तन (Transformation of Caste System) 127

4.15 क्या जाति व्यवस्था परिवर्तित हो रही है? (Is Caste System Changing?) 130
4.16 जाति व्यवस्था का भविष्य (Future of Caste System) 134
4.17 जाति की गतिशीलता (Mobility of Caste) 136
4.18 समानता और सामाजिक संरचना के मुद्दे (Issues of Equality and Social Structure) 141
4.19 जाति और राजनीति (Caste and Polities) 143
4.20 लिंग भेदभाव (Gender Discrimination) 147
4.21 सारांश (Summary) 151
4.22 अभ्यास प्रश्न (Review Questions) 152
4.23 संदर्भ पुस्तकें (Reference Books) 152

इकाई-1
(Unit-1)

# समाज : प्रकार एवं विशेषता
# (Societies : Types and Characteristics)

नोट

## रुपरेखा

1.1 उद्देश्य (Objectives)
1.2 प्रस्तावना (Introduction)
1.3 समाज का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Society)
1.4 समाज की विशेषताएँ (Characteristics of Society)
1.5 ग्रामीण जीवन (Rural Life)
1.6 नगरीय जीवन (Urban Life)
1.7 ग्रामीण एवं नगरीय जीवन की तुलना (Comparision of Rural and Urban Life)
1.8 भारत में जनजातीय समुदाय : संख्या एवं वितरण (Tribal Communities in India : Strenght and Distribution)
1.9 जनजाति और जाति (Tribe and Caste)
1.10 जनजातीय शोषण, असंतोष एवं समस्याएँ (Tribal Exploitation Unrest and Problems)
1.11 जनजातीय आंदोलन (Tribal Movements)
1.12 आदिवासी परिवर्तन : संरक्षात्मक भेदभाव और आदिवासी कल्याण एवं विकास (Tribal Transition : Protective Discrimination and Tribal Walfare and Development)
1.13 परसंस्कृतिग्रहण और जनजातीय संस्कृति में परिवर्तन (Acculturation and Changes in Tribal Culture)
1.14 आदिवासियों का विस्थापन और पुनर्स्थापना (Displacement and Resettlement of Tribals)
1.15 एकीकरण और आत्मसातकरण (Integration and Assimilation)
1.16 औद्योगीकरण एवं शहरी विकास (Industrialization and Urban Development)
1.17 सारांश (Summary)
1.18 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
1.19 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

## 1.1 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात्, विद्यार्थी योग्य होंगे:

- समाज एवं समाज की विशेषताओं को समझने में;
- ग्रामीण तथा नगरीय जीवन को समझने में;
- भारतीय जनजाति के जीवन स्तर को समझने में;
- औद्योगीकरण और शहरी विकास को समझने में।

## 1.2 प्रस्तावना (Introduction)

समाज, समाजशास्त्र में केन्द्रीय महत्त्व का शब्द है। इसे समझे बिना समाजशास्त्र को समझना कठिन है। समाजशास्त्र, समाज का विज्ञान है। अतः समाज, समाजशास्त्र की सबसे महत्त्वपूर्ण अवधारणा है। यद्यपि हममें से सभी इस शब्द से परिचित हैं परन्तु इसके जिस अर्थ से हम परिचित हैं वह अर्थ समाजशास्त्रीय अर्थ से भिन्न है।

सामान्य बोलचाल की भाषा में हम समाज शब्द का प्रयोग सभी प्रकार के मानव समूहों के लिए करते हैं उदाहरणस्वरूप यदि किसी कक्षा के विद्यार्थियों से पूछा जाए कि वे किस समाज के सदस्य हैं, तो प्राप्त होने वाले कुछ उत्तर निम्नानुसार होंगे–

1. "मैं हिन्दू (या मुस्लिम या ईसाई) समाज का सदस्य हूँ।" (यहाँ समाज से अभिप्राय सम्प्रदाय से है।)
2. "मैं ब्राह्मण (या क्षत्रिय या वैश्य या हरिजन) समाज का सदस्य हूँ।" (यहाँ समाज से अभिप्राय, वर्ण से है।)
3. "मैं विद्यार्थी (या व्यापारी) समाज का सदस्य हूँ।" (समाज यहाँ पर वर्ग बोधक है।)
4. "मैं भारतीय समाज का सदस्य हूँ।" (समाज से यहाँ तात्पर्य राष्ट्रीयता से है।)
5. "मैं मराठी (या बंगाली या गुजराती) समाज का सदस्य हूँ।" (समाज को यहाँ पर विशेष प्रकार की भाषा का प्रयोग करने वाले मनुष्यों के समूह के रूप में व्यक्त किया गया है।)
6. "मैं विदर्भ (या राजस्थानी या पंजाबी या दक्षिण भारतीय या उत्तर भारतीय) समाज का सदस्य हूँ।" (यहाँ समाज शब्द का प्रयोग, एक क्षेत्र या प्रदेश विशेष से मूलतः आए हुए मनुष्यों के समूह के लिए किया गया है।)

## 1.3 समाज का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Society)

उपरोक्त उदाहरणों से यह स्वतः ही प्रतिपादित होता है कि साधारण बोलचाल की भाषा में समाज शब्द का प्रयोग, भिन्न-भिन्न प्रकार के समूहों को प्रकट करने के लिए किया जाता है।

अतः यदि हम समाज के उपरोक्त अर्थों को यहाँ प्रतिस्थापित करे दें, तब समाजशास्त्र किसका विज्ञान होगा? समाज विषयक अनिश्चितता और भ्रांति को दूर करने के लिए ही समाजशास्त्री, समाज को मनुष्यों का समूह नहीं मानते हैं। समाज को परिभाषित करने के लिए समाजशास्त्रियों ने उस भावना या तथ्य को आधार माना है, जिसके कारण समूह के सदस्य स्वयं को एक समाज का होना निरूपित करते हैं। इस तथ्य भावना या आधार को हम एक उदाहरण के द्वारा भली-भाँति ज्ञात कर सकते हैं।

समस्त ब्राह्मण वर्ण के व्यक्ति स्वयं को ब्राह्मण समाज का सदस्य कहते हैं। किसी क्षत्रिय को ब्राह्मण समाज की या ब्राह्मण को क्षत्रिय समाज की सदस्यता प्रदान नहीं की जाती है। इसका कारण यह है कि समस्त ब्राह्मण न केवल एक जाति हैं, बल्कि उनमें परस्पर (सगे; माने हुए या जाति बंधु के रूप में) सम्बन्ध भी है। उनका ऐसा सम्बन्ध किसी क्षत्रिय से नहीं है। इसीलिए वे क्षत्रिय को अपने समाज की सदस्यता प्रदान नहीं करेंगे। यही कारण है कि क्षत्रिय, वैश्य, ब्राह्मण आदि भी अपने वर्ण की सदस्यता अन्य वर्णों के सदस्यों को प्रदान नहीं करेंगे। अतः वर्ण समाज के निर्माण के लिए "वर्ण के सदस्यों में किसी न किसी प्रकार का संबंध होना" आवश्यक है। एक सम्प्रदाय, एक वर्ग, राष्ट्रीय समूह, भाषाई समूह, प्रादेशिक समूह आदि के सदस्य भी इसी प्रकार के वास्तविक या काल्पनिक सम्बन्धों से संबंधित होने के आधार पर ही स्वयं को उस समाज का सदस्य निरूपित करते हैं। इस दृष्टि से हम निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि मनुष्यों के सभी प्रकार के समूहों के सदस्यों में किसी न किसी प्रकार के संबंध अवश्य ही पाये जाते हैं जिनके आधार पर उनमें संगठन या समूह बनाने की भावना का उदय होता है। समूहों के संगठन के लिए संबंधों की इस अनिवार्यता को आधार मानकर समाजशास्त्री, समाज की परिभाषा "मनुष्यों (या समूह के सदस्यों) के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों की व्यवस्था के रूप में करते हैं (न कि मनुष्यों

की संख्या, समूह, एकत्रीकरण या झुण्ड के रूप में)।" समूहों का आकार या विशेषता इस परिभाषा को प्रभावित नहीं करती है। अत: यह परिभाषा मनुष्यों के सभी प्रकार के समूहों के लिए उपयुक्त है तथा समाज के वास्तविक रूप को प्रकट करती है।

विभिन्न समाजशास्त्रियों ने 'समाज' की भिन्न-भिन्न विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए उसे अपने-अपने ढंग से परिभाषित करने का प्रयास किया है। कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं–

नोट

1. **गिडिंग्स (Giddings)**–"समाज स्वयं एक संघ है, एक संगठन है, औपचारिक सम्बन्धों का एक योग है, जिसमें सहयोगी व्यक्ति परस्पर आबद्ध हैं।"
2. **गिन्सबर्ग (Ginsberg)**–"समाज मानवीय सम्बन्धों का सम्पूर्ण जाल है।"
3. **कूले (C.H. Cooley)**–"समाज स्वरूपों या प्रक्रियाओं का जटिल ढांचा है जो एक-दूसरे के अन्त:क्रियाओं के कारण जीवित है तथा वृद्धि करता है। सम्पूर्ण व्यवस्था इस प्रकार संगठित है कि एक भाग पर पड़ने वाला प्रभाव अन्य भागों को भी प्रभावित करता है।"
4. **लेपियर (Lapiere)**–"समाज मनुष्यों के समूह का नाम नहीं है, वरन् यह समूह के मनुष्यों की अन्त: सम्बन्धों की जटिल व्यवस्था है।"
5. **फेयरचाइल्ड (H.P. Fairchild)**–"समाज मानवों का एक समूह है, जो अपने विभिन्न प्रमुख हितों की पूर्ति के लिए परस्पर सहयोग प्रदान करते हैं, अनिवार्य रूप से स्वयं को बनाये रखने व स्वयं की निरन्तरता के लिए।"
6. **मैकाइवर और पेज (MacIver and Page)**–"समाज व्यवहारों और प्रणालियों, प्रभुत्व और सहयोग, समूहों और श्रेणियों, मानव व्यवहार के नियन्त्रणों और स्वाधीनता का एक विधान है।"
7. **गिलिन (Gillin)**–"समाज तुलनात्मक दृष्टि से सबसे अधिक स्थाई समूह है, जो कि सामान्य स्वार्थ, सामान्य भू-भाग, सामान्य प्रकार का रहन-सहन और सामान्य पारस्परिक सहयोग या अपनत्व की भावना रखता है, जिसके आधार पर वे अपने को बाहर से पृथक् करते हैं।"
8. **रयूटर (Reuter)**–"समाज एक अमूर्त शब्द है, जो समूह के दो या दो से अधिक सदस्यों के बीच स्थित पारस्परिक सम्बन्धों की जटिलता का बोध कराता है।"

## 1.4 समाज की विशेषताएँ (Characteristics of Society)

समाज की समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विवेचना कर लेने पर अब हम सरलतापूर्वक समाज की विशेषताओं का उल्लेख कर सकते हैं। कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नानुसार हैं–

1. **समाज सम्बन्धों की व्यवस्था है, न कि मनुष्यों का समूह**–साधारणत: मनुष्यों के समूह को समाज कह कर सम्बोधित किया जाता है। स्त्री-समाज और पुरुष-समाज का प्रचलन इसी अर्थ में है। यह सच भी है कि एक-एक मिलकर बहुत से मुनष्यों के योग से समाज बनता है किन्तु एक या कुछ एक व्यक्ति समाज नहीं होते हैं बल्कि समाज तो अनेकानेक मनुष्यों के सम्बन्धों की एक व्यवस्था है।
2. **समाज अमूर्त है**–अमूर्त का अर्थ है कि जिसका कोई ठोस आकार न हो अर्थात् जो स्थान न घेरती हो, जिसका कोई आकार न हो, जिसको स्पर्श न किया जा सके, जिसे उठाया अथवा रखा न जा सके। सम्बन्ध इस दृष्टिकोण से अमूर्त होते हैं। समाज चूँकि सम्बन्धों की व्यवस्था है तथा सम्बन्ध अमूर्त होते हैं इसलिए समाज भी अमूर्त है। हम मनुष्यों के समूह, परिवार के सदस्यों आदि को देख सकते हैं, परंतु उनके बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों को नहीं।
3. **समाज में समानता और विविधता पाई जाती है**–समाज, यद्यपि सम्बन्धों की व्यवस्था है, परन्तु सम्बन्धों का विकास मनुष्यों की पारस्परिक जागरूकता, पारस्परिक सम्पर्क और अन्तर्क्रियाओं के फलस्वरूप होता है। इस दृष्टि से हम समाज की कल्पना मनुष्यों के बिना

नोट

नहीं कर सकते हैं। मनुष्यों में पाई जाने वाली समानताएँ व उनसे उत्पन्न अन्तर्क्रियाएँ समाज को जन्म देती हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि समाज में असमानता या विविधता होती ही नहीं है। सत्य तो यह है कि सभी समाज में समानताओं के साथ-साथ असमानताएँ भी परिलक्षित होती हैं। परिलक्षित कुछ प्रमुख समानताएँ और विविधताएँ निम्नानुसार हैं–

(अ) **समाज में परिलक्षित समानताएँ**–प्रजातीय दृष्टि से मानव-मानव एक समान होने के कारण ही उनमें पारस्परिक जागरूकता पाई जाती हैं। सभी मनुष्य बुद्धियुक्त हैं, इसी कारण वे एक-दूसरे के विचारों को समझते हैं तथा पारस्परिक सहयोग करते हैं। सभी मनुष्यों की मूलभूत आवश्यकताएँ एक समान हैं। मानवीय सीमाएँ या दोष भी सभी में समान हैं पशु जैसी मूल प्रवृत्तियाँ (जैसे स्वार्थ, लोभ, क्रोध, मोह, अहंकार, परिश्रम से मन चुराने की प्रवृत्ति आदि) भी सब में समान रूप में विद्यमान रहती हैं।

इनके अतिरिक्त समाज में प्रचलित रीति-रिवाज, जनरीतियाँ, रूढ़ियाँ, प्रथाएँ, भाषा, धर्म, आदर्श भी सभी के लिए एक जैसे पाये जाते हैं। इसीलिए सदस्यों के व्यवहारों में समरूपता पाई जाती है। इस प्रकार समाज में अनेक रूपों में समानताएँ परिलक्षित होती हैं।

(ब) **समाज में परिलक्षित असमानताएँ**–इन समानताओं के बावजूद समाज में अनेक असमानताएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। स्तरीकरण के कारण समाज में अनेक समूह-उपसमूह पाये जाते हैं। आवश्यकताओं की भिन्नता के कारण भी अनेक समूह पाये जाते हैं। इन समूहों से संबंधित संस्थाएँ (कार्यविधियाँ, नियम आदि) भी भिन्न होती हैं। समाज में सभी सदस्यों की सामाजिक स्थिति व भूमिकाएँ भी एक समान न होकर, भिन्न-भिन्न होती हैं। आयु भेद, लिंग भेद, शारीरिक शक्ति, बौद्धिक प्रतिभा, गुण, व्यक्तिगत रुचियों, कार्यक्षमता आदि के आधार पर भी समाज के सदस्यों में असमानताएँ परिलक्षित होती हैं। समाज में घटित होने वाले अपराध, असहयोग, संघर्ष, प्रतिस्पर्धा, आत्महत्या आदि भी इस तथ्य पर प्रकाश डालते हैं कि समाज में समानताएँ ही नहीं, असमानताएँ भी रहती हैं।

(स) **असमानता की अपेक्षा समानता अधिक**–यह सत्य है कि समाज में समानताएँ और असमानताएँ दोनों ही पाई जाती हैं, परन्तु असमानताओं की अपेक्षा समानताएँ अधिक प्रभावशाली होती हैं। यदि असमानताएँ अत्यधिक बढ़ जाएँ तब समाज संगठित नहीं रह सकता। इसीलिए प्रत्येक समाज, सदस्यों में समरूपता का विकास करने के साथ-साथ असमानताओं को भी नियंत्रित करने के लिए नियंत्रणात्मक व्यवस्था का विकास करता है।

4. **समाज में सहयोग और संघर्ष पाया जाता है**–समाज अर्थात् सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था मनुष्यों की, अंतर्क्रियाओं फलस्वरूप उत्पन्न होती है। मनुष्यों की अन्तर्क्रियाओं को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–सहयोगात्मक अन्तर्क्रियाएँ और असहयोगात्मक अन्तर्क्रियाएँ। हम ऐसे किसी भी समाज की कल्पना नहीं कर सकते, जिसके सदस्यों में सहयोग ही सहयोग हो। सत्य तो यह है कि प्रत्येक समाज में चाहे वह कितना ही छोटा व सरल क्यों न हो, किसी न किसी रूप में सहयोग की भावना भी अवश्य ही पायी जाती है। अब हम देखें कि समाज में किस प्रकार सहयोग और असहयोग पाया जाता है–

(अ) **समाज में सहयोग**–सहयोग से तात्पर्य एक साथ या मिलजुल कर कार्य करने से है। जब दो या दो से अधिक व्यक्ति परस्पर संयुक्त होकर किसी कार्य को सम्पादित करते हैं, तब इसे सहयोग कहा जाता है। इस प्राणी जगत में सर्वश्रेष्ठ प्राणी होने पर भी मनुष्य सर्वाधिक असहाय और असुरक्षित है। इसका प्रमुख कारण मानव की असीमित आवश्यकताएँ हैं। मानव की सम्पूर्ण दिनचर्या किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति के प्रयास में ही व्यतीत होती है। सीमित शक्ति, सीमित साधन और आवश्यताओं की

त्वरित पूर्ति की अनिवार्यता के कारण किसी भी एक व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं होता कि वह स्वयं अपनी समस्त आवश्यकताओं को पूर्ण कर ले। इसीलिए समाज में स्तरीकरण, श्रम विभाजन, श्रम का विशेषीकरण और अन्तर्निर्भरता, विभिन्न स्थितियाँ, भूमिकाएँ, अधिकारिता, नियंत्रणात्मक व्यवस्था आदि पाई जाती हैं। इसके माध्यम से सभी व्यक्ति परस्पर सहायता कर आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं और सुरक्षित रहते हैं।

(ब) **समाज में असहयोग और संघर्ष**–प्रत्येक समाज अपने सदस्यों में समानताएँ विकसित कर उनमें सहयोग की प्रवृत्ति को विकसित करने का प्रयास करता है। फिर भी कुछ व्यक्ति पूर्णत: सामाजिक नहीं बन पाते हैं। उनकी पाशविक प्रवृत्तियों जैसे स्वार्थ, लोभ, क्रोध, मोह, अहंकार, परिश्रम से जी चुराने की प्रवृत्ति आदि को भी समाज पूरी तरह नियंत्रित नहीं कर पाता है। ऐसे व्यक्ति सामाजिक हित की अपेक्षा व्यक्तिगत हित को अधिक महत्त्व देते हैं। यह स्थिति समाज के असहयोग या संघर्षों को जन्म देती है। इसके अतिरिक्त समाज में सदैव किसी न किसी मात्रा में ऐसी दशाएँ या कारक विद्यमान रहते हैं, जो समाज को परिवर्तित होने के लिए प्रेरित करते हैं। इससे परम्परावादी और परिवर्तनवादियों में असहयोग और संघर्ष उत्पन्न होता है। वैचारिक, चारित्रिक, नैतिक, आध्यात्मिक, राजनैतिक असमानताएँ भी असहयोग और संघर्ष के लिए उत्तरदायी होती हैं।

(स) **असहयोग और संघर्ष की अपेक्षा सहयोग की प्रधानता**–यह सत्य है कि संघर्ष से सर्वथा मुक्त किसी समाज की कल्पना करना निरर्थक है। परन्तु, यह भी सत्य है कि सभी समाज असहयोग और संघर्ष की दशाओं को न्यूनतम करने का प्रयास करते हैं। यदि ऐसा न हो तो असहयोग और संघर्ष इस चरम अवस्था तक पहुँच जायेंगे कि अन्तत: सम्पूर्ण मानव जाति और उसके साथ उसका समाज भी नष्ट हो जायेगा। अत: समाज में असहयोग की अपेक्षा सहयोग की मात्रा अधिक पाई जाती है।

5. **पारस्परिक जागरूकता**–समाज में सदस्यों के बीच, एक-दूसरे के अस्तित्व, आवश्यकताओं, सीमाओं, समानताओं और असमानताओं, सहयोग की अनिवार्यता, कार्य पद्धतियों और रीति रिवाजों, समूहों और संस्थाओं आदि के प्रति जागरूकता पाई जाती है।

6. **समाज मानवीय अन्तर्क्रियाओं का क्षेत्र है**–प्रत्येक व्यक्ति समाज में जन्म लेता है, जीवनयापन करता है और मृत्यु को प्राप्त होता है। इस प्रकार समाज में ही उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। वह शक्ति अर्जित करता है तथा उसका समाजीकरण होता है। उसकी स्थिति और भूमिका का निर्धारण भी होता है। इस प्रकार उसकी समस्त क्रियाएँ और अन्तर्क्रियाएँ समाज में ही सम्पादित होती हैं।

7. **समाज एक अखण्ड व्यवस्था नहीं है**–समाज यद्यपि सम्बन्धों की व्यवस्था है, परंतु इस संबंधों का विकास रीति-रिवाजों और कार्यविधियों, अधिकारिता और पारस्परिक सहयोग, अनेक समूहों और उपसमूहों, मानव व्यवहार के नियंत्रण की विधियों और उन्हें प्राप्त स्वाधीनताओं के द्वारा होता है। इस प्रकार यह सब मिलकर समाज को आकार प्रदान करते हैं।

8. **पारस्परिक निर्भरता**–कोई भी मनुष्य अन्य मनुष्यों से सर्वथा स्वतंत्र रहकर अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। वस्तुत: पारस्परिक निर्भरता के कारण ही व्यक्ति एक-दूसरे के संपर्क में आकर मिलजुल कर कार्य (क्रियाएँ) करते हैं, जिससे सम्बन्धों का विकास होता है। इस प्रकार समाज में मनुष्यों के बीच अन्योन्याश्रित प्रवृत्ति पाई जाती है।

9. **समाज एक जटिल व्यवस्था है**–समाज का स्वरूप सरल नहीं है। समाज का विकास किसी एक या कुछ सम्बन्धों के द्वारा नहीं होता है। इसमें मनुष्यों के सभी प्रकार के संबंध सम्मिलित रहते हैं। समाज में समानता के साथ असमानता तथा सहयोग के साथ असहयोग या संघर्ष

भी पाया जाता है। समाज स्वयं तो अमूर्त है, परंतु इसमें अनेक समूह और उपसमूह रहते हैं। इन सभी कारणों से समाज का स्वरूप सरल नहीं वरन् जटिल होता है।

10. **समाज परिवर्तनशील है**–समाज जड़ नहीं चेतन है। भौगोलिक दशाएँ, जनसंख्यात्मक कारक, प्रौद्योगिकी कारक, आर्थिक कारक, सांस्कृतिक कारक आदि में परिवर्तनों के कारण कोई भी समाज एक जैसी दशा में न रहकर परिवर्तित होता रहता है।

## 1.5 ग्रामीण जीवन (Rural Life)

ग्रामीण शब्द अंग्रेजी के Rural शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। **'ग्रामीण'** ग्राम शब्द से बना है। ग्रामीण का अर्थ है **ग्राम से संबंधित।** इसे साधारण बोलचाल की भाषा में गांव कहा जाता है। ग्रामीण जीवन को समझने के लिए गांव का उद्भव, विकास, ग्रामीण, संगठन और इसकी विशेषताओं को समझना आवश्यक है।

**ग्राम का अर्थ (Meaninig of Village)**–ग्राम शब्द का प्रयोग **ऋग्वेद, महाभारत, मनुस्मृति** तथा अन्य अनेक पुस्तकों में किया गया है। ग्राम शब्द का अर्थ सामाजिक संगठन की प्रथम इकाई से लगाया जाता है। कुछ लोगों के अनुसार ग्राम वह स्थान है जो प्राचीन कृषकों की स्थापना को दर्शाता है। ग्राम एक सहवासी समुदाय है। इसके सदस्यों का जीवन परस्पर संबंधित होता है। गांव का जीवन आत्मनिर्भर होता है और अपनी विशिष्टता के कारण यह दूसरे समुदायों से भिन्न रहता है। संक्षेप में, यह मानव जीवन का वह निवास है जहाँ सामुदायिक जीवन के सभी तत्व पाए जाते हैं। आजकल गांव या **'ग्राम'** शब्द जितना अधिक प्रचलित है और सामान्य रूप से जिसका अर्थ समझना जितना सरल मालूम होता है, तात्विक रूप से उसकी व्याख्या करना उतना ही कठिन है।

1. **डॉ. कौशल कुमार राय** ने कहा है, **"गाँव वह समुदाय है जो अपेक्षाकृत समरसता, अनौपचारिक, प्राथमिक समूहों की प्रधानता, जनसंख्या के कम घनत्व और मुख्य व्यवसाय के रूप में कृषि की विशेषताओं से युक्त होता है।"**
2. एक विद्वान के अनुसार, **"ग्रामीण समुदाय व्यक्तियों के एक समूह को कहते हैं जो एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में रहता हो और जिसके सदस्यों में सामुदायिक भावना तथा सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक सम्बन्ध विकसित हो चुके हों और जो उनको अन्य समुदायों से भिन्न बताते हों।"**

### *ग्रामीण समुदाय की विशेषताएँ (Characteristics of Village Community)*

ग्रामीण समुदाय की परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि ग्रामीण समुदाय इसलिए कहलाता है कि उस समुदाय में रहने वाले लोगों में कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं जो अन्य समुदायों में नहीं पायी जाती हैं। भारतीय ग्रामीण जीवन की प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित हैं–

1. **ग्रामीण समुदाय का आधार परिवार होता है**–गांवों में परिवार का अधिक महत्त्व है। भारतीय ग्रामीण समुदाय में व्यक्ति को प्रधानता नहीं दी जाती बल्कि समाज में उसके परिवार के अनुसार ही उसकी प्रतिष्ठा होती है। समुदाय का अधिकतर भार परिवार पर ही होता है, व्यक्ति पर कम। किसी भी कार्य में साधारणतया परिवार का नाम पहले आता है व्यक्ति का बाद में। इसी प्रकार सामाजिक, धार्मिक उत्सव, विवाह आदि में सामान्य रूप से पूरे परिवार को आमन्त्रित किया जाता है, किसी व्यक्ति विशेष को नहीं। समुदाय का महत्त्वपूर्ण अंग होने के कारण ही परिवार अपने सदस्यों के व्यवहारों को निश्चित एवं निर्धारित करता है। इस प्रकार राजनैतिक मामलों में भी परिवार के सदस्यों में अधिकतर एकरूपता पायी जाती है।
2. **परिवार-प्रणाली सामूहिक होती है**–भारत में दीर्घकाल से चली आने वाली सामूहिक परिवार-प्रणाली के वास्तविक स्वरूप का दिग्दर्शन ग्राम-समुदायों में ही होता है। इस प्रकार के परिवार भारत के गांवों में ही अधिक हैं जिनमें सामूहिक संगठन के आधार पर उनके

सम्बन्धियों की एक व्यवस्था होती है जिसमें सबकी सम्पत्ति एक साथ मिली-जुली होती है, सब एक साथ रहते हैं एवं अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का सामूहिक रूप से पालन करते हैं। सामान्य रूप से ऐसे परिवारों को ही सामूहिक या संयुक्त परिवार कहते हैं।

नोट

3. **सामाजिक व्यवस्था जाति-प्रथा के आधार पर**—ग्रामीण समुदाय जाति-प्रथा के आधार पर कई भागों में विभक्त होता है। प्रमुख जातियाँ हैं—**ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र**। प्रत्येक जाति के सदस्यों के लिए अलग-अलग स्थान, पद और कार्य भी निश्चित होते हैं और वे उन्हें करते हैं। परिणामस्वरूप व्यक्ति और परिवार सभी अपने को अपनी जाति के प्रति अधिक उत्तरदायी समझते हैं। इस प्रकार दोनों को ही अपने कर्त्तव्यों का बोध रहता है और सभी अपने-अपने पद और कार्यों का दृढ़तापूर्वक पालन करते हैं। जाति के नियमों के विरुद्ध कार्य करने पर उन्हें दण्डित किया जाता है और कभी-कभी जाति से निकाल दिया जाता है।

4. **सामुदायिक भावना**—ग्रामीण समाज में प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकतायें एक-दूसरे की सहायता से ही पूरी होती हैं। गांव के विभिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार की योग्यताओं से युक्त होते हैं और काम पड़ने पर सब एक-दूसरे की सहायता करते हैं। इस प्रकार गांव वाले आपस में ही अपनी जरूरतें पूरी कर लेते हैं और उनमें एकता की भावना बनी रहती है एवं एक-दूसरे के प्रति सहयोग एवं प्रेम का भाव रहता है। इसलिए एक गांव एक समुदाय है, क्योंकि उसके सदस्यों में सामुदायिक भावना पाई जाती है।

5. **यजमानी प्रथा**—इस प्रथा के अनुसार प्रत्येक जाति के अपने-अपने "यजमान" होते हैं जिनको वे कुछ विशिष्ट सेवा प्रदान करते हैं। जिन लोगों की सेवाएँ की जाती हैं, वे "यजमान" कहलाते हैं और जो सेवा करता है वे परजन या प्रजा कहे जाते हैं। जैसे, एक नाई अपने यजमानों की हजामत बनाता है, कहार पानी भरता है, धोबी कपड़े धोता है। इस प्रकार नाई, धोबी, ब्राह्मण आदि का सम्बन्ध कुछ निश्चित परिवारों से होता है जिन्हें वे अपनी सेवाएँ पुश्तों से प्रदान करते होते हैं। यजमानी व्यवस्था का कार्य पिता से पुत्र को ठीक उसी प्रकार प्राप्त होता है जैसे पिता की सभी सम्पत्ति पुत्र को प्राप्त होती है।

6. **धर्म और लोकोत्तर शक्ति में विश्वास**—गांवों में अधिकांश लोग खेती का ही काम करते हैं। कभी-कभी अत्यधिक वर्षा या अत्यधिक सूखे के कारण खेती नष्ट हो जाती है और किसान का उसमें कुछ वश नहीं चलता। अतः वह प्राकृतिक शक्तियों से डरने लगता है और उसकी उपासना करने लगता है। इस प्रकार ग्रामवासी ईश्वरीय एवं दैवी शक्तियों में अन्धविश्वास करने लगते हैं।

7. **अकेलापन**—पाश्चात्य देशों के गांवों की अपेक्षा भारतीय ग्रामीण जीवन अधिक अकेला और पृथक् है। इसका सम्पर्क बाहरी दुनिया में बहुत कम है। इस देश के ग्रामवासियों का संबंध आस-पास के दो चार गांवों या एक-आध शहर तक ही सीमित रहता है।

8. **खेती ही मुख्य व्यवसाय**—सन् 1971 की जनगणना के अनुसार कुल जनसंख्या के 70 प्रतिशत व्यक्ति अपनी जीविका के लिए प्रत्यक्ष रूप से कृषि पर आश्रित हैं। यदि पूर्णरूपेण कृषि पर निर्भर लोगों की संख्या के आधार पर विवेचना करें तो भी हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कृषि भारत का सबसे महत्त्वपूर्ण व्यवसाय है।

9. **परिवार-उत्पादन की इकाई के रूप में**—ग्रामीण जनता का मुख्य कार्य खेती करना है। इसका यह अर्थ नहीं कि ग्रामीण जनता दूसरा कार्य करती ही नहीं। गाँव में अन्य कार्य एवं छोटे-छोटे उद्योग भी होते हैं। जैसे, मछली मारना, चिड़िया पकड़ना, लोहारी और सोनारी के कार्य करना एवं फल उत्पादन उद्योग, चर्म उद्योग, तेल, गुड़, मधु उद्योग, धान की कुटाई आदि कार्य भी होते हैं किन्तु इनका स्थान गौण है। इन सब कार्यों को घर के प्रायः सभी लोग आपस में मिलकर करते हैं और यदि मजदूरों की आवश्यकता होती है तो मजदूरों के साथ मालिक और मजदूर का सम्बन्ध नहीं रहता बल्कि वे सभी मजदूरों के साथ मिलकर कार्य करते हैं।

नोट

10. **पड़ोस का महत्त्व**–गाँवों की आबादी इतनी घनी नहीं होती कि एक व्यक्ति दूसरों से सम्पर्क ही स्थापित न कर सकें। जीवन में संघर्ष की स्थिति में उन्हें अपनी सुरक्षा एवं अपनी कठिनाइयों को दूर करने के लिए दूसरों की सहायता लेनी पड़ती है। अतएव गाँवों में पड़ोस का विशेष महत्त्व होता है। विशेष अवसरों पर अड़ोस-पड़ोस के लोगों की सहायता से बड़े-बड़े कार्य सम्पादित किये जाते हैं।

11. **श्रम के विशेषीकरण का अभाव**–गाँव के सभी लोग खेती-बारी से सम्बन्धित होते हैं। इसलिए एक किसान को खेती से सम्बन्धित समस्त बातों को जानना आवश्यक होता है। जैसे हल की मरम्मत, रस्सी बनाना, कुएँ खोदना, साग-सब्जी इत्यादि उगाना। किन्तु सभी कृषक सभी बातों के विशेषज्ञ नहीं हो पाते। यही स्थिति गाँवों में स्त्रियों की भी होती है। उन्हें सभी प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं। नगरों में विभिन्न कार्यों के विशेषज्ञ अधिक संख्या में पाये जाते हैं। गाँवों में इसकी संख्या बहुत ही कम होती है।

12. **सरल एवं सादा जीवन**–गाँव के लोग प्रायः गरीब होते हैं, क्योंकि दिन भर के परिश्रम के बाद भी उन्हें इतना धन नहीं प्राप्त होता कि वह अपना एवं अपने परिवार का पालन कर सकें और उनकी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। वे आराम या विलासिता की कल्पना भी नहीं कर सकते। उन्हें तो खाने को मोटा अनाज एवं पहनने को मोटा वस्त्र मिल जाना ही बहुत है। अतः उनका जीवन सरल एवं सादा होता है।

13. **सामाजिक जीवन में एकरसता**–ग्रामीण जीवन में अधिकांशतः एकरूपता पायी जाती है। किसानों को सामान्य रूप में बँधे-बँधाए कार्य करने होते हैं। उनकी दिनचर्या एक-सी होती है। कुछ विशेष अवसरों को छोड़कर उनका दैनिक-जीवन प्रति-दिन एक जैसा होता है।

14. **जनमत का अधिक महत्त्व**–गाँवों की जनसंख्या कम होती है अतः उनमें विभिन्नता कम एवं एकरूपता अधिक पाई जाती है। इस कारण व्यक्ति आपस में एक-दूसरे को व्यक्तिगत रूप से पहचानते हैं और वे आपस में चाचा, दादा, भैया आदि के संबंध में (चाहे वास्तविक संबंध न हो) एक-दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं और उनके अभिमत को प्रधानता देते हैं। सामान्य रूप से उनके विचारों की अवहेलना भी ग्रामीण जनता नहीं करती है। अतः गाँव में जनमत की प्रधानता रहती है।

15. **परम्परा और धर्म का अधिक महत्त्व**–भारत के अधिकांश व्यक्ति, धर्म, परम्परा एवं प्रथा आदि में विश्वास रखते हैं। गाँवों में शिक्षा के साधनों की कमी होने के कारण गाँव की जनता अशिक्षित या अल्पशिक्षित है जिसके कारण बाहरी दुनिया से उसका सम्बन्ध नहीं हो पाता, न किसी विस्तृत दृष्टिकोण का जन्म हो पाता है। गाँव के लोग नई वस्तुओं में विश्वास नहीं करते हैं और अपनी परम्परा को ही आदेश मान लेते हैं। ग्रामीण जीवन रूढ़िवादी होता है। यही कारण है कि गाँव का धर्म पर अधिक विश्वास होता है।

16. **अधिक स्थायी और शान्तिपूर्ण पारिवारिक जीवन**–गाँवों में परम्परा, धर्म और जनमत के साथ नैतिक आदर्शों की कठोरता के कारण रोमांस का अभाव होता है। गाँवों में विवाह को सामाजिक या पारिवारिक कर्त्तव्य माना जाता है। हिन्दू लोग तो विवाह को एक धार्मिक संस्कार मानकर पालन करते हैं। गाँवों में रोमांस न होने के कारण विवाह सम्बन्ध स्थायी होते हैं। ग्रामीण परिवारों में पति-पत्नी, माता-पिता, भाई-बहन आदि का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। अतः ग्रामीण पारिवारिक जीवन अधिक स्थायी और शांतिपूर्ण होता है।

17. **अशिक्षा, भाग्यवादिता और निम्न जीवन-स्तर**–भारतीय ग्रामों में शिक्षा का नितान्त अभाव है। इस कारण ग्रामीण जनता अन्धविश्वासों और कुसंस्कारों में दबी रहती है। ग्रामीण जनता भाग्य पर अधिक भरोसा करती है। अतः भाग्य पर भरोसा करके बैठे रहने के कारण उनका जीवन स्तर भी बहुत निम्न है। आज भी भारतीय गाँवों में शिक्षा 14 प्रतिशत से लेकर 28 प्रतिशत तक ही है।

नोट

18. **स्त्रियों की गिरी हुई दशा**—भारतीय ग्रामीण समुदायों में स्त्रियों की अवस्था अत्यन्त दयनीय है जिनके लिए गाँव की समस्त सामाजिक रचना, आदर्श तथा संस्थाएँ उत्तरदायी हैं। ग्रामीण स्त्रियों में शिक्षा न के बराबर होती है। बालविवाह, पर्दा प्रथा, आर्थिक रूप में परिवार पर पूर्ण रूप से निर्भर रहना, विवाह-विच्छेद का अधिकार न होना अनेक ऐसी परिस्थितियाँ हैं जिनके कारण स्त्रियों की दशा अत्यन्त हीन एवं दीन है। स्त्रियाँ समाज की आधारशिलाएँ हैं, जिनके ऊपर स्वस्थ समाज के निर्माण का गुरुतर भार है। अतः स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में ग्रामीण समुदाय बहुत पिछड़ा हुआ है। जिसका फल यह है कि आज भी ग्रामीण क्षेत्र में बालकों का समुचित विकास नहीं हो पाता है।

## 1.6 नगरीय जीवन (Urban Life)

नगरीकरण एव सर्वव्यापी प्रक्रिया है और इसका आशय आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन से है। एक मत के अनुसार नगरीकरण का अभिप्राय परम्परागत सामाजिक संस्थाओं और मूल्यों के भंग या बिगाड़ होने से है। नगरीकरण के परिणामस्वरूप भारत में जाति-प्रथा वर्ग व्यवस्था में, संयुक्त परिवार एकाकी परिवार में और धार्मिक मूल्य निरपेक्ष मूल्यों में परिवर्तित हुए हैं। एम.एम.ए. राव का मत है कि बिगाड़ की परिकल्पना की उत्पत्ति पश्चिमी संसार के अनुभव से हुई हैं और इसलिए भारत में परंपरागत नगरीकरण के तथ्यों को दृष्टिगत किया जाता है। यह भी सही है कि आधुनिक परम्परा नगरीकरण से भिन्न है।

नगरों के अध्ययनों को राव ने तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया है-(1) संस्थागत उपागमों से सम्बन्धित अध्ययन, (2) सभ्यताओं के इतिहास के सामान्य सन्दर्भों में शहरों और उनके विकास का अध्ययन और (3) दीर्घ परम्परा के सामाजिक संगठन के संदर्भ में शहरों की संस्कृति एवं भूमिका के विषय में व्याख्या करने वाले अध्ययन। प्रथम अभिमत के अनुसार हम आर्थिक संस्थाओं उदाहरणार्थ, मध्यम वर्ग और व्यापारिक संगठन का प्रादुर्भाव और धर्म की भूमिका का उल्लेख कर सकते हैं। **पिरेन्ने** के अनुसार, व्यापार और लेन-देन व्यवस्था मध्यम वर्ग और समूह शहरों में पाये जाते हैं। **कुलांगे** ने प्राचीन नगरों की तुलना धार्मिक समुदायों से की है। मैक्स वेबर ने सामाजिक क्रिया और स्वायत्त नगरीय सरकार पर जोर दिया। इस प्रकार संस्थात्मक उपागमों के समर्थकों ने शहरों के विकास की विशिष्ट अवस्थाओं और कारणों को विभिन्न सन्दर्भों में देखा।

### *नगरीय जीवन के विकास के कारक*

नगरों की उत्पत्ति में योग देने वाले निम्नलिखित कारक हैं-

1. **खाद्य सामग्रियों का आधिक्य ही मूल कारण (Surplus of food stuffs as fundamental factor)**—यह मानी हुई बात है कि जब तक गाँव में खाद्य-सामग्रियों का आधिक्य न होगा तब तक नगर की उत्पत्ति न सम्भव थी और न कभी होगी। न तो नगर के रहने वाले खेती करते हैं और न ही पेट पर पट्टी बाँध कर रहते हैं। नगर निवासियों के खाने-पीने का सामान गांव से ही तो आता है। इस कारण जब तक गाँवों में केवल उतना ही उत्पादन होगा, जितनी उन्हें आवश्यकता होती है तब तक नगर का जन्म असम्भव है। खाद्य सामग्रियों का आधिक्य होने पर ही शहर सम्भव होता है। यह सच कहा गया है कि जो कोई भी गेहूँ के दो दानों को उगा सकता है, जहाँ पहले एक उगता था, उसने नगरों के विकास में अंशदान किया है। प्राचीन काल में यह आधिक्य जबरदस्ती काम (Forced labour) लेकर, गुलाम प्रथा और राजाओं द्वारा कर (tax) आदि के रूप में प्राप्त किया जाता था; पर धीरे-धीरे कृषि-कला में उन्नति होने से उत्पादन में वृद्धि होती गई। कृषि में आधुनिक क्रान्ति ने तो कुछ लोगों के द्वारा ही सबकी सामग्री सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करना सम्भव कर दिया है।
2. **आवागमन के साधनों का आविष्कार (Invention of the means of transport)**—केवल खाद्य-सामग्रियों का आधिक्य ही नगर की उत्पत्ति में पर्याप्त न था जब तक उन सामग्रियों को नगर तक लाने के साधन भी न हों। इस कारण नगर की उत्पत्ति तब हुई जब आवागमन के

नोट

साधनों का आविष्कार हुआ। इसलिये पहिए और नावों का आविष्कार और पशुओं द्वारा माल ले जाने के ज्ञान ने नगरों की उत्पत्ति में बहुत बड़ा योगदान दिया। बैलगाड़ी, नाव और पशु के द्वारा ही गांव से अन्न नगर को जाता था।

3. **अनुकूल भौगोलिक अवस्था (Favourable geographic conditions)**—नगरों की उत्पत्ति उन स्थानों में होना स्वाभाविक था, जहाँ भौगोलिक अवस्थायें सुविधाजनक हैं जैसे बहुत ज्यादा गर्मी या सर्दी न पड़ती हो या जंगल, पहाड़ या रेगिस्तान न हो इत्यादि। संक्षेप में, जहाँ लोग सरलता और आराम से रह सकें और उन्हें गाँव से आसानी से खाद्य सामग्री प्राप्त हो सके। यही कारण है कि संसार के प्रारम्भिक नगर नील (Nile), टिग्रिस (Tigris), युफ्रेटस (Euuphrates) और सिन्धु (Indus) की घाटियों में उत्पन्न हुए।

4. **सामाजिक संगठन का एक स्वरूप (A form of social organization)**—श्री डेविस (Davis) के अनुसार केवल खाद्य-सामग्रियों के आधिक्य या केवल जनसंख्या के बढ़ जाने से ही नगर की उत्पत्ति नहीं होती है, और न ही हुई है। इसके साथ सामाजिक संगठन का एक स्वरूप भी होना चाहिए, जिसकी प्रमुख विशेषता यह होगी कि समाज में ऐसे स्तर के लोग जैसे लिपिक वर्ग और सरकारी अधिकारी, कारीगर इत्यादि भी होंगे जिनका खेती-बारी से कोई सम्पर्क न होने के कारण वे नगर में रह सकेंगे और प्रभुता के कारण खाद्य-सामग्री को प्राप्त कर सकेंगे। यह तब ही सम्भव है, जब कुछ लोगों के द्वारा ही ज्यादा से ज्यादा लोगों के लिए खाद्य-सामग्री उत्पन्न की जा सकेगी और इस प्रकार कुछ लोगों को खेती-बारी से अवकाश मिल जायेगा और वे कृषि से सम्बन्धित न होकर ऐसे कार्य करने के लिए नगर में जाकर बस सकेंगे। इस प्रकार "कृषि नगर को सम्भावित बनाती है, परन्तु स्वयं संस्कृति-विशेषकर सामाजिक संगठन के रूप में-उसे सत्यता का रूप देती है और वास्तव में उत्पन्न करती है।"

5. **सैनिक शिविर की स्थापना (Establishment of army camps)**—शक्ति के आधार पर नगरों का जन्म सैनिक शिविर की स्थापना के बाद हुआ है। युद्ध में हरा कर विजयी वर्ग ने हारे हुए लोगों पर अपना अधिकार जमा लिया और गांव से कुछ दूर अपना शिविर स्थापित करके बस गये जो कि धीरे-धीरे एक नगर के रूप में विकसित हुआ। श्री बरगेल (Bergel) के शब्दों में, "संक्षेप में, यह माना जाता है कि सर्वप्रथम नगर पराजित जनसंख्या के क्षेत्र में स्थापित स्थायी सैनिक शिविर थे।"

6. **नगरों का आकर्षण (Attraction of the cities)**—नगरों का आकर्षण ही उनकी उत्पत्ति का कारण बन जाता है। व्यापार और शिक्षा की सुविधा नगर के प्रमुख आकर्षण हैं। पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) का विकास नगर के रूप में नालन्दा विश्वविद्यालय के कारण हुआ था। ढाका की उत्पत्ति में व्यापार का सबसे बड़ा हाथ था। ग्रीस और रोम के नगरों का जन्म भी उद्योग और व्यापार को आधार मानकर ही हुआ था।

### *नगरों का विकास (Development of the Cities)*

उपरोक्त छः कारणों से तो नगरों की उत्पत्ति हुई; परन्तु उत्पत्ति के बाद इनके विकास में अन्य अनेक कारणों ने योग दिया, जो निम्नलिखित हैं—

**(अ) नगरीय कारक (Urban Factor)**

1. आर्थिक कारक
   - (अ) यातायात सन्देशवाहन के साधनों में उन्नति,
   - (ब) अनुकूल भौगोलिक स्थिति।
   - (स) उद्योग, व्यापार और वाणिज्य में उन्नति।
   - (द) जीवन का उच्च स्तर।

2. राजनैतिक कारक
   (अ) राजधानी की स्थापना, (ब) सैनिक छावनी,
   (स) सुरक्षा।
3. धार्मिक कारक
4. सामाजिक कारक
   (अ) मनोरंजन, (ब) शिक्षा की सुविधायें,
   (स) सामाजिक प्रतिष्ठा और पद।
5. मनोवैज्ञानिक कारक

**(ब) ग्रामीण कारक (Rural Factors)**

1. भारतवर्ष में
   (अ) भूमि का दबाव, (ब) ग्रामीण उद्योगों का ह्रास
   (स) खेतों का छोटा और छिटका होना।
2. पाश्चात्य देशों में
   (अ) कृषि कला में उन्नति, (ब) कृषि में मशीनों का प्रयोग
   (स) चकबन्दी और बड़े पैमाने में खेती

**उपरोक्त कारकों** की संक्षिप्त विवेचना निम्नवत् है–

**(अ) नगरीय कारक (Urban Factors)**

**(1) आर्थिक कारक (Economic Factors)**

**(क) यातायात और संदेशवाहन के साधनों में उन्नति (Development of the means of transport and communications)**–नगरों के विकास में यातायात और संदेशवाहन के साधनों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। नगरों के प्रमुख आधार उद्योग और व्यापार हैं और ये बिना आवागमन और संदेशवाहन के उन्नत साधनों के नहीं हो सकते। उत्पादन के स्थानों तक कच्चे माल को लाने और वहाँ से बने हुए सामानों को विभिन्न बाजारों तक पहुँचाने के लिए आवागमन के साधन परमावश्यक हैं। कलकत्ता, मुम्बई, कानपुर इस सम्बन्ध में अच्छे उदाहरण हैं।

**(ख) अनुकूल भौगोलिक स्थिति (Favourable geographical location)**–उद्योग व व्यापार की उन्नति, जिस पर नगरों का विकास प्रत्यक्ष रूप से आधारित है, बहुत कुछ अनुकूल भौगोलिक स्थिति पर निर्भर होती है। निकट ही कच्चे माल का मिलना, जलवायु का अनुकूल होना आदि नगरों के विकास में प्रमुख सहायक हैं। जमशेदपुर या टाटा नगर, रानीगंज, झरिया आदि के उत्तरोत्तर विकास के मुख्य कारण उनकी अनुकूल भौगोलिक स्थिति है।

**(ग) उद्योग व्यापार और वाणिज्य (Industry, Trade and Commerce)**–उद्योग, व्यापार और वाणिज्य की उन्नति के साथ नगर का विकास प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा हुआ है। एक नये उद्योग के प्रारम्भ होने से ही उसका प्रभाव व्यापार और वाणिज्य में भी पड़ता है और उन्हें चलाने के लिए ज्यादा व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। उन व्यक्तियों के आ जाने से नगर की जनसंख्या बढ़ती है और उस बढ़ती जनसंख्या के लिए मकान, खाने-पीने और पहनने के सामान तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ आवश्यक होती हैं। संक्षेप में, नागरिक जीवन की प्रत्येक दिशा में विचार होने लगता है अर्थात् नगर का विकास होता है। कलकत्ता, मुम्बई, कानपुर इसके उत्तम उदाहरण हैं।

नोट

(घ) **उच्च जीवन स्तर (High standard of living)**—नगर के विकास में वहाँ का उच्च जीवन स्तर एक बहुत बड़ा आकर्षण है। धन उपार्जन के जो विविध तरीके और साधन नगर में होते हैं वे गांव में नहीं। इनसे आकर्षित होकर भी गाँव के लोग गांव छोड़कर नगर में आकर बस जाते हैं। दूसरे शब्दों में, नगर के विभिन्न प्रकार के पेशे और नौकरी, व्यापार और वाणिज्य करने की सुविधायें लोगों को गांव से ही नहीं, देश के और दुनिया के कोने-कोने से खींच लाती हैं। फलतः नगर का विकास होता है।

**(2) राजनैतिक कारक (Political Factors)**

(क) **राजधानी की स्थापना (Establishment of kingdom)**—राजधानी होने से नगर का महत्त्व आप-से-आप ही बढ़ जाता है। राज-कार्य से सम्बन्धित अनेक व्यक्तियों को आकर वहाँ बसना पड़ा है। राज्य के अधिकारीगण, लोक सभा के सदस्य, सेना के सैनिक इत्यादि का एकत्रीकरण होता है, जनसंख्या बढ़ती है और बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यापार और अन्य सेवा कार्यों का विकास होना आवश्यक हो जाता है। इन सबका एक ही परिणाम होता है और वह है नगर का दिन-प्रति-दिन विकास। दिल्ली इसका प्रमुख उदाहरण है।

(ख) **सैनिक छावनी (Military camps)**—उसी प्रकार जिस स्थान में सैनिकों की छावनी स्थापित हो जाती है उस नगर का भी विकास आप से आप ही होता है। सैनिकों के साथ उनके परिवार भी आते हैं और उनसे सम्बन्धित विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उद्योग-धन्धे, व्यापार और वाणिज्य भी बढ़ता है और इस प्रकार नगर का विकास होता है। मेरठ, कानपुर, बरेली, सिकन्दराबाद, कलकत्ता, दिल्ली इसके उत्तम उदाहरण हैं।

(ग) **सुरक्षा (Security)**—नगरों में जान-माल की सुरक्षा सम्बन्धी अनेक सुविधायें प्राप्त होती हैं जो स्वयं ही एक आकर्षण बन जाती हैं। नगर की पुलिस और सैनिक संगठन, अदालत इत्यादि लोगों में सुरक्षा की भावना उत्पन्न करते हैं जो अनेक व्यक्तियों को गाँव से नगर में खींच लाने में समर्थ हैं।

**(3) धार्मिक कारक (Religious Factors)**

बहुधा नगरों का विकास धार्मिक आधारों पर भी होता है, विशेषकर उन देशों में जहाँ धर्म का अत्यधिक महत्त्व है। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष को ही लीजिये। यहाँ अनेक तीर्थ स्थानों का नगर के रूप में विकास धार्मिक आधारों पर ही हो रहा है। प्रयाग, हरिद्वार, बनारस, गया, पुरी इत्यादि नगरों के विकास में धार्मिक कारण ही प्रमुख है। तीर्थ-यात्रियों के सुख व सुविधाओं के प्रबन्ध के लिए विशाल जनसंख्या का होना नितान्त आवश्यक होता है और नगर का विकास भी इसी से होता है।

**(4) सामाजिक कारक (Social Factor)**

(क) **मनोरंजन (Recreation)**—नगरों के विविध मनोरंजन के साधन अनेक व्यक्तियों के लिए प्रमुख आकर्षण होते हैं। सिनेमा, नाटक, क्लब, संगीत-सभायें आदि नागरिक जीवन को दिन पर दिन और भी मनोरंजक बना रहे हैं और साथ ही इनसे सम्बन्धित विविध उद्योग धन्धे, व्यापार और वाणिज्य भी बढ़ते रहते हैं। केवल सिनेमा में करोड़ों रुपये का व्यापार होता है। इनको करने के लिए जो लोग नगर में आकर बस जाते हैं। उनसे जनसंख्या बढ़ती है और उसी के साथ नगर का विकास भी।

(ख) **शिक्षा की सुविधायें (Educational facilities)**—शिक्षा की सुविधायें नगर के विकास के प्रमुख आधार हैं। स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय, मेडिकल कॉलेज, इन्जीनियरिंग संस्थायें तथा अन्य उच्च कोटि की शिक्षण संस्थायें नगरों में ही पायी जाती हैं। विविध दशाओं में अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए प्रत्येक व्यक्ति को

नोट

इन सुविधाओं को प्राप्त करने के लिए नगर पर ही निर्भर रहना पड़ता है और अनेक व्यक्ति गाँव से नगर में आकर इसीलिए बस जाते हैं। साथ ही, इन शिक्षा संस्थाओं से सम्बन्धित शिक्षक-वर्ग और उनके परिवार को भी रहना होता है और इन सबकी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए व्यापारी इत्यादि को भी। फलतः नगर का विकास आप से आप होता है। अलीगढ़, रुड़की इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

(ग) **सामाजिक प्रतिष्ठा और पद (Social prestige and status)**—नगर व्यक्तियों को बड़ी से बड़ी सामाजिक प्रतिष्ठा और पद प्रदान करता है। नगर ही व्यक्ति को डॉक्टर, वकील, बैरिस्टर, जज, जिलाधीश, इन्जीनियर, मन्त्री और प्रधानमन्त्री पद प्रदान करता है और उसी के अनुसार व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा को भी बढ़ाता है। इसी को दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि नगर व्यक्ति के व्यक्तित्व को पूर्णतम सुविधायें प्रदान करके उसकी योग्यतानुसार उसे पद प्रदान करता है और प्रतिष्ठा के क्षेत्र को विस्तृत करता है।

**(5) मनोवैज्ञानिक कारक (Psychological Factor)**

नगरों के विकास में मनोवैज्ञानिक कारक का भी प्रमुख हाथ होता है। ऐसे अनेक लोग होते हैं जिनका मानसिक स्तर नगर के पर्यावरण के अनुकूल होता है। वे नगर के गतिमय और साहसिक जीवन में अपने जीवन की प्रेरणाओं को खोज पाते हैं कारण अनेक व्यक्ति जिनकी आशायें ऊँची हैं और जो अपने व्यक्तित्व को पूर्ण विकसित करने की लालसा रखते हैं, गाँव छोड़कर नगरों में आकर बस जाते हैं और नगर के विकास में सहायक होते हैं।

**(ब) ग्रामीण कारक (Rural Factor)**

**(1) भारत में (In India)**

(क) **भूमि पर दबाव (Pressure on soil)**—भारतवर्ष के गाँवों की आबादी जिस गति से बढ़ी और साथ ही साथ ग्रामीण उद्योगों का विकास जिस तेजी से हुआ उससे गाँव के लोगों के लिए खेती करने के अतिरिक्त कोई चारा न रह गया। इससे भूमि पर दबाव बढ़ा और जब भूमि से उनका पेट पालना कष्टकर हो गया तो वे गाँव छोड़कर जीविका पालन हेतु बड़ी संख्या में शहर में जाकर बसने लगे और नगरों के विकास में योगदान दिया।

(ख) **ग्रामीण उद्योगों का ह्रास (Decline of village industries)**—ग्रामीण उद्योगों का पतन अंग्रेजों के आने के बाद तीव्र गति से प्रारम्भ हुआ। मैनेचेस्टर और लंकाशायर व अन्य नगरों के बड़े पैमाने के उद्योग के सामने गाँव के छोटे उद्योगों में लगे श्रमिक या कारीगर बेकार हो गये और नौकरी की खोज में नगर में जा बसे।

(ग) **खेतों का छोटा और छिटका होना (Sub-division and fragmentation of holdings)**—ग्रामीण उद्योग के ह्रास, उत्तराधिकार के नियम, संयुक्त परिवार के टूटने और व्यक्तिवादिता के कारण प्रत्येक व्यक्ति अपने हिस्से की जमीन का पृथक अधिकार चाहने लगा जिससे बड़े-बड़े खेत बँट कर छोटे ही नहीं बल्कि दूर-दूर छिटक भी गये, यहाँ तक कि वे खेती के भी योग्य न रहे और बहुत से परिवारों के लिए जीविका निर्वाह करना कठिन हो गया। फलतः अनेक परिवार गाँव छोड़कर नगर की ओर आये।

**(2) पाश्चात्य देशों में (In western countries)**

(क) **कृषि कला में उन्नति (Improved art of agriculture)**—नगर के विकास में ग्रामीण कारकों का स्वरूप पाश्चात्य देशों में भारतवर्ष से बिल्कुल विपरीत है। वहाँ का स्वरूप स्वस्थ और लाभकारी है। विज्ञान की उन्नति के साथ ही उन देशों में कृषि कला में क्रान्तिकारी प्रगति हुई जिसके कारण कृषि-उत्पादन में आशातीत उन्नति

हो गयी और अब अधिक से अधिक लोग गाँव छोड़कर शहर में आकर बस सकते थे। नगर के विकास में इसका महत्त्वपूर्ण योग रहा।

(ख) **कृषि में मशीनों का प्रयोग (Use of machines in agriculture)**—कृषि के उत्पादन को बढ़ाने में सबसे महत्वपूर्ण योग मशीनों का था। कृषि सम्बन्धी समस्त कार्यों में मशीनों का प्रयोग बढ़ता गया। इसके फलस्वरूप एक ओर समय की बचत हुई और दूसरी ओर खेती से अवकाश मिल गया और वे नगर में जाकर अन्य कार्यों में लग गये।

(ग) **चकबन्दी और बड़े पैमाने में खेती (Consolidation of holding and large scale farming)**—खेती के उत्पादन में आश्चर्यजनक उन्नति केवल मशीनों के प्रयोग से ही नहीं बल्कि चकबन्दी, सहकारी और बड़े पैमाने में खेती के कारण भी हुई और इससे बड़े-बड़े ट्रैक्टर इत्यादि का उपयोग भी आसान हो गया और थोड़े व्यक्तियों की आवश्यकता होने लगी।

इन सब कारकों ने मिलकर ही नगरों के विकास में हाथ बँटाया और उनको पूर्णता प्रदान करने में सहायक सिद्ध हुए।

## 1.7 ग्रामीण एवं नगरीय जीवन की तुलना (Comparision of Rural and Urban Life)

'नगरीय' शब्द अंग्रेजी शब्द Urban का हिन्दी रूपान्तर है। नगरीय शब्द 'नगर' से बना है जिसका अर्थ होता है—**नगर से सम्बन्धित**। नगर की पूर्ण व्याख्या असंभव तो नहीं है किन्तु कठिन अवश्य है। इसका कारण यह है कि ग्राम और नगर के बीच **स्पष्ट अन्तर रेखा** खींचना सम्भव नहीं है। साथ ही नगर और ग्राम की विशेषताएँ परस्पर अन्त:सम्बन्धित हैं। संक्षेप में, **नगर वह स्थान है जहाँ लोग कृषि के अतिरिक्त अनेक व्यवसायों में भी व्यस्त हों।** नगर वह सम्पूर्ण समाज है जहाँ पर जनसंख्या अधिक होती है, वहाँ सामुदायिक भावना जैसी चीज का अभाव होता है। विभिन्न विद्वानों ने नगर की भिन्न-भिन्न व्याख्या की है। किन्तु अधिकांश समाजशास्त्रियों ने स्वीकार किया है कि व्यवसाय, पर्यावरण, जनसंख्या, गतिशीलता अन्त:क्रिया, विभेदीकरण और विषमता नगर की प्रमुख विशेषताएँ हैं। अत: निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि नगर वह समुदाय है जहाँ आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक विषमता, जनसंख्या का अधिक घनत्व, नियन्त्रण के औपचारिक साधन, दिखावा, व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धा, संघर्ष तथा विभेदीकरण आदि गुण विशिष्ट रूप में पाये जाते हैं।

निम्नलिखित कारकों के आधार पर ग्रामीण और नगरीय जीवन में तुलना करने का प्रयत्न किया जायेगा—

1. **जनसंख्या का आधार**—ग्रामीणजन में कृषक, मजदूर और कारीगर होते हैं। यही रूप हमें विश्व के सभी ग्रामीण क्षेत्रों में मिलेगा। यहाँ सम्पूर्ण जनता का एक-सा जीवन होता है। ग्रामीण जनसंख्या का घनत्व अधिक नहीं होता है। इसका आकार छोटा होता है। निवास व्यवस्था समान होती है। स्वच्छता एवं स्वास्थ्य की दृष्टि की आदत एक-सी होती है। ग्रामीण लोग एकान्तप्रिय होते हैं। इसके विपरीत, शहरों में थोड़ी-सी ही भूमि में कारखाने रहते हैं जिनमें हजारों की संख्या में श्रमिक काम करते हैं। फलस्वरूप जनसंख्या का अधिक होना स्वाभाविक है। एक कारण है कि शहरों में विभिन्न जाति, प्रजाति, धर्म, सम्प्रदाय के लोग अधिक रहते हैं जबकि गाँवों में ऐसा नहीं होता है। वहाँ सिर्फ वे लोग ही रहते हैं जो वहाँ के मूल निवासी होते हैं। यदि कोई नया व्यक्ति आया भी तो वह पास-पड़ोस का होता है।
2. **परिवार का स्वरूप**—ग्रामों में अधिकांश संयुक्त परिवार पाये जाते हैं और इस प्रकार के परिवार में वृद्ध सदस्य की ही आज्ञा का पालन होता है। परिवार की प्रतिष्ठा और सम्मान ग्रामीण के प्रत्येक कार्य को प्रभावित करता है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में व्यक्ति की प्रतिष्ठा

नोट

उसके परिवार की पृष्ठभूमि के अनुसार ही निश्चित होती है। ग्रामों की अपेक्षा नगरों में संयुक्त परिवार केवल नाम मात्र के लिए पाए जाते हैं। यहाँ एक परिवार में केवल पति-पत्नी तथा उनके बच्चे ही रहते हैं। यहाँ वृद्ध पुरुष से सिर्फ राय ली जाती है। उसकी आज्ञा का पालन कम व्यक्ति कर पाते हैं। शहरी परिवार उतना शक्तिशाली भी नहीं होता। यहाँ परिवार की अपेक्षा व्यक्ति की महत्ता अधिक होती है। यहाँ के पारिवारिक सदस्यों के सम्बन्ध में अधिक घनिष्ठता नहीं होती। ग्रामीण परिवार में माता की कोई स्थिति नहीं होती लेकिन शहरी परिवार में माता-पिता दोनों की स्थिति समान होती है।

3. **विवाह**–परिवार की ही भाँति गाँवों में विवाह का भी काफी महत्त्व है। गाँवों में विवाह व्यक्तिवाद पर आधारित न होकर परिवार पर निर्भर होता है। गाँवों में विवाह का पारिवारिक महत्त्व होता है। यहाँ दो व्यक्तियों (स्त्री-पुरुषों) में विवाह नहीं होता अपितु दो परिवारों में विवाह होता है और दोनों परिवार एकता के सूत्र में आबद्ध हो जाते हैं। विवाह में व्यक्ति के विचारों अथवा उसकी स्वीकृति-अस्वीकृति नहीं ली जाती बल्कि परिवार जहाँ विवाह तय कर देता है उसे वहीं करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त चूंकि गाँव परम्परागत मूल्यों और रूढ़ियों पर आधारित होता है। इसलिये वहाँ परम्परागत विवाह ही होते हैं। प्यार, रोमांस आदि को लोग घृणा से देखते हैं। गाँवों में बाल-विवाह और स्वजातीय विवाह को प्राथमिकता दी जाती है।

   इसके विपरीत जब हम नगरीय जीवन पर दृष्टिपात करते हैं, तो पाते हैं कि यहाँ गाँवों के ठीक उल्टा विवाह होता है। नगरों में विवाह करने के पहले लड़के के व्यक्तिगत विचारों, उसकी स्वीकृति पर विशेष ध्यान दिया जाता है। परिवार यदि जबरदस्ती उसकी शादी करना चाहे तो यह सम्भव नहीं हो सकता। नगरों में प्यार, रोमांस आदि तो बहुत साधारण चीज है और आजकल तो **"लव मैरिज"** को प्रश्रय भी दिया जा रहा है। यहाँ वयस्क होने पर ही विवाह होता है।[1]

4. **पड़ोस**–गाँवों में पड़ोस का अधिक महत्त्व रहता है। कम जनसंख्या होने के कारण एक व्यक्ति दूसरे से पूर्णत: परिचित रहता है। यहाँ सब पड़ोसी एक-दूसरे के सुख-दुख में कुटुम्ब की भाँति कार्य करते हैं। यहाँ का पड़ोस स्वयं एक बृहत् परिवार का रूप रहता है। नगरों में पड़ोस उतना महत्त्वपूर्ण नहीं होता जितना गाँवों में होता है। नगरों में आवागमन के अनेक साधनों के कारण वहाँ व्यक्ति अपने स्व-व्यवसाय में इतना लीन रहता है कि अपने पड़ोसियों के विषय के बारे में भी ज्ञान नहीं रहता। यहाँ का क्षेत्र अत्यंत व्यापक होता है।

5. **धर्म एवं आचार**–ग्रामीण लोग रूढ़िवादी होते हैं। यहाँ धर्म का बहुत अधिक महत्त्व है। प्रकृति की पूजा से उन्हें सन्तोष मिलता है। प्रत्येक परिवार और जाति एक धार्मिक इकाई के रूप में भी कार्य करते हैं। धार्मिक और सामाजिक प्रथाओं के वे दास होते हैं, प्रथाएँ उनके जीवन का सदा नेतृत्व करती हैं। प्रथाओं की अधिकता और कठोरता होती है। प्रथाओं को न मानना एक सामाजिक अभिशाप माना जाता है। यजमानी प्रथा में पूंजीपति वर्ग उनका शोषण करते हैं। नगर निवासी धर्म एवं आचार में इन सब बातों को बुरा मानते हैं। शहर में प्रत्येक व्यक्ति को जीवनसाथी चुनने की स्वतन्त्रता रहती है। यहाँ पर लड़के-लड़कियों के व्यक्तिगत विचारों पर ध्यान दिया जाता है। उसकी स्वीकृति और अस्वीकृति पर ध्यान दिया जाता है।

   ग्रामों में बाल-विवाह अधिकतर होता है जबकि शहर में विवाह वयस्क होने पर ही होता है।

6. **स्त्रियों की स्थिति**–गांवों में संयुक्त परिवार मिलता है और संयुक्त परिवार का मुखिया कोई वृद्ध पुरुष ही होता है। इसलिये स्त्रियों की महत्ता अधिक नहीं होती। स्त्रियाँ पराश्रित होती हैं। उन्हें हर कार्य के लिए पुरुषों के ऊपर निर्भर रहना पड़ता है। उन्हें किसी भी प्रकार की स्वतंत्रता नहीं रहती। वे घर की चहार-दीवारी के बाहर तक नहीं निकल सकतीं। भारतीय ग्रामों की स्त्रियों की दशा तो और भी शोचनीय है। उनका कार्य सिर्फ चूल्हा-चक्की तक ही सीमित है। पर्दा प्रथा का अत्यधिक सीमा तक पालन किया जाता है। स्त्रियाँ दासियों के समान रहती हैं।

नगरों में स्त्रियों की स्थिति काफी उच्च होती है। उन्हें हर प्रकार की स्वतन्त्रता रहती है। वे पुरुषों के साथ कदम से कदम, कन्धा से कन्धा मिलाकर चलती हैं। उनका कार्य चूल्हा फूंकना ही नहीं है बल्कि वे पुरुषों की भाँति दफ्तरों में भी काम करती हैं। राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक-सभी क्षेत्रों में उनका सहयोग रहता है। पुरुषों के समान ही उनका जीवन भी काफी व्यापक होता है। यहाँ पर्दा प्रथा नहीं होती। उनका जीवन भी दासियों का-सा न होकर गृहिणी एवं स्वामिनी का होता है। शिक्षा ग्रहण करने की भी उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। इस तरह हम देखते हैं कि ग्रामीण जीवन की अपेक्षा नगरीय जीवन में स्त्रियों की स्थिति काफी अच्छी होती है। उन्हें हर कार्य करने की स्वतन्त्रता रहती है। उन्हें पुरुषों पर सदैव आश्रित नहीं रहना पड़ता।

7. **आर्थिक जीवन**–(**क**) गाँवों में व्यवसाय केवल दो प्रकार का ही पाया जाता है–कृषि अथवा कुटीर उद्योग-धन्धे। इनमें किसी प्रकार की व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा का प्रश्न नहीं उठता। कृषि की प्रकृति स्वयं इस प्रकार की है कि सभी व्यक्ति एक दूसरे को सहयोग देकर ही सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

(**ख**) **ग्रामीण जीवन**–स्तर सादा और विशुद्ध होता है। अधिकतर ग्रामीण, जीवन की केवल अनिवार्य आवश्यकताएँ ही पूरी कर पाते हैं। (**ग**) आर्थिक साधन बहुत सीमित होने के कारण ग्रामीण जीवन में आर्थिक असमानता बहुत कम होती है। इसके कारण वर्ग-संघर्ष जैसी समस्या से ग्रामीण जीवन बहुत दूर है। (**घ**) रूढ़ियों तथा कर्मकाण्डों में अधिक विश्वास करने के कारण ग्रामीणों की आय का बड़ा भाग संस्कारों, उत्सवों और धार्मिक अनुष्ठानों की पूर्ति में ही व्यय हो जाता है।

नगरों में आर्थिक जीवन बिल्कुल भिन्न है। (**क**) आर्थिक जीवन की सफलता सबसे बड़ी सफलता मानी जाती है। अक्सर सम्पत्ति के आधार पर ही व्यक्ति की नैतिकता का निर्धारण भी होता है। मानवता का मूल्य व्यक्ति की आर्थिक स्थिति से आँका जाता है और व्यक्ति की सामाजिक व राजनैतिक स्थिति का निर्धारण तत्व भी यही है। (**ख**) व्यवसायों की बहुलता नगरों की दूसरी प्रमुख आर्थिक विशेषता है। एक व्यवसाय में असफल होने पर कोई भी व्यक्ति दूसरे व्यवसाय को अपना सकता है। एक व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार कोई भी व्यवसाय चुन सकता है। (**ग**) विभिन्न व्यवसायों में भिन्न-भिन्न मात्रा में लाभ होता है जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण नगरीय समाज धनी और निर्धन दो भागों में विभक्त हो जाता है। धनी व्यक्ति साधारणत: निर्धनों के श्रम का अनुचित लाभ उठाते हैं और इससे वर्ग-संघर्ष की समस्या उत्पन्न होती है। वास्तविकता तो यह है कि वर्तमान सभ्यता में नगरों का इतिहास ही वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। (**घ**) स्पष्ट है कि इन दोनों वर्गों के कारण नगरों के जीवन-स्तर में भी महान विषमता होती है।

8. **सामाजिक नियन्त्रण**–सामाजिक नियन्त्रण के दृष्टिकोण से भी हम नगरीय और ग्रामीण जीवन में भिन्नता पाते हैं। गाँवों में प्राथमिक सम्बन्ध पाये जाते हैं और वे सम्बन्ध ही उनके जीवन को नियन्त्रित करते हैं। पग-पग पर व्यक्ति को परिवार, गोत्र आदि का अनौपचारिक (Informal) नियन्त्रण होता है। ये सांस्कृतिक मूल्य व्यक्ति के व्यवहारों को नियन्त्रित करते हैं, उन्हें बुरा कर्म करने से रोकते हैं। इस प्रकार इन प्रथाओं, रूढ़ियों आदि का ग्रामीण जीवन में काफी महत्त्व होता है। बीसेन्ज और बीसेन्ज ने लिखा है–**"ग्रामीण समुदाय में प्रथा शासक होता है और जनरीतियाँ तथा रूढ़ियाँ अधिकांश व्यवहारों को नियंत्रित करती हैं।"** चूंकि ग्रामों में कुटुम्ब का काफी महत्त्व रहता है इसलिए वह भी अपने सदस्यों की प्रथाओं, रूढ़ियों आदि को मानने के लिए मजबूर रहता है।

नगरों में सामाजिक नियन्त्रण एक समस्या का विषय है। जनसंख्या की अधिकता, परिवार और समुदाय की शक्ति की न्यूनता के कारण नगरों में काफी पढ़े-लिखे लोग रहते हैं। इसलिए

नोट

वे ईश्वर, प्रथाओं, रूढ़ियों आदि पर विश्वास नहीं रखते जिससे इन अनौपचारिक संस्थाओं द्वारा भी इनके ऊपर नियन्त्रण नहीं रखा जा सकता। इसलिए उनके ऊपर नियन्त्रण रखने के लिए पुलिस, कानून आदि अनौपचारिक साधन होते हैं जो उनके व्यवहारों को नियन्त्रित और निश्चित करते हैं। प्राथमिक सम्बन्धों में व्यक्ति जब चाहें तब इनसे मुक्त हो सकता है। **किंग्सले डेविस** ने लिखा है–**"वह जब भी चाहें, अपरिचितों के सागर में विलीन होकर किसी भी प्राथमिक समूह के कठोर नियन्त्रण से बच सकता है।"**

9. **सामाजिक दृष्टिकोण**–गाँव वालों का दृष्टिकोण काफी रूढ़िवादी होता है। वे परम्परागत मूल्यों को मानने में ही अपना कल्याण समझते हैं। वे सामाजिक परिवर्तन नहीं चाहते। नगरों में शिक्षा का काफी प्रचार-प्रसार होने के कारण लोगों का दृष्टिकोण सीमित न होकर व्यापक हो जाता है जिससे उनमें रूढ़िवादिता नहीं पायी जाती। ये लोग पग-पग पर सीमित परिवर्तन के समर्थक होते हैं। ग्रामीण जनता राजनीति के प्रति एकदम उदासीन रहती है जबकि नगरीय जनता राजनीति में बहुत सक्रिय रूप में भाग लेती है। गांव वाले भाग्यवादी होते हैं। **"जो कर्म में लिखा है वही होगा"** इस कहावत के वे कट्टर समर्थक होते हैं। प्राकृतिक प्रकोप को वे बुरे कर्म का फल मानते हैं। यदि उन पर कोई विपत्ति आती है तो वे उसको दूर करने के लिए कोई उद्यम किये बिना ईश्वर को याद करते हैं जबकि शहरों में लोग भाग्य पर विश्वास ही नहीं रखते। उन्हें अपनी शक्ति और पौरुष पर विश्वास रहता है। विपत्ति आने पर वे उससे छुटकारा पाने के लिए उद्यत रहते हैं।

   इसके अतिरिक्त, हम देखते हैं कि गाँव वाले कृत्रिमता नहीं पसंद करते। वे बहुत सीधे-सादे, निष्कपट और सरल हृदय के होते हैं। उनका स्वभाव बहुत निर्मल होता है। इसके विपरीत नगरों की रचना, उसका संगठन कृत्रिमता पर आधारित रहता है। हर व्यक्ति तड़क-भड़क पसन्द करता है और टिप-टाप से रहता है। पग-पग पर वह झूठ, फरेब, धोखाधड़ी का सहारा लेता है। उसका अधिकांश कार्य आडम्बरपूर्ण होता है।

10. **आर्थिक जीवन**–नगर और ग्राम के आर्थिक जीवन में भी काफी वैषम्य पाया जाता है। कृषि गाँव की आर्थिक व्यवस्था का मूलाधार है। यही उनका प्रमुख व्यवसाय होता है। **सोरोकिन** और **जिमरमैन** तथा **ए. आर. देसाई** प्रभृति विद्वानों ने तो कृषि को ग्रामीण और नगरीय जीवन के अन्तर को स्पष्ट करने के हेतु एक महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली कारक माना है। सिम्स महोदय ने भी इस विचारधारा की पुष्टि करते हुए लिखा है कि, **"जीविकोपार्जन की दो मौलिक रूप से भिन्न रीतियों ने ग्रामीण और नगरीय विश्व को पृथक कर दिया है।"** कृषि के माध्यम से ही प्रत्येक निवासी अपना जीविकोपार्जन करता है। ऐसी बात नहीं है कि कृषि के अतिरिक्त गाँव में कोई अन्य व्यवसाय पाया ही नहीं जाता लेकिन उन व्यवसायों की संख्या कम होती है।

   नगरों में हम देखते हैं कि व्यक्तियों का प्रमुख व्यवसाय कृषि न होकर उद्योग-धन्धे होते हैं। यहाँ आर्थिक जीवन के तीन प्रमुख रूप मिलते हैं। श्रम-विभाजन, विशेषीकरण एवं प्रतिस्पर्धा। नगरीय जनता का सम्बन्ध यन्त्रों और मशीनों से अधिक होता है जिसके माध्यम से वह अपनी जीविका का उपार्जन करता है। गाँवों में परिश्रम बारहों महीना नहीं बल्कि एक निश्चित समय तक होता है और तदुपरान्त कृषक बेकार बैठा रहता है, जबकि हम नगरों में देखते हैं कि व्यक्ति के पास कार्य इतना अधिक होता है कि उसे एक मिनट का भी अवकाश नहीं मिलता। वह बारहों मास कार्यरत रहता है।

   इसी कारण हम देखते हैं कि नगरों की अपेक्षा गाँवों का जीवन स्तर भी काफी गिरा हुआ रहता है। वे नगर के लोगों की अपेक्षा कम खर्चीले भी होते हैं और उनका खान-पान, रहन-सहन सभी कुछ नगरों से भिन्न होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि धनोपार्जन के साधन सीमित होते हैं, इसके अतिरिक्त समय-समय पर उत्पन्न होने वाले प्राकृतिक प्रकोपों के कारण भी वे जीवन-स्तर को नहीं उठा पाते। वे सदैव बचत करने में ही लगे रहते हैं जबकि नगर वाले

बचत कर ही नहीं पाते। चूंकि नगर में मनोरंजन आदि की चीजें भी होती हैं इसलिए व्यक्ति वहाँ बचत कर ही नहीं पाता। रॉस ने ठीक ही लिखा है–**"ग्रामीण जीवन बचत करने का सुझाव देता है और नगरीय जीवन खर्च करने का।"** नगर में फिजूलखर्ची अधिक है। दोनों के जीवन स्तर में भी विभेद होता है। गाँवों में तो सबका समान जीवन-स्तर होता है जबकि नगरों में हम देखते हैं कि किसी का जीवन-स्तर बहुत ही ऊँचा होता है और किसी का अत्यन्त नीचा।

11. **सांस्कृतिक जीवन**–नगर और गाँवों की संस्कृतियाँ तथा उनके सांस्कृतिक जीवन में भी काफी अन्तर होता है। सूक्ष्म रूप से देखने पर ज्ञात होता है कि ग्रामीण संस्कृति में स्थिरता पाई जाती है। इस सम्बन्ध में **नजमुलकरीम** ने लिखा है–**"वे स्थिर प्रतीत होती हैं जबकि वस्तु कभी स्थिर नहीं रहती। एक राजवंश के बाद दूसरा राजवंश समाप्त हो गया, क्रांति के बाद क्रांति होती गई, हिन्दू, पठान, मुगल, मराठा, सिक्ख और अंग्रेज क्रमशः स्वामी होते गए परन्तु ग्रामीण समुदाय वैसे के वैसे ही रहे।"** चूँकि संस्कृति में स्थिरता होती है, फलस्वरूप उसमें कूपमण्डूकता और रूढ़िवादिता की भावना कूट-कूट कर भरी रहती है। उसके विचार भी स्थिर रहते हैं। वहाँ परम्परा की पूजा होती है जिसके कारण उसका एक निश्चित जीवन रहता है। जीवन में कोई नवीनता नहीं रहती। **सिम्स** ने तो कहा है, **"कुछ अपवादों को छोड़कर उनका जीवन भी ऋतुओं के समान निश्चित कालचक्र के अनुसार ही चलता है।"**

लेकिन जब हम नगरों के सांस्कृतिक जीवन को देखते हैं तो महान अन्तर परिलक्षित होता है। नगरीय संस्कृति में गतिशीलता पाई जाती है। नागरिकों के विचारों में भी परिवर्तनशीलता देखी जाती है। यहाँ प्रथा, परम्परा आदि को विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता। यहाँ की संस्कृति भी असाम्प्रदायिकता पर आधारित होती है। इसके विपरीत हम गाँवों की संस्कृति, जाति एवं पवित्रता पर आधारित देखते हैं।

12. **सामाजिक अन्तःक्रिया**–सामाजिक सम्पर्क जैसे सहयोग, प्रतिस्पर्धा, संघर्ष आदि कारकों द्वारा भी नगरीय और ग्रामीण जीवन में विभेद दर्शाया जा सकता है। हम देखते हैं कि गाँव का क्षेत्र चूँकि काफी सीमित और संकुचित होता है इसलिए उसका सामाजिक सम्पर्क भी सीमित होता है उसका सम्पर्क सिर्फ ग्रामवासी तक ही रहता है नये लोगों से मेल-जोल बढ़ने का अवसर ही नहीं आता उसका परिणाम यह होता है कि उनका दृष्टिकोण भी संकुचित होता है और यदि कोई नया व्यक्ति गाँव में आ जाता है तो उसे शंका की दृष्टि से देखा जाता है। वे लोग उससे मिलने-जुलने अथवा ग्रामीण जीवन के बारे में कुछ भी बताने में हिचकते हैं। उनमें कूपमण्डूकता की भावना भरी रहती है। लेकिन नगर में हम इसके विपरीत स्थिति पाते हैं। नगर निवासियों का दृष्टिकोण काफी विस्तृत होता है। उन्हें दफ्तरों में, कारखानों में नित्य सैकड़ों व्यक्तियों के साथ सम्पर्क स्थापित करना पड़ता है। उनको मिल-जुल कर कार्य करना पड़ता है। यदि उनके साथ मिल-जुल कर कार्य न करें तो वे एक मिनट भी नहीं रह सकते। सामाजिक सम्पर्क होने के कारण उन्हें नए-नए समाचार, नई-नई बातें मालूम होती रहती हैं जिससे उनके ज्ञान का विस्तार भी होता है। लेकिन गाँवों और नगरों के सम्पर्क में एक खास अन्तर यह है कि गाँवों में जो सम्पर्क होते हैं वे स्थायी, दृढ़ और प्रत्यक्ष होते हैं लेकिन नगरों में सामाजिक सम्पर्क तो सैकड़ों व्यक्तियों से रहता है लेकिन उनमें से बहुत कम लोगों को प्रत्यक्ष रूप से जाना जा सकता है।

गाँव में सहयोग की भावना होती है। सब लोग मिल-जुल कर कार्य करते हैं लेकिन अधिकतर यह सहयोग की भावना परिवार तक ही सीमित होती है। उसमें स्वार्थ की भावना निहित रहती हैं। श्रम विभाजन और विशेषीकरण (Specialisation) सहयोग पर ही आधारित है। जहाँ तक प्रतियोगिता अथवा प्रतिस्पर्धा (Competition) का प्रश्न है हमें गाँवों में अधिक दिखाई नहीं पड़ता जबकि नगरों में प्रतिस्पर्धा की मात्रा अधिक रहती है। लेकिन संघर्ष का प्रत्यक्ष

नोट

और उग्र रूप हमें गाँवों में दिखलाई पड़ता है। जरा-जरा सी बात पर लड़ाई-झगड़ा, मार-पीट अथवा किसी की हत्या कर देना गाँव में साधारण बात है। अधिकतर संघर्ष भूमि के प्रश्न को लेकर होता है। लेकिन नगरों में हमें अप्रत्यक्ष संघर्ष (हड़ताल, तालेबंदी, दंगे) देखने को मिलता है। नगरों में संघर्ष भूमि का प्रश्न लेकर नहीं बल्कि आर्थिक विषमता के कारण होता है। नगरों के उत्थान में संघर्ष एक प्रत्यक्ष प्रक्रिया रही है।

13. **सामाजिक गतिशीलता**–सामाजिक, गतिशीलता का तात्पर्य जनसंख्या का एक स्थान से दूसरे स्थान में विस्थापन (Migration) ही नहीं अपितु व्यक्ति द्वारा एक पेशे को छोड़कर दूसरा पेशा अपनाना भी है। नगरों की अपेक्षा गाँवों में कम गतिशीलता पाई जाती है। इसे हम **सोरोकिन तथा जिमरमैन के शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं–"ग्रामीण समुदाय एक घड़े में शांत जल के समान है और नगरीय समुदाय पतीली में उबलते हुए पानी की तरह है। एक की विशेषता स्थिरता है तो दूसरे की गतिशीलता।"**

गाँवों में स्थिरता का कारण कृषि व्यवसाय का होना है। ग्रामवासियों का जो भी व्यवसाय होता है वह परम्परागत होता है और परम्परा से चली आ रही परिपाटी को वे तोड़ना नहीं चाहते। यही कारण है कि एक कृषक का लड़का कृषि कार्य और एक ब्राह्मण का लड़का पूजापाठ, शिक्षा, दान और धार्मिक अनुष्ठानों को ही संपादित करता है। धर्म, सामाजिक मान्यताएँ, रूढ़ियाँ, प्रथाएँ तथा प्राथमिक समस्याओं का नियन्त्रण गतिशीलता को अवरुद्ध कर देता है। नगरों में चूँकि किसी प्राचीन अथवा परंपरागत मान्यताओं का पालन नहीं किया जाता और न कृषि ही उनका व्यवसाय होता है इसलिए वे बड़ी आसानी से एक पेशे को छोड़कर दूसरे पेशे को अपना लेते हैं। नगरों में एक ब्राह्मण का लड़का भी मोची का कार्य करता दिखाई पड़ता है। यहाँ व्यक्ति को अपना व्यवसाय बदलने में कठिनाई नहीं होती है। प्राय: एक ही परिवार के व्यक्ति विभिन्न प्रकार के व्यवसाय द्वारा जीविकोपार्जन करते हैं। नगरवासियों के दृष्टिकोण में गतिशीलता देखी जा सकती है। वे सदैव नित्य परिवर्तनों की अभिलाषा करते रहते हैं और उस परिवर्तन का स्वागत भी करते हैं। रहन-सहन तथा जीवन-यापन के ढंगों को शीघ्र ही अपना लेते हैं। नगरों में स्थान परिवर्तन भी अत्यधिक सीमा तक होता है। लेकिन गाँव में यह सम्भव नहीं हो पाता। नगरों में राजनीति, धर्म, शिक्षा आदि के कारण भी सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि हो जाती है। गाँवों में इन सब कारकों का प्रभाव बहुत कम होता है।

14. **सामाजिक विघटन**–सामाजिक विघटन का तात्पर्य एक ऐसी स्थिति से है जब सामाजिक नियन्त्रण के साधनों में असन्तुलन हो जाता है जिससे सामाजिक व्यवस्था ठीक तरह से नहीं चल पाती। मूल्यों, परम्पराओं, आदर्शों में सन्तुलन नहीं रह पाता और लोग इसके अनुसार कार्य नहीं करते हैं। इस दृष्टिकोण से देखने पर ज्ञात होता है कि चूंकि ग्रामीण समाज का मूलाधार ही परम्पराएँ और प्रथाएँ हैं। इसलिए यहाँ वैयक्तिक विघटन उत्पन्न ही नहीं हो पाता। परिणामस्वरूप न तो उनमें मानसिक संघर्ष और न निराशा उत्पन्न होती है। नशाखोरी, आत्महत्याएँ, वेश्यावृत्ति, मद्यपान आदि विघटनात्मक प्रवृत्तियों का भी जन्म नहीं हो पाता और यदि होता भी है तो नगरों की अपेक्षा बहुत कम। नगरों में इन सब प्रवृत्तियों को दैनिक जीवन में देखा जा सकता है। इन सब प्रवृत्तियों को अपनाने का मुख्य कारण मानसिक दुश्चिंता और परिणामों से छुटकारा पाना है। इसलिए वैयक्तिक विघटन के साथ ही साथ सामाजिक और पारिवारिक विघटन भी नगरों में अधिक पाया जाता है। गाँवों में विवाह-विच्छेद (Divorce), परित्याग, पृथक्करण आदि पारिवारिक विघटन के प्रकार बहुत कम पाए जाते हैं जबकि नगरों में इनकी प्रबलता बड़ी आसानी से देखा जा सकता है।

विधवा-विवाह की समस्या गाँवों में अत्यधिक पाई जाती है। परम्परा और रूढ़िवादिता पर आधारिता होने के कारण ग्रामवासियों का दृष्टिकोण और उनकी मनोवृत्ति भी रूढ़िवादी हो जाती है और वे विधवा-विवाह पाप समझते हैं। गाँवों में विधवाओं की बड़ी शोचनीय स्थिति होती है। वे अपवित्रता की द्योतक होती हैं। किसी हर्षोत्सव में सम्मिलित होना उनके लिए

निषिद्ध होता है। इस प्रकार उनकी बड़ी गिरी हुई दशा होती है। उनका जीवन नारकीय होता है। लेकिन नगरों में आर्थिक विघटन का भी रूप बहुतायत में देखने को मिलता है। दरिद्रता, बेरोजगारी, भिक्षावृत्ति तथा आर्थिक स्थिति में मन्दी होने के कारण आर्थिक थपेड़े आते रहते हैं जिसकी वजह से लोगों का सामाजिक जीवन विघटित हो जाता है। वे समाज में अपने को समायोजित नहीं कर पाते।

15. **सामाजिक संस्तरण**–पद और उत्तरदायित्व के लिए प्रत्येक समाज में संस्तरण आवश्यक है। इस संस्तरण के कारण समाज अनेक श्रेणियों में विभक्त हो जाता है। गाँव और नगरों में जाति और वर्ग के सिद्धांत भिन्न होते हैं। सबसे पहली बात यह है कि ग्रामीण समाज में नगरीय समाज की अपेक्षा सामाजिक वर्गों की संख्या बहुत कम होती है। नगरों में अनेक वर्ग और जातियाँ होती हैं। **बोगार्ड्स** ने लिखा है–"अत्यधिक विषमताएँ नगर के लक्षण हैं। करोड़पतियों, लखपतियों के साथ ही साथ भूख से तड़पते वर्ग भी मिलेंगे। लेकिन गांवों में सामाजिक स्तर की दूरी इतनी अधिक नहीं मिलेगी। नगर में लखपति और उच्चाधिकारी निम्न वर्ग के लोगों से बहुत कम सम्पर्क रख पाते हैं लेकिन गाँवों में ऐसा नहीं होता है। वहाँ तो बड़े से बड़ा आदमी भी छोटे-से-छोटे व्यक्ति से परिचित होता है। गाँवों का प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे से भली-भाँति परिचित होता है। नगर में यह संभव नहीं है। नगरों में जाति-पाँति के बंधन ढीले अवश्य हो जाते हैं जिससे एक जाति के लोगों को अन्य जाति के लोगों से संपर्क स्थापित करने में सरलता होती है लेकिन गाँवों में जाति प्रथा प्रत्यन्त कठोर होती है। एक जाति का व्यक्ति दूसरी जाति के व्यक्ति के यहाँ उठ बैठ नहीं सकता। उसके यहाँ एक गिलास पानी तक नहीं पी सकता। जाति-प्रथा की कठोरता का ही परिणाम है कि गाँवों में शूद्रों की छाया तक पड़ना अपशकुन माना जाता है। शूद्रों की बड़ी दयनीय स्थिति होती है। वे राजमार्ग, सार्वजनिक अस्पताल आदि का लाभ नहीं उठा सकते। गाँवों में इन शूद्रों की स्थिति का वर्णन महात्मा गाँधी ने इस तरह किया है–**"सामाजिक दृष्टि से वे कोढ़ी हैं, आर्थिक दृष्टि से वे गुलामों से भी बदतर हैं, धार्मिक दृष्टि से उनका उन स्थानों में, जिन्हें हम भ्रम से भगवान का घर कहते हैं प्रवेश निषिद्ध है। उन्हें सार्वजनिक नल, सार्वजनिक पार्क तथा अन्य इसी प्रकार के स्थानों का प्रयोग निषिद्ध है। कुछ मामलों में निश्चित दूरी के अन्दर उनका प्रवेश सामाजिक अपराध है तथा कुछ मामलों में उनका दर्शन भी अपराध है। उन्हें नगरों तथा ग्रामों में अत्यन्त निकृष्ट भवन निवास के लिए दिए जाते हैं जहाँ किसी प्रकार की सामाजिक सेवाओं का प्रबंध नहीं होता है। सवर्ण हिन्दू वकील तथा डॉक्टर उनके कार्य नहीं करते। ब्राह्मण उनके धार्मिक उत्सवों पर पुरोहित नहीं बनते हैं।"**

इस प्रकार हम देखते हैं कि गाँव में कितना कठोर संस्तरण होता है। ऊँच-नीच का भेद-भाव तो बुरी तरह से गाँवों में पाया जाता है लेकिन इसके विपरीत नगरों में संस्तरण की इतनी कठोरता नहीं पायी जाती। नगरों का दायरा विस्तृत होता है।

## 1.8 भारत में जनजातीय समुदाय : संख्या एवं वितरण (Tribal Communities in India : Strength and Distribution)

1991 की जनगणना के अनुसार भारत में आदिवासियों की संख्या 6758 करोड़ थी। यह इंगलैंड की जनसंख्या के लगभग बराबर ही थी। (Manpower Profile, India, 1998: 34)। जनजाति जनसंख्या देश की कुल आबादी की 8.08 प्रतिशत थी। जनजाति जनसंख्या अफ्रीका के बाद भारत में द्वितीय स्थान पर है। भारत में जनजातियाँ समूचे देश में फैली हैं। अलग-अलग राज्यों में उनकी संख्या कुछ सौ से लेकर लाखों में है। 1991 की जनगणना के अनुसार सबसे अधिक आदिवासी मध्य प्रदेश में (1.54 करोड़ हैं) और उसके बाद महाराष्ट्र (0.73 करोड़), उड़ीसा (0.70 करोड़), बिहार (0.66 करोड़) और गुजरात में (0.61 करोड़) हैं (Manpower Profile, India, 1998, 35)। देश की कुल जनसंख्या के तीन पाँचवे भाग

नोट

से कुछ अधिक (62.75%) आदिवासी पाँच राज्यों में पाए जाते हैं। मिजोरम में राज्य की कुल जनसंख्या के 95 प्रतिशत जनजाति के लोग हैं, नागालैण्ड में 89 प्रतिशत, मेघालय और अरुणाचल प्रदेश में प्रत्येक में 80 प्रतिशत, त्रिपुरा में 70 प्रतिशत, मध्यप्रदेश और उड़ीसा में प्रत्येक में 23 प्रतिशत, राजस्थान में 12 प्रतिशत, और असम और बिहार प्रत्येक में 10 प्रतिशत। इस प्रकार 4 राज्यों में जनजाति जनसंख्या राज्यों की कुल जनसंख्या का 80 प्रतिशत है।

संख्या में सर्वाधिक गौंड (मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र और आन्ध्र प्रदेश में) लगभग 40 लाख और भील (राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश) लगभग 40 लाख हैं। सबसे कम संख्या वाली जनजाति अण्डमानी केवल 19 हैं। जनजातियों का अधिकतर हिस्सा स्वयं को हिन्दू मानता है। धर्म से 89 प्रतिशत हिन्दू, 5.5 प्रतिशत ईसाई, 0.3 प्रतिशत बौद्ध, 0.2 प्रतिशत मुसलमान, और 5 प्रतिशत अन्य हैं। वे सभी जो स्वयं को हिन्दू मानते हैं पूर्णरूपेण हिन्दू सामाजिक व्यवस्था को स्वीकार नहीं करते हैं। इस सन्दर्भ में जनजाति जनों को चार समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है। (1) जो हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में ढल गए हैं, अर्थात् जिन्होंने जाति संरचना को मान लिया है, जैसे, भील, भूमिज, आदि (2) जो हिन्दू सामाजिक व्यवस्था की ओर स्वीकारात्मक भाव से झुके हुए हैं, अर्थात् यद्यपि उन्होंने हिन्दुओं के आचार तत्व (ethos), प्रतीकों (symbols), और सांसारिक दृष्टिकोण (world-view) को धारण कर लिया है लेकिन उन्होंने स्वयं को जाति ढाँचे में शामिल नहीं किया है, जैसे संथाल, ओरांव, गोंड। (3) हिन्दू सामाजिक व्यवस्था की ओर नकारात्मक झुकाव वाले, जैसे मिजो, नागा। (4) हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के प्रति उदासीन, जैसे उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र (NEFA) की जनजातियाँ।

**भौगोलिक वितरण की दृष्टि से एल. पी. विद्यार्थी** (L.P. Vidyarthi, ICSSR Survey of Research In Sociology and Anthropology, Vol. III, 1972. 32) ने जनजातीय लोगों को चार क्षेत्रों में बाँटा है। (*a*) हिमालियन क्षेत्र, जिसमें जम्मू-कश्मीर, हिमाचल प्रदेश (भोंट, गुजर गादी), उत्तर प्रदेश का तराई क्षेत्र (थारु) असम (मिजो, गारो, खासी), मेघालय, नागालैंड (नागा), मणिपुर (माओ) और त्रिपुरा (त्रिपुरी) शामिल है और देश की कुल जनजाति संख्या का 11 प्रतिशत है। (*b*) मध्य भारत क्षेत्र, जिसमें पश्चिम बंगाल, बिहार (संथाल, मुण्डा, ओराँव, और हो), उड़ीसा (खोण्ड, गोंडा) शामिल हैं और देश की कुल जनजातीय जनसंख्या का 57 प्रतिशत हैं (*c*) पश्चिमी भारत क्षेत्र, जिसमें राजस्थान, (भील, मीणा, गरासिया), गुजरात, (भील, दुबला, घोदिया) और महाराष्ट्र (भील, कोली, महादेव, कोकना) शामिल हैं और भारत की कुल जनजातीय संख्या का 25 प्रतिशत हैं, और (*d*) दक्षिण भारत क्षेत्र, जिसमें आन्ध्र प्रदेश (गोण्ड, कोया, कोण्डा, दोवा), कर्नाटक (नैकदा, मराती) तमिलनाडु (इरुला, टोडा), केरल (पुलयन, पनलयन) और अण्डमान और निकोबार द्वीप समूह (अण्डमानी, निकोबारी) शामिल हैं और देश की जनजातीय जनसंख्या का लगभग 7 प्रतिशत हैं।

विभिन्न राज्यों में रहने वाले जनजातीय लोग विभिन्न प्रजातीय (racial) समूहों से सम्बद्ध हैं, जैसे प्रोटोआस्ट्रोलाइड (Protoaustroloid) जिसमें संथाल, मुण्डा, औरांव, और भूमिज शामिल हैं। मंगोलियन (Mangoloid) जिसमें गोरा, आदि शामिल हैं और नीग्रिटो। भाषाई आधार पर उन्हें तीन समूहों में विभाजित किया जाता है; यह हैं–आस्ट्रिक (Austric) जिसमें सन्थाल, मुण्डा, भूमिज शामिल हैं, द्रविड़ जिसमें ओराँव, टोडा, चैंचू शामिल हैं, और तिब्बती चीनी जिसमें गारो, भूटिया, आदि शामिल हैं। इसके अलावा उन्हें आर्थिक (भोजन एकत्र करने, शिकार करने वाले, हलवाहे, कृषि करने वाले, पशु-पालक, श्रमिक), सामाजिक और धार्मिक श्रेणियों में भी विभाजित किया जाता है। उनके विकास के स्तर और सामाजिक सांस्कृतिक एकता में यद्यपि बड़ी विविधताएँ मौजूद हैं लेकिन कुछ समानताएँ भी हैं। जनजाति के लोग समग्र रूप में प्राविधिक (technologically) व शैक्षिक रूप से पिछड़े हुए हैं। यद्यपि अधिकतर जनजातियाँ सामाजिक संगठन की पितृवंशीय व्यवस्था का अनुसरण करते हैं, फिर भी कुछ ऐसे भी हैं जिनमें मातृवंशीय व्यवस्था चलती है (जैसे, गारो, आदि)। नागाओं, मिजो, सन्थाली, मुण्डा, ओराँव के अच्छे अनुपात ने ईसाई धर्म अपना लिया है। कुछ लोगों को बौद्ध परिचय से भी चिह्नित किया जाता है, जैसे, भोटिया, लप्चा, आदि।

### जनजातीय समुदायों की विशेषताएँ (Distinctive Features of Tribal Communities)

जनजातीय लोग बृहत् सांस्कृतिक प्रभावों से अपेक्षाकृत बचे रहते हैं। उनमें सापेक्ष रूप से समानता होती है तथा उनके पास सरल प्रविधि (technology) भी होती है। वे आत्माओं, जादू व भूत विद्या में विश्वास करते हैं। उनके अपने निषेध (taboos) होते हैं जो उनके कुछ कार्यों को वर्जित करते हैं जो समुदाय, अलौकिकता (supernatural), व जादू के परिणामों से दण्डित होते हैं। अधिकतर जनजातियाँ जीववाद (animism) में विश्वास करती हैं जिसके अनुसार सभी वस्तुओं–चेतन और जड़ (animate and inanimate)–में स्थाई या अस्थाई रूप से आत्माएँ रहती हैं। अक्सर कोई कार्य इन आत्माओं के कारण होता है। कुछ आत्माओं की पूजा की जाती है और कुछ का आदर किया जाता है। कुछ विद्वानों का मानना है कि जीववाद जनजातियों में धर्म का प्रारम्भिक स्वरूप था। अनेक जनजातियाँ पूर्वजों की पूजा में भी विश्वास करती हैं।

भारत में जनजातियों की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं:

- सामान्य नाम–प्रत्येक जाति का अपना विशिष्ट नाम होता है। जिसके द्वारा उसको दूसरों से अलग पहचाना जाता है।
- सामान्य सीमा (territory)–जनजातियों की आमतौर पर सामान्य भौगोलिक सीमा होती है।
- सामान्य भाषा–एक जनजाति के सदस्य एक ही भाषा बोलते हैं। प्रत्येक जनजाति की अपनी बोली होती है, भले ही लिपि न भी हो।
- सामान्य संस्कृति–प्रत्येक जनजाति में व्यवहार के स्वरूप, त्यौहार और पूजा की मूर्तियाँ निर्धारित हैं।
- अन्तर्विवाह–प्रत्येक जनजाति में अपने ही सदस्यों के बीच विवाह करने का प्रचलन है।
- राजनैतिक संगठन–प्रत्येक जनजाति का अपना राजनैतिक संगठन होता है। उनके बुजुर्गों की परिषद (council) होती है जो सदस्यों को नियंत्रित रखती है।
- आर्थिक सक्रियता–राष्ट्रीय औसत 43 प्रतिशत के विपरीत, 57 प्रतिशत जनजातियाँ आर्थिक रूप से स्वयमेव सक्रिय होती हैं।

### काम की प्रकृति

जहाँ तक काम की प्रकृति का सम्बन्ध है, 73 प्रतिशत के राष्ट्रीय औसत के विपरीत 91 प्रतिशत जनजाति के लोग कृषि में, लगभग 3 प्रतिशत निर्माण कार्य में (सामान्य जनसंख्या के 11 प्रतिशत के विपरीत), और 5 प्रतिशत नौकरी में (सामान्य जनसंख्या के 16 प्रतिशत के विपरीत) और, लगभग एक प्रतिशत वानिकी और भोजन संग्रह के कार्यों में लगे हैं।

जनजातीय लोगों की कुछ अन्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं–उनमें से अधिकतर लोग एकाकी भूखण्डों (isolate terrains) में रहते हैं, उनकी जीविका के मुख्य स्रोत कृषि और वन के उत्पाद हैं, वे लाभ प्राप्ति के लिए खेती नहीं करते, वे अभी भी वस्तु विनिमय (exchange) पर निर्भर रहते हैं, वे अपनी आय का अधिकतर भाग सामाजिक और धार्मिक समारोहों पर खर्च करते हैं, और अधिकतर संख्या में अनपढ़ और साहूकारों तथा असन्दिग्ध ठेकेदारों द्वारा शोषण का शिकार होते हैं।

## 1.9 जनजाति और जाति (Tribe and Caste)

जाति और जनजाति के बीच भेद करने के लिए कोई ठोस आधार नहीं हैं। विस्तृत अर्थ में, जनजाति ऐसा समुदाय है जिसका एक सामान्य क्षेत्र, भाषा, संस्कृति और कुछ विश्वास तथा प्रथाएँ हों (Theodorson 1969 443)। **नैडेल** (Nadel) ने जनजाति को "एक समाज जिसकी भाषायी, सांस्कृतिक व राजनैतिक सीमाएँ हो" कहा है। लेकिन ऐसे अनेक जनजातीय समाज हैं जिनमें साधारण शब्दों में सरकार और कोई केन्द्रीय सत्ता नहीं होती। इसी तरह जनजाति में सांस्कृतिक समानता भी भ्रामक है।

नोट

घूर्ये, टी.बी. नाइक, बेली और बेरियर एलविन जैसे विद्वानों ने जाति और जनजाति में भेद के लिए धर्म, भौगोलिक पृथकता, भाषा, आर्थिक पिछड़ापन तथा राजनैतिक संगठन को आधार माना है।

धर्म के आधार पर यह कहा जाता है कि जनजाति के लोगों का धर्म जीववाद (animism) है और जाति व्यवस्था वाले लोगों का धर्म हिन्दू है। **हट्टन** (1963) और **बेली** (1960-263) का मत है कि जनजातियों के लोग हिन्दू नहीं हैं बल्कि जीववादी हैं। जीववाद की प्रमुख विशेषताएँ हैं–सभी जड़ एवं चेतन वस्तुओं में स्थाई या अस्थाई रूप से आत्मा होती है, सभी क्रियाकलाप इन्हीं आत्माओं द्वारा कराए जाते हैं, आत्माओं का मनुष्य के जीवन पर अधिकार होता है। मनुष्य आत्माओं द्वारा कब्जे में रखे जा सकते हैं, उन पर जादू का प्रभाव पड़ सकता है। दूसरी ओर हिन्दुत्व की प्रमुख विशेषताएँ हैं धर्म, भक्ति, कर्म और पुनर्जन्म में विश्वास। कहना गलत होगा कि हिन्दू, विशेष तौर पर निम्न जाति हिन्दू आत्माओं, भूतों और जादू में विश्वास नहीं करते। इसी प्रकार ऐसे बहुत से जनजातीय लोग हैं जो हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा करते हैं, हिन्दू त्योहार और मेलों का आयोजन करते हैं, और हिन्दू रीति रिवाजों और संस्कारों को मानते हैं। इसलिए जीववाद और हिन्दूवाद में अन्तर करना सरल नहीं है। राम अहूजा (1965), वेरियर एलविन (1943) और रिजले (1908) ने भी माना है कि जीववाद और हिन्दूवाद में अन्तर करना कृत्रिम और निरर्थक है। इस प्रकार केवल धर्म इस (जनजाति और जाति के मध्य) अन्तर का आधार नहीं हो सकता। धूर्ये, नाइक और बेली ने भी इस आधार को स्वीकार नहीं किया है।

**भौगोलिक एकाकीपन** (geographical isolation) के आधार के विषय में यह कहा जाता है कि जनजाति के लोग भौगोलिक दृष्टि से अलग-अलग भूभागों, जैसे पहाड़, जंगल आदि में रहते हैं लेकिन जातिवादी हिन्दू मैदानों में रहते हैं। सभ्य पड़ोसियों में अलग तथा उनसे कम सम्पर्क के कारण वे हिन्दुओं की तुलना में कम सभ्य हैं। यद्यपि यह सत्य है कि एक समय वे संचार साधनों की पहुँच से दूर रहते थे लेकिन तब बहुत से हिन्दू भी अलग-अलग क्षेत्रों में रहते थे, जबकि कई जनजातियाँ मैदानों में रहती थीं। आज के युग में कोई भी समूह एकाकी नहीं रहता। अत: जनजाति को जाति से अन्तर करने के लिए भौगोलिक अलगाव के आधार को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता।

भाषा को जाति और जनजाति में भेद करने के लिए आधार मानने के सम्बन्ध में भी यह कहा जाता है कि प्रत्येक जनजाति की अपनी भाषा होती है, लेकिन जाति की नहीं। लेकिन ऐसी जनजातियाँ हैं जो अपनी भाषा नहीं बोलती बल्कि प्रमुख भारतीय भाषाओं में से किसी एक की बोली (dialect) बोलती हैं जैसा कि दक्षिण भारत में पाया जाता है। अत: भाषा को भी भेद का आधार स्वीकार नहीं किया जा सकता।

आर्थिक पिछड़ापन भी अन्तर का सही आधार नहीं है। यदि जनजातीय लोग पिछड़े और आदिकालीन हैं तो हिन्दुओं में भी पिछड़े लोग हैं। दूसरी ओर आर्थिक रूप से विकसित जनजातियाँ भी हैं। बेली (1960 : 9) ने भी इसको अस्वीकार करते हुए कहा है कि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह मानना गलत है कि आर्थिक पिछड़ापन 'आर्थिक सम्बन्धों के प्रकार' की अपेक्षा 'रहन-सहन के स्तर' को बताता है। उसने स्वयं उड़ीसा के कोल्ड (जनजाति) और उड़ीया (जाति) में अन्तर करने के लिए 'आर्थिक संरचना' और राजनैतिक-आर्थिक संगठन' शब्दों का प्रयोग किया है।

**बेली** (Bailey, 1960) ने रेखाकार निरन्तरता (linear continual) में दो आदर्श बिन्दुओं के रूप में जाति और जनजाति के आमने-सामने की स्थिति पर विचार करने के लिए एक व्यवस्थित अन्तर्क्रियावादी मॉडल (inter-actional model) प्रस्तुत किया। उसने दो कारकों पर ध्यान केंन्द्रित किया : (*a*) भूमि पर नियंत्रण और (*b*) भूमि संसाधनों (resources) पर अधिकार। उसकी मान्यता थी कि जातिगत तथा जनजातीय दोनों ही समाजों में हमें भू-स्वामी (landowners) और भूमिहीन लोग मिलते हैं जो भूमि संसाधनों में से अपने हिस्से के लिए भूस्वामियों पर निर्भर करते हैं। लेकिन 'गाँव की सीमा' (village territory) (जिसमें जाति के लोग रहते हैं) तथा वंश सीमा (clan territory) (जिसमें जनजाति के लोग रहते हैं) के आर्थिक संगठन का विश्लेषण करने में उसने देखा कि गाँव श्रेणीक्रम में व्यवस्थित आर्थिक रूप से अन्तर्निर्भर जातियों में विभक्त रहता है जबकि वंश सीमा यद्यपि आर्थिक रूप से विशिष्ट समूहों की बनी होती है, लेकिन वह श्रेणीक्रम में व्यवस्थित नहीं होती है, न ही वे आर्थिक रूप में परस्पर निर्भर होते हैं। दूसरे शब्दों में, एक जनजातीय समाज में अधिक अनुपात में लोगों की पहुँच भूमि तक होती है जबकि जाति आधारित समाज में

भूस्वामी बहुत कम होते हैं और अधिक संख्या में लोग भूमि पर अधिकार निर्भर सम्बन्धों द्वारा प्राप्त करते हैं। इस प्रकार **बेली** के अनुसार जनजाति अलगाव की एकता में व्यवस्थित हैं जबकि जाति सुव्यवस्थित एकता में। लेकिन बेली प्रतिकूल धारणा रखते हुए कहता है कि निरन्तरता के किस बिन्दु पर जनजाति समाप्त होकर जाति प्रारम्भ होती है यह कहना कठिन है। भारत में स्थिति ऐसी है कि शायद ही ऐसी कोई जनजाति हो जो पृथक समाज के रूप में हो तथा जिसकी अलग राजनैतिक सीमा हो। आर्थिक दृष्टि से भी जनजातीय अर्थव्यवस्था क्षेत्रीय या राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से भिन्न नहीं है। लेकिन हम कुछ जनजातियों को समुदाय में शामिल करते हैं और उन्हें मान्य अनुसूचित जनजाति सूची में भी रखते हैं।

**एच. एन. बैनरजी** ने भी 1969 में बारभुम (Barabhum) के कोरा (Kora) जनजाति में जनजाति जाति सम्बन्धों के स्वरूप पर विस्तार से काम किया। **एनके बोस** (1949) ने माना है कि जनजातियाँ जातिगत समाज में विद्यमान प्रमुखतः कृषि व शिल्प आधारित अर्थव्यवस्था की ओर खींची जा रही हैं। **एम. ओरान्स** (M Orans, 1965) ने कहा है कि जहाँ हिन्दुओं की उच्च अर्थव्यवस्था ने जनजातियों को जाति व्यवस्था की बराबरी करने के लिए खींचा है, वही राजनीतिक एकता की शक्तियों ने उन्हें हिन्दू जाति व्यवस्था से दूर किया है। एल. पी. विद्यार्थी (ICSSR Report, 1972, 33) ने कहा है कि जनजाति समूह जाति व्यवस्था में जोड़ (affix) का कार्य करता है और कुछ मामलों में पर प्रत्यय (suffix) का भी। मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण से भारत में जनजातियाँ जाति व्यवस्था में धीरे-धीरे विलीन होती प्रतीत हो रही हैं। धूर्ये का मत है कि कुछ जनजातियाँ मैदानों के हिन्दू जातियों से भाषा, अर्थव्यवस्था, या धर्म में अलग नहीं हैं। वह उन्हें हिन्दू मानता है। इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि जाति व जनजाति एक सिक्के के दो पहलू हैं।

### *जनजातीय अध्ययन (Tribal Studies)*

भारत में प्रमुख जनजातियों पर विश्लेषणात्मक अध्ययन और विनिबंध (monograph) 1950 के बाद अनेक विद्वानों S. C. Roy (मुण्डा, ओसियों, बिरहोर, खरिया), Surjeet Sinha (भूमिज), D.N. Majumdar (खासा), S.C. Dube (कमार), L.P. Vidyarthi (माँझी), G.S. Ghurye (कोली), The Anthropological Survey of India (गद्दी), B.L. Roy Burman (भोट), B.S. Guha (अबोरा), Verrier Elwin (बैगा, मारिया), T.B. Naik और Thurstorn (दक्षिण भारत में जनजातियाँ) द्वारा प्रकाशित किए गए हैं। इन अध्ययनों में जनजातीय समाज के पाँच पक्षों का अध्ययन किया गया है–(1) सामाजिक संरचना, जिसमें जनजातीय विभाजन के सन्दर्भ में वंश उपवंश, परिवार वंशावली परिवार, नातेदारी, विवाह, स्त्रियों की प्रस्थिति, और पंचायत व्यवस्था, (2) जनजातीय अर्थव्यवस्था, जिसमें व्यावसायिक संरचना पर विशेष रूप से बल देते हुए और जीविका के साधनों में परिवर्तन के संदर्भ में शिकार करने से भोजन संग्रह, वन (forest) से कृषि, भूस्वामित्व, जनजातीय व गैर-जनजातीय समुदायों में आर्थिक सम्बन्ध जनजातीय क्षेत्रों में औद्योगीकरण के स्वरूप, बाजार की भूमिका, औद्योगीकरण का सामाजिक मूल्य, स्त्रियों की आर्थिक भूमिका, जनजातीय जीवन में महाजन की भूमिका, और आर्थिक परिवर्तन, (3) धार्मिक विश्वास और सरकार, जादू, भूत विद्या, धार्मिक आन्दोलन (जैसे भगत आन्दोलन आदि), और ईसाई मिशनरियों का प्रभाव, (4) राजनैतिक संगठन कानून और न्याय, पंचायत नेतृत्व, राजनैतिक दलों का प्रभाव, मतदान व्यवहार और राजनैतिक भागीदारी, (5) सांस्कृतिक जीवन जो लोक संगीत, लोक नृत्य, मेलों और त्योहारों आदि का वर्णन करता है।

## 1.10 जनजातीय शोषण, असंतोष एवं समस्याएँ (Tribal Exploitation, Unrest and Problems)

युगों से जनजातीय लोग भारतीय समाज की आदिकालीन इकाई के रूप में समझे जाते रहे हैं। वे जंगलों और पर्वतों पर तथाकथित सभ्य और विकसित पड़ोसियों के साथ केवल आकस्मिक सम्पर्क के साथ रहते थे। जनसंख्या दबाव न होने के कारण, उनके क्षेत्रों में घुसपैठ के प्रयत्न नहीं हुए और न ही उन पर बाहरी मूल्यों और विश्वासों को थोपा गया। लेकिन जब अंग्रेजों ने देश में अपनी स्थिति मजबूत कर ली,

नोट

उनकी औपनिवेशिक (colonial) आकांक्षाओं और प्रशासनिक आवश्यकताओं के लिए एक प्रभावी संचार व्यवस्था के माध्यम से समूचे देश को 'खोलना' (opening up) आवश्यक हो गया। अंग्रेजों ने भूस्वामित्व व राजस्व व्यवस्था शुरू कर दी। वार्षिक-कर तिगुना कर दिया गया जो जनजाति के किसानों की भुगतान सामर्थ्य से बाहर था। जनसंख्या के बढ़ते दबाव के अन्तर्गत अनेक बाहरी लोग भी जनजातीय क्षेत्रों में बसने लगे। अपनी धन शक्ति से उन्होंने घर-घर जाकर ऋण सुविधा उपलब्ध करा दी। प्रारम्भ में तो जनजातीय लोगों को बड़ा चैन मिला लेकिन धीरे-धीरे यह व्यवस्था शोषणवादी हो गई। नवगठित न्यायालयों ने शोषकों की ही सहायता की। इन आर्थिक तथा बाद में सामाजिक और सांस्कृतिक शोषण ने जनजातीय नेताओं को आदिवासियों को उकसाने और आन्दोलन के लिए जागृत करने के लिए बाध्य किया। वंचना की भावनाओं के साथ जन आन्दोलन भी बढ़ने लगे। प्रारम्भ में वे केवल उनके अधिकारों को हड़पने वालों के विरुद्ध थे, पर अन्त में वे सरकारी शासकों के भी विरुद्ध हो गए।

अत: जनजातीय अशान्ति और असंतोष अनेक कारकों का योग कहा जा सकता है। इनमें से प्रमुख कारक थे।

- जनजातीय शिकायतों से निपटने में नौकरशाहों और प्रशासकों की सहानुभूति में कमी, सुस्ती और उदासी।
- वन कानूनों व नियमों की जटिलता।
- गैर-जनजातीय लोगों के हाथों जनजातीय लोगों की भूमि जाने से बचाने के कानूनों की कमी।
- जनजातीय लोगों के पुनर्वास के सरकारी प्रयासों का प्रभावहीन होना।
- जनजातीय समस्याओं को सुलझाने में राजनैतिक अभिजात वर्ग में रुचि व गति की कमी।
- उच्च स्तरीय समितियों की सिफारिशें लागू करने में विलम्ब।
- सुधारात्मक उपायों को लागू करने में भेदभाव।

संक्षेप में जनजातीय असंतोष के कारण आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक कहे जा सकते हैं।

## *जनजातीय समस्याएँ* (Tribal Problems)

जनजातीय लोग निम्न प्रमुख समस्याओं का सामना करते हैं–

1. उनके पास छोटे व अनार्थिक जमीन के टुकड़े होते हैं जिसके कारण क्योंकि उनकी उपज कम होती है, वे बुरी तरह ऋणग्रस्त रहते हैं।
2. जनसंख्या का एक बहुत कम अनुपात व्यावसायिक क्रियाकलापों में द्वितीय व तृतीय क्षेत्रों में भाग लेता है।
3. जनजातियों में साक्षरता की दर बहुत कम है। 1961 में यह 18.53 प्रतिशत थी। 1991 में यह 29.60 प्रतिशत तक बढ़ गई जो देश की साक्षरता दर 52.21 प्रतिशत की तुलना में बहुत कम है। गत तीन दशकों में जब साक्षरता विकास दर 28.21 प्रतिशत थी तब जनजातियों में यह केवल 11.7 प्रतिशत थी। (Manpower Profile, India, 1998, 44)। यद्यपि जनजातीय साक्षरता दर मिजोरम में 82.73 प्रतिशत और नागालैण्ड, सिक्किम, व केरल में 57 और 61 प्रतिशत के बीच है, परन्तु शेष जनजातीय लोगों में साक्षरता दर में कमी एक प्रमुख विकास समस्या के रूप में चिह्नित की गई है। सब से कम आन्ध्र प्रदेश में 17.16 प्रतिशत, राजस्थान में 19.44 प्रतिशत और मध्य प्रदेश में 21.51 प्रतिशत है (वही 44)।
4. जनजातीय क्षेत्रों में भूमि का एक अच्छा अनुपात कानूनी रूप से ग़ैर जनजातीय लोगों को स्थानान्तरित कर दिया गया है। जनजातीय लोग इस भूमि को उन्हें लौटाने की माँग करते हैं। वास्तव में, पूर्व में जनजातियों ने वनों के उपयोग की आजादी तथा जानवरों के शिकार करने का लाभ उठाया था। जंगल उन्हें न केवल घर बनाने के लिए सामग्री प्रदान करते हैं, बल्कि ईंधन, बीमारियों का इलाज करने के लिए जड़ी बूटियाँ, फल एव शिकार आदि भी प्रदान करते हैं। उनके धर्म के अनुसार पेड़ों और जंगलों में अनेक आत्माएँ बसती हैं। उनकी लोक

नोट

गाथाएँ मानव और आत्माओं के सम्बन्धों के विषय में उन्हें बताती हैं। जंगलों से ऐसे भौतिक एवं भावनात्मक मोह के कारण जनजातीय लोगों ने सरकार द्वारा उनके परम्परात्मक अधिकारों के हनन के विरोध में तीव्र प्रतिक्रिया का प्रदर्शन किया है।

5. सरकारी जनजातीय कार्यक्रमों ने जनजातीय लोगों की आर्थिक प्रस्थिति को उठाने में अधिक मदद नहीं की है। ब्रिटिश नीतियों ने जनजातियों के अनेक प्रकार के शोषण के रास्ते खोल दिए क्योंकि ये नीतियाँ जमीदारों, भू-स्वामियों, महाजनों, जंगल के ठेकेदारों, तथा उत्पाद कर, राजस्व व पुलिस अधिकारियों का पक्ष लेती थीं।

6. जनजातीय क्षेत्रों में बैंकिग सुविधाएँ इतनी कम हैं कि जनजातीय लोगों को महाजनों पर निर्भर रहना पड़ता है। बुरी तरह ऋण जाल में फँस जाने के कारण जनजातीय लोग कृषि ऋणग्रस्तता मुक्ति अधिनियम को लागू करने की माँग करते हैं ताकि वे अपनी गिरवी रखी जमीनें वापस ले सकें।

7. लगभग 90 प्रतिशत जनजातीय लोग कृषि में लगे हैं, और उनमें अधिकतर भूमिहीन हैं तथा वे स्थानान्तरणशील (shifting) खेती करते हैं। उन्हें नये खेती के तरीके सिखाने में मदद की आवश्यकता है।

8. बेरोजगार और अल्प बेरोजगार लोग पशुपालन, मुर्गी पालन, हाथकरघा बुनाई तथा हस्त शिल्प क्षेत्र में विकास के द्वारा आय के द्वैतीयक स्रोत ढूढ़ने में मदद चाहते हैं।

9. अधिकतर जनजाति के लोग दूर-दूर पहाड़ियों पर रहते हैं जिनमें जनसंख्या कम होती है और इन क्षेत्रों में दूर संचार कठिन हो जाता है। इसलिए जनजातीय लोगों को एकाकी जीवन व्यतीत करने से संरक्षण की आवश्यकता है। वहाँ सड़कों के जाल बिछाने की भी आवश्यकता है।

10. जनजातीय लोगों का ईसाई मिशनरियों द्वारा भी शोषण किया जाता है। कई जनजातीय क्षेत्रों में ब्रिटिश काल के दौरान उनका ईसाई धर्म में परिवर्तन हुआ है। मिशनरी जब शिक्षा के अग्रदूत रहे हैं और उन्होंने इन क्षेत्रों में अस्पताल भी खोले, परन्तु वे जनजातीय लोगों को उनकी संस्कृति से विमुख करने के लिए भी उत्तरदायी हैं। कहा जाता है कि ईसाई मिशनरियों ने कई बार जनजातीय लोगों को भारत सरकार के विरुद्ध विद्रोह के लिए भी भड़काया है।

इस प्रकार जनजातीय व गैर-जनजातीय लोगों के बीच के सम्बन्ध खराब होने शुरू हो गए और गैर जनजातीय निवासियों को अर्ध सैन्य बलों के संरक्षण पर अधिक से अधिक निर्भर रहना पड़ रहा था। जनजातियों की अलग राज्य की माँग ने मिजोरम, नागालैण्ड, मेघालय, बिहार, मणिपुर, अरुणाचल प्रदेश और त्रिपुरा में सशस्त्र विद्रोह का रूप ले लिया। भारत के प्रति मैत्रीभाव न रखने वाले पड़ौसी देशों ने इन भारत विरोधी भावनाओं को भड़काने में सक्रियता शुरू कर दी। जनजातीय पट्टियों से घिरे इन राज्यों में विदेशी नागरिकों की घुसपैठ, गोलीबारी, मादक पदार्थों की तस्करी आज भी गम्भीर समस्याएँ हैं।

संक्षेप में, जनजातीय लोगों की प्रमुख समस्याएँ गरीबी, ऋणग्रस्तता, अशिक्षा, बन्धुआपन, शोषण, बीमारी और बेरोजगारी हैं।

स्वतंत्रता के बाद जनजातीय असन्तोष व समस्याएँ राजनीतिक हो गई हैं। अनेक जनजातीय क्षेत्रों में स्पष्टवक्ता तथा प्रभावी राजनीतिक अभिजात वर्ग का उदय हुआ है। यह अभिजात वर्ग जनजाति के लोगों के अधिकारों के प्रति जागरूक हैं और उनकी स्वीकृति प्राप्त करने के लिए नपे तुले कदम उठाने में सक्षम हैं। बिहार के झारखण्ड क्षेत्र और मध्य प्रदेश के बस्तर क्षेत्र के जनजातीय लोग इसके उदाहरण हैं। बिहार में तो फरवरी 2000 के चुनाव के बाद और इसी प्रकार मध्य प्रदेश में जनजातीय राजनैतिक नेता अलग राज्य बनाने के लिए राजी करने में सरकार को बाध्य करने में सफल हो गये। बिहार में अलग राज्य वनांचल (झारखंड) में 18 जिले दक्षिण बिहार के सम्मिलित हैं जिनमें 25 प्रतिशत जनजातीय जनसंख्या है। बृहत् झारखण्ड की माँग में बिहार, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा व मध्य प्रदेश के जनजातीय बहुल क्षेत्रों के 26 जिले हैं। मध्य प्रदेश में 61 जिलों में से 16 जिले छतीसगढ़ राज्य में शामिल किये गये हैं। जिन क्षेत्रों में जनजातीय नेतृत्व नहीं है, राजनैतिक दल, राष्ट्रीय, क्षेत्रीय या स्थानीय लोग खाली स्थान भरने के लिए

आगे आ रहे हैं। **एस.सी दुबे** (Tribal Situation in India, 1972, 30) ने भी कहा है कि जनजातीय लोगों की राजनीतिक अभिवृत्तियों और इन नीतियों में बदलाव दृष्टिगत हो रहा है। अब वे अनुपालन व स्वीकृति की राजनीति से दबाव और विरोध की राजनीति अपना रहे हैं। यह कहा जा सकता है कि जनजातियों की राजनीतिक संस्कृति में आमूल परिवर्तन हो रहे हैं। यह ग्राम्य राजनीतिक संस्कृति तथा भागीदारी की राजनीतिक संस्कृति विस्तृत राष्ट्रीय पहचान की बजाय उप-राष्ट्रीय संस्कृति पहचान की ओर अधिक उन्मुख हैं। जब छोटी इकाई (tribe) के हित बड़ी इकाई (राष्ट्र) के हितों से टकराते हैं तब राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा या त्याग करने की प्रवृत्ति बढ़ती है। इस परिदृश्य का फल यह होता है कि यह विशुद्ध जनजातीय हितों पर केन्द्रित तथा राष्ट्रीय हितों से अलग होकर उदीयमान राजनैतिक संस्कृति को ग्राम्य स्वरूप प्रदान करता है। दूसरी ओर भागीदारी को राजनीतिक संस्कृति में जनजातीय लोग नीतिनिर्माण सरकार के राजनीतिक निर्णयों पर प्रश्न पूछने तथा सुधारत्मक सुझाव देकर सक्रिय रुचि ले रहे हैं। (S.C. Dube Ibid 31)। इस प्रकार प्रमुख प्रकरण जनजातीय तथा राजनैतिक हितों का समन्वय है। दूसरे शब्दों में, जनजातीय समस्याओं को अलग से नहीं देखा जाना चाहिए बल्कि राष्ट्रीय जीवन में परिचालित रणनीतियों के रूप में देखना चाहिए।

## 1.11 जनजातीय आन्दोलन (Tribal Movements)

जनजातीय लोगों के अनेक आन्दोलन बिहार में 1972 से शुरू होकर आन्ध्र प्रदेश, अण्डमान निकोबार, अरुणाचल प्रदेश, असम, मिजोरम और नागालैण्ड तक हो चुके हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में विद्रोहों में संलग्न महत्वपूर्ण जनजातियाँ थी, मिजो (1910), कोल (1795, 1831), मुण्डा (1889), डफ्ला (1875), खासी और गारो (1829), (1839)। गोण्ड (1886); नागा (1844 और 1879), भुइयाँ (1868) और कोन्धं (1817)।

जनजातीय आन्दोलनों का वर्णन करने से पूर्व आन्दोलनों के प्रकारों की जानकारी आवश्यक है। **कैमेरान** (Cameron) ने इन्हें चार समूहों में बाँटा है। (1) प्रतिक्रियावादी (Reactionary), जो अतीत के अच्छे दिनों की वापसी चाहते हैं। लिन्टन (Linton) इन्हें पुनरुत्थानी (Revivalistic) आन्दोलन कहता है। (2) रूढ़िवादी (Conservative), जो समकालीन परिवर्तनों में बाधा डालने और यथास्थिति बनाए रखने के लिए आयोजित किए जाते हैं। लिन्टन इन्हें स्थिरतावादी (Perpetuative) आन्दोलन मानता है। (3) संशोधनकारी (Revisionary), जो विद्यमान रिवाजों में विशेष परिवर्तन एवं संस्कृति या सामाजिक व्यवस्था में सुधार या शुद्धीकरण चाहते हैं। ये कुछ संस्थाओं को कम करना भी चाहते हैं, यद्यपि यह आन्दोलन मौजूदा समूची संरचना को बदलना नहीं चाहते हैं। ये आन्दोलन 'सामाजिक गतिशीलता' आन्दोलन भी कहे जाते हैं। ये आन्दोलन अधिकतर निम्न जातियों में होते हैं लेकिन जनजातियों में नहीं। (4) क्रांतिकारी (Revolutionary), जो मौजूदा सामाजिक व्यवस्था या संस्कृति को किसी प्रगतिवादी व्यवस्था से समूल प्रतिस्थापित करना चाहते हैं। इस आन्दोलन को पुनरुद्धार आन्दोलन का नाम भी दिया गया है।

पूर्वकालीन भारत में अधिकतर जनजातीय आन्दोलन धार्मिक उथल-पुथल के फलस्वरूप हुए, जैसे बौद्धत्व, वैष्णवाद। कुछ वैष्णव आन्दोलन मणिपुर में मैथेई (Meithei), पश्चिम बंगाल में भूमिज, असम में नोक्ते नागा, उड़ीसा में बाथुडी, बिहार में झारखण्ड की जनजातियों तथा दक्षिण भारत में हुए। इन आन्दोलनों को धार्मिक आन्दोलन भी कहा गया है। ये मध्य भारत के गोण्ड जनजातियों में तथा उड़ीसा में कोण्ड और राजस्थान में भीलों में भी हुए। अंग्रेजों को भी 19वीं तथा 20वीं शताब्दी में कुछ आन्दोलनों का सामना करना पड़ा था जब उन्होंने सिंह का शिकार, मानव बलि, या उत्तर-पूर्वी भारत में गुलामी को रोकने का प्रयास किया। बिहार, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा और मध्य भारत के राज्यों में जमीदारों के अत्याचारों, महाजनों, पुलिस और वन अधिकारियों के द्वारा उत्पीड़न के विरुद्ध भी आन्दोलन हुए। भगत आन्दोलन छोटा नागपुर के औराँवों और राजस्थान के भीलों में हुए थे। ये आन्दोलन जानवरों के भोजन, मद्य और रक्त बलि को रोकने के लिए पुनरुत्थानी आन्दोलन थे।

स्वतंत्रता के बाद जनजातीय आन्दोलनों को तीन समूहों में बाँटा जा सकता है।

1. बाहरी लोगों के शोषण के कारण आन्दोलन (जैसे सन्थाल और मुण्डा लोगों का)

नोट

2. आर्थिक वचनाओं के कारण (जैसे मध्य प्रदेश में गोण्ड तथा आन्ध्र प्रदेश में मेहर)
3. पृथकतावादी प्रवृत्तियों के कारण आन्दोलन (जैसे नागा और मिजो लोगों का)।

जनजातीय आन्दोलनों को चार प्रकार के अन्य आधारों पर भी बाँटा जा सकता है। (1) राजनैतिक स्वायत्तता तथा राज्यों का निर्माण चाहने वाले आन्दोलन (नागा, मिजो, झारखण्ड), (2) कृषि आन्दोलन, (3) वन आधारित आन्दोलन, और (4) सामाजिक-धार्मिक या सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन (भगत आन्दोलन, राजस्थान व मध्य प्रदेश में भीलों का, दक्षिण गुजरात में जनजातियों में, या सन्थालों में रघुनाथ मुरमू (Raghunath Marmu) का आन्दोलन।

ऐसा सुधारात्मक आन्दोलन मुण्डा लोगों के धर्ती अबा (Dharti Aba) के करिश्माई नेतृत्व में रिपोर्ट किया गया जो संस्कारों की शुद्धता, नैतिकता और संन्यासवाद (asceticism) के हिन्दू आदर्शों का उपदेश देता था और पुजारियों की पूजा की आलोचना करता था। मध्य प्रदेश में गोण्ड लोगों में करिश्माई लोगों द्वारा चलाए गए धार्मिक व सामाजिक गतिशीलता से सम्बद्ध आन्दोलन चलाए गए थे जो क्षत्रिय प्रस्थिति का दावा कर रहे थे और धार्मिक व सामाजिक संस्थाओं का शुद्धिकरण चाहते थे।

सुरजीत सिन्हा ने पाँच प्रकार के जनजातीय आन्दोलन बताए हैं–

1. 18वीं तथा 19वीं शताब्दी के दौरान ब्रिटिश शासन काल में नृजातीय (ethnic) विद्रोही आन्दोलन, जैसे मुंडा लोगों का बिरसा आन्दोलन, 1832 में कोल विद्रोह, 1857-58 में सन्थाल विद्रोह, और 1880 के दशक में नागा विद्रोह।
2. उच्च हिन्दू जातियों से प्रतिस्पर्धा करते हुए सुधारात्मक आन्दोलन, ओराँवों में भगत आन्दोलन, भूमिजों का वैष्णव आन्दोलन, सन्थालों में खेरवार आन्दोलन।
3. स्वतंत्रयोत्तर काल में भारतीय संघ के भीतर ही जनजातीय राज्यों के लिए राजनैतिक आन्दोलन, जैसे छोटा नागपुर तथा उड़ीसा में झारखण्ड आन्दोलन, तथा असम व मध्य प्रदेश में पहाड़ी राज्य आन्दोलन आदि।
4. पृथक्कतावादी (Secessionist) आन्दोलन, जैसे नागा व मिजो आन्दोलन।
5. कृषि अशान्ति से सम्बन्धित आन्दोलन, जैसे नक्सलवादी आन्दोलन (1967) और बिरसादल आन्दोलन (1968-69)।

यदि हम सभी आन्दोलनों पर विचार करें जिनमें नागा आन्दोलन (1946 में शुरू होकर 1972 तक चला जब नयी सरकार सत्ता में आई और नागा विद्रोह पर नियंत्रण प्राप्त कर लिया गया), मिजो आन्दोलन (गुरिल्ला युद्ध जो अप्रैल 1970 में मेघालय राज्य के गठन के बाद समाप्त हुआ और 1972 में असम और मिजोरम से उत्पन्न हुआ था), गोण्ड राज्य आन्दोलन (जो 1941 में अलग राज्य के लिए मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र के गोण्ड लोगों द्वारा चलाया गया और जो 1962-63 में अपनी चरम सीमा पर पहुँचा), नक्सलवादी आन्दोलन (जो बिहार, पश्चिमी बंगाल, आन्ध्र प्रदेश और असम में चला), कृषि आन्दोलन (मध्य प्रदेश में गोण्ड और भीलों द्वारा चलाया गया) और वनों पर आधारित (परम्परागत वन अधिकारों के लिए गोण्ड लोगों द्वारा चलाया आन्दोलन) आदि सम्मिलित हैं तो यह कहा जा सकता है कि जनजातीय अशान्ति के फलस्वरूप आन्दोलन ऐसे आन्दोलन थे जो (*i*) अत्याचारों और भेदभाव, (*ii*) उपेक्षा व पिछड़ेपन और (*iii*) ऐसी सरकार के विरुद्ध थे जो जनजातीय गरीबी, भूख, बेरोजगारी और शोषण के प्रति उदासीन थी और जो सरकार से मुक्ति के लिए छेड़े गए थे।

हाल ही में (विशेष कर बिहार और मध्य प्रदेश में) जनजातीय आन्दोलन में राजनीतिज्ञों और विद्वानों द्वारा अधिक रुचि दिखाई गई थी। बिहार के आन्दोलन को 'झारखण्ड आन्दोलन' के नाम से जाना जाता है। छोटा नागपुर में ओराँव, मुण्डा और हो प्रमुख जातियाँ हैं। उनकी कुल जनसंख्या 50 लाख है जो राज्य की कुल जनजातीय संख्या का 10 प्रतिशत है। यह आन्दोलन छोटा नागपुर में छोटा नागपुर उन्नति समाज द्वारा चलाया गया था जिसका नेतृत्व कुछ शिक्षित जनजातीय ईसाइयों ने किया था। बाद में समाज का नाम आदिवासी सभा कर दिया गया। 1938 में इसने अपने आपको एक राजनैतिक दल का रूप दे दिया जो

आदिवासियों के हितों के लिए संघर्ष करने लगी। जिसका नाम झारखण्ड पार्टी रखा गया। भाजपा-नीत केन्द्र सरकार ने 1998 के अन्तिम भाग में तथा 1999 के प्रारम्भ में पृथक झारखण्ड राज्य बनाने का प्रस्ताव रखा (जिसका नाम वनांचल दिया गया जिसमें 6 जिले तथा दो सम्भाग (division)–बिहार के छोटा नागपुर और सन्थाल शामिल थे)। अगस्त 2000 में सदन में बिल पास कर नवम्बर 2000 में बिहार के 55 जिलों में से 18 जिलों का झारखण्ड राज्य बनाया गया।

नोट

जनजातीय आन्दोलनों के कारणों की व्याख्या के लिए उनके शोषण के दो उदाहरण दिए जा सकते हैं। स्वतंत्रता के समय आन्ध्र-प्रदेश में एक सरकारी आदेश मौजूद था जिसके अनुसार सभी भूमि सम्बन्धी सौदे आदिवासियों के पक्ष में ही होते थे। 1974 में तत्कालीन कांग्रेस सरकार ने एक आदेश पारित किया जिसके द्वारा गैर आदिवासियों को 15 एकड़ भूमि (5 एकड़ पानीवाली तथा 10 एकड़ शुष्क) रखने की अनुमति दी गई। इस आदेश के बाद गैर-आदिवासियों ने बड़ी मात्रा में भूमि हथिया ली। आदिवासियों ने दावा किया कि गैर आदिवासियों ने 1974-1984 के बीच 30,000 एकड़ भूमि पर कब्जा कर लिया है। इस अवधि में लगभग 2000 भूमि विवाद न्यायालय में थे और लगभग 400 आदिवासी अभियुक्त ठहराए गए। 1994 में तेलुगुदेशम सरकार ने पूर्व आदेशों को निरस्त कर दिया जिसके कारण गैर आदिवासियों ने रक्षात्मक स्थिति अपना ली। क्रान्तिकारियों ने आदिवासियों को सामन्तवादियों तथा गैर-आदिवासियों के विरुद्ध संगठित किया। गोण्ड आदिवासियों और गैर-आदिवासियों के बीच हिंसा की घटनाएँ घटीं। गैर आदिवासियों ने संघर्ष किया। उन्होंने आदिवासियों के झोंपड़े जलाए, महिलाओं पर अपराधिक हमले किए आदिवासियों की हत्या की और उन्हें बन्धुआ मजदूरी के लिए बाध्य किया। एक अन्य घटना में 21 गैर आदिवासी जिन पर जंगल से जलाने की लकड़ी चुराने का आरोप था, आदिवासियों द्वारा पकड़ कर बन्द कर दिए गए जब तक कि पुलिस ने उन्हें मुक्त नहीं कराया।

दूसरा मामला एक आदिवासी सम्मेलन के संदर्भ में है जो फरवरी 1984 में महाराष्ट्र के नागपुर के पास विदर्भ क्षेत्र में हुआ था। सम्मेलन का स्थान था ग्राम कमालपुर जिसकी आबादी 1000 थी। सम्मेलन में 20,000 लोगों के आने की आशा थी। इसका उद्घाटन नागपुर उच्च न्यायालय अधिवक्ता संघ के अध्यक्ष द्वारा किया जाना था और इसकी अध्यक्षता एक नाटक लेखक, फिल्म निर्देशक तथा सिने-कलाकार द्वारा की जानी थी। सम्मेलन से दो दिन पूर्व सम्मेलन स्थल तक के सभी रास्ते सील कर दिए गए, 1000 व्यक्ति गिरफ्तार किए गए और 5 से अधिक व्यक्तियों के एक साथ इकट्ठा होने पर निषेध आज्ञा लागू कर दी गई। मजे की बात यह कि गिरफ्तार लोगों पर निषिद्ध साहित्य ले जाने का आरोप लगाया गया कहा गया कि वे लोग जंगल में पेड़ गिरा रहे थे, वन सम्पदा की चोरी कर रहे थे। स्वागत समिति के अध्यक्ष को वन संपत्ति की चोरी के आरोप में गिरफ्तार किया गया, अन्य लोगों में संगीतकार थे जिन्हें सम्मेलन में कार्यक्रम प्रस्तुत करना था इस प्रकार के सम्मेलन में जहाँ केवल कुछ प्रस्ताव पारित किये जाते और कुछ गर्म भाषण होते, वहाँ सम्मेलन-स्थल एक लड़ाई का मैदान ही बन गया था।

यह सब कुछ यह दर्शाता है कि जब कानून आदिवासियों की सहायता न करे, सरकार कठोर हो जाये, और पुलिस उन्हें बचाने में असमर्थ हो और परेशान करे, तो वे शोषकों के विरुद्ध हथियार तो उठाएँगें ही। उपरोक्त आन्दोलन दर्शाते हैं कि आदिवासियों ने अपनी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए दो रास्ते अपनाए (*a*) हिंसा और विद्रोह के बिना सरकार से बातचीत और सौदेबाजी का रास्ता और (*b*) आदिवासियों की संघर्ष शक्ति का विकास कर विद्रोह और सैन्य संघर्ष का रास्ता अपनाकर। इन दोनों ही रास्तों के परिणाम भिन्न हैं। एक रास्ता संघर्षपरक सुधार के लिए है जबकि दूसरा रास्ता समुदाय के संरचनात्मक परिवर्तन की ओर संकेत करता है। यह तथ्य कि आदिवासी समस्याओं से जूझते जा रहे हैं और असंतोष तथा वचना भाव से भी पीड़ित है, इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि दोनों ही रास्तों से वे अपने लक्ष्यों तक नहीं पहुँच सके हैं।

### *जनजातीय नेतृत्व (Tribal Leadership)*

आदिवासी आन्दोलनों को प्रारम्भ करने और प्रोत्साहित करने में आदिवासी नेतृत्व के विषय में एलपी विद्यार्थी द्वारा दी गई जानकारी को मानते हुए हम आदिवासी नेतृत्व की कई विशेषताएँ बता सकते हैं–

1. आदिवासी नेतागणों में उप राष्ट्रवादी (sub-nationalism) पाये जाते हैं।
2. नेता आमतौर पर वे हैं जो आधुनिक शक्तियों के प्रभाव में हैं।
3. ईसाईयत और पश्चिमी शिक्षा वाला नेतृत्व का बाहरी मॉडल जो कई आदिवासी क्षेत्रों में कई दशाब्दियों तक एक मात्र मॉडल रहा है, अब उसके बाहरीपन में परिवर्तन आ रहा है। उदाहरण के लिए, झारखण्ड पार्टी जिस पर ईसाई आदिवासियों का प्रभुत्व रहा था और जो आवश्यक रूप से ईसाई धर्मान्तरित व्यक्तियों (converts) के एकीकरण (consoldution) के लिए प्रारम्भ की गई थी, ने अपना क्षेत्र तेजी से बढ़ा लिया और हिन्दू आदिवासी और गैर-आदिवासी इससे जुड़ने लगे और इस पार्टी ने क्षेत्र की आवश्यकताओं एवं समस्याओं पर जोर देना शुरू किया। धर्मनिरपेक्ष उद्देश्यों, राजनैतिक दबावों और बहकावों और राजनैतिक सुविधा के साथ अब इन नेताओं की कार्यप्रणाली में उल्लेखनीय परिवर्तन देखे जा सकते हैं।
4. जहाँ एक ओर क्षेत्रीय और राज्य स्तरीय नेतृत्व आधुनिक लोकतांत्रिक हितों के साथ मिलकर चल रहा है, वहीं दूसरी ओर गाँवों के भीतरी भागों में नेतृत्व अभी भी संस्थात्मक, औपचारिक तथा वंशानुगत है।
5. कभी कभी आदिवासी नेता अपने राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अन्य राजनैतिक दलों के नेताओं के साथ हाथ मिला लेते हैं।
6. नेताओं द्वारा उठाए गए प्रकरण आमतौर पर वे होते हैं जिनकी अभिव्यक्ति जनजातीयवाद, क्षेत्रवाद, स्थानीयवाद और कभी-कभी धार्मिक अतिवाद में होते हैं।
7. नेता ग्राम्य आधारित एवं शहरीकृत दोनों होते हैं। साथ ही वे परम्परापरक एवं आधुनिक दृष्टिकोण वाले भी होते हैं। वे हिन्दू व ईसाई भी होते हैं।
8. नेतागण अधिक शिक्षित नहीं होते बल्कि धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक सभी विचारधाराओं के होते हैं।

### *आदिवासी महिलाएँ (The Tribal Women)*

स्त्रियों की 'प्रस्थिति' का अर्थ है–(*i*) गृहणी, श्रमिक, और नागरिक के रूप में स्त्रियों की स्थिति (*ii*) इन स्थितियों से जुड़ी हुई शक्ति व प्रतिष्ठा, और (*iii*) वे अधिकार और कर्त्तव्य जिनकी उनसे अपेक्षा की जाती है। **मेसन** (Mason, 1984) ने संकेत किया है कि स्त्रियों की प्रस्थिति के तीन पक्ष हैं प्रतिष्ठा, शक्ति, एव स्वायत्तता, (शिक्षा, विवाह, रोजगार और स्वास्थ्य रक्षा आदि मामलों में निर्णय लेने की आजादी)।

सभी जनजातियों में स्त्रियों की प्रस्थिति एक समान नहीं है। यह एक जनजाति से दूसरी में भिन्न है। आदिवासियों में स्त्रियों की प्रस्थिति इतनी निम्न है कि उन्हें ज्ञान, (आर्थिक संसाधनों, और सत्ता का ज्ञान) नहीं है। उनकी व्यक्तिगत स्वायत्तता तो निम्नतम स्तर की है। यद्यपि श्रम शक्ति में स्त्रियों की भागीदारी बहुत कम है, फिर भी अधिकतर आदिवासी महिलाएँ आर्थिक स्थिति के विचार के बिना ही काम करती हैं। वे आर्थिक क्रियाकलापों में पुरुषों के लगभग समान जिम्मेदारी का पालन करती हैं। जब पुरुष लोग अन्य नगरों या कस्बों में काम करते हैं, तब स्त्रियाँ खेती का काम करती हैं। यदि हम शिक्षा को प्रस्थिति का सामाजिक आर्थिक सूचक मानें, तब देखेंगे कि इन स्त्रियों की साक्षरता दर कम है। जब हमारे देश में महिलाओं की सामान्य साक्षरता दर 1991 में 39.3 प्रतिशत थी तब आदिवासी महिलाओं की यह दर मात्र 18.19 प्रतिशत थी। सबसे अधिक साक्षरता प्रतिशत जनजातीय महिलाओं में प्राथमिक स्तर तक है। इस असमानता के कारण गाँवों में स्कूलों की अनुपलब्धता, स्त्री शिक्षकों की अनुपलब्धता, प्रचलित परम्परागत मूल्यों के कारण लड़कियों को स्कूल भेजने में शर्म महसूस करना, माँ के काम पर चले जाने के बाद लड़कियों को छोटे शिशुओं की देखभाल के काम में प्रयोग करना, तथा घरेलू कामकाज में लड़कियों की सहायता की आवश्यकता। आदिवासी महिलाओं को भूमि को रखने का अधिकार नहीं है। स्त्रियों को अपनी सम्पत्ति के अधिकार का ज्ञान नहीं है। उनकी राजनैतिक चेतना भी बहुत कम है क्योंकि वे न तो अखबार पढ़ती हैं, और न ही रेडियो या टी.वी. पर समाचार सुनती हैं। सूक्ष्मतम ग्रामीण सत्ता संरचना में भी उनका

कोई स्थान नहीं होता है। आदिवासी समितियों और ग्राम पंचायतों में भी उनका प्रतिनिधित्व बिल्कुल कम है। यद्यपि कुछ आदिवासी समुदाय हैं, जैसे मीणा, सेमा, नागा और थारु आदि जिनमें स्त्रियों की स्थिति किसी प्रकार से भी कम नहीं कही जा सकती।

आदिवासी समाजों में विधवाओं की गम्भीर समस्या नहीं है। वे विधवा पुनर्विवाह के लिए स्वतंत्र हैं। कुछ जनजातियाँ ऐसी हैं जिनमें विधवा अपने मृत पति के छोटे भाई से विवाह कर सकती हैं (देवर विवाह)। वधू मूल्य (bride Price) परिपाटी ने स्त्रियों की प्रतिस्थिति को नहीं उठाया है बल्कि इससे स्त्रियों को क्रय-विक्रय की वस्तु समझा जाता है जिससे उनका अपमान ही होता है। कई जनजातीय समाजों में तलाक की अनुमति है। तलाक की प्रक्रिया भी सरल है क्योंकि इसमें परस्पर सहमति आवश्यक होती है। एक अनौपचारिक संस्कार तथा वधू मूल्य की वापसी से ही तलाक हो जाता है।

नोट

## 1.12 आदिवासी परिवर्तन : संरक्षात्मक भेदभाव और आदिवासी कल्याण एवं विकास
## (Tribal Transition : Protective Discrimination and Tribal Welfare and Development)

आदिवासी परिवर्तन का अर्थ आदिवासी कल्याण या आदिवासी विकास है। आदिवासियों के पुनर्वास और विकास के लिए भारत में लागू किए गए सरकारी कार्यक्रम अपने लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सके हैं तथा स्वतंत्रता के बाद से ही आदिवासी सर्वहारावाद कायम रहा है। इसमें आश्चर्य नहीं कि न केवल 1970 के व 1980 के दशकों में विभिन्न विद्वानों का ध्यान (1971 में) (एल.पी. विद्यार्थी बिहार में, 1974 में महाराष्ट्र में ए.के. डान्डा और एम.जी. कुलकर्णी, तथा 1971 में आन्ध्र प्रदेश में रंजीत गुप्ता और एम.बी.टी. राजू) आदिवासी समस्याओं की ओर गया बल्कि 1990 के दशक में भी विद्वानों का ध्यान इस विषय पर गया।

### *जनजातीय कल्याण (Tribal Welfare)*

आदिवासियों की समस्याओं के समाधान के लिए ब्रिटिश शासकों द्वारा अपनाए गए कुछ उपायों में आदिवासियों की जमीन व वन अधिग्रहण करना, और कुछ आदिवासी क्षेत्रों को पूर्णरूपेण पृथक या आंशिक रूप से पृथक घोषित करना शामिल थे। लेकिन ब्रिटिश सरकार ने भी ईसाई मिशनरियों के सहयोग से काफी संख्या में अस्पताल और स्कूल आदिवासी क्षेत्रों में खोले थे जिन्होंने अनेक आदिवासियों को ईसाई बना लिया। इस प्रकार आदिवासी, ब्रिटिश युग में औपनिवेशिक-सामन्ती अधीनता, नृजातीय पूर्वाग्रहों, अशिक्षा, गरीबी और एकाकीपन के शिकार बने रहे।

स्वतंत्रता के बाद आदिवासी हितों की सुरक्षा तथा उनके कल्याण व विकास के क्रियाकलापों को प्रोत्साहित करने के लिए संविधान में प्रावधान किए गए। गान्धीजी और ठक्कर बप्पा ने भी आदिवासियों के बीच कुछ अग्रगणीय कार्य किए। नेहरू ने भी आदिवासी परिवर्तन के लिए पंचशील की नीति प्रारम्भ की जो पाँच सिद्धान्तों पर आधारित थी।

1. उन पर बहुसंख्यक संस्कृति को थोपने से उन्हें दूर रखना और हर प्रकार से उनकी परम्परागत कला व संस्कृति को प्रोत्साहन देना।
2. भूमि व वनों पर आदिवासी अधिकारों का समादर।
3. बाहर से कुछ प्राविधिक कर्मियों की सहायता से आदिवासी नेताओं को प्रशासनिक व विकास कार्यक्रमों का प्रशिक्षण देना।
4. आदिवासी क्षेत्रों को अधिक प्रशासन से दूर रखना।
5. परिणामों का आकलन व्यय किए गए धन के आधार पर नहीं बल्कि किस प्रकार का मानव चरित्र विकसित हुआ इस आधार पर किया जायेगा।

1960 में अनुसूचित जनजाति आयोग यू.एन. ढेबर की अध्यक्षता में आदिवासियों की उन्नति के लिए गठित किया गया। पाँचवी पंचवर्षीय योजना के बाद 1980 में जनजातीय उप-नीति (Tribal Sub Plan-TSP) बनाई गई जिसमें दो बातें थी। (*i*) जनजातियों का आर्थिक-सामाजिक विकास (*ii*) शोषण से आदिवासियों का बचाव। टी.एम.पी. के लिए धनराशि राज्य सरकारों और केन्द्रीय मान्यताओं से प्रदान की गई।

परन्तु टी.एस.पी. परिणाम अब तक किए गए अत्यधिक निवेश और आकांक्षाओं के अनुरूप नहीं रहे हैं क्योंकि अधिकतर राज्यों में आधारभूत संरचना के विकास पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है तथा उसको जनजातियों के विकास के अनुरूप बनाने की उपेक्षा की जा रही है। टी.एस.पी. योजनाएँ कृषि, पशु पालन, सहकारिता, जनजातीय शिक्षा आदि क्षेत्रों में परिवारोन्मुख आय पैदा करने वाली योजनाओं पर बल देती हैं यद्यपि इनमें शिक्षा, स्वास्थ्य तथा आवास पर भी बल दिया जा रहा है।

सातवीं, आठवीं व नौवीं पंचवर्षीय योजनाओं में (1985-1990) जनजातियों के कल्याणकारी कार्यक्रमों का उद्देश्य था। (1) आर्थिक दशा सुधारने के लिए कृषि, पशुपालन, वानिकी, घरेलू एव लघु उद्योगों में उत्पादन स्तर को बढाना, (2) बन्धुआ मजदूरों का पुनर्वास, (3) शिक्षा और प्रशिक्षण कार्यक्रम, (4) स्त्रियों और बच्चों के लिए विशेष विकास कार्यक्रम। लेकिन आदिवासियों के लिए एकीकृत कार्यक्रमों ने इन कार्यक्रमों की अपर्याप्तताओं को उजागर कर दिया है।

## 1.13 परसंस्कृतिग्रहण और जनजातीय संस्कृति में परिवर्तन (Acculturation and Changes in Tribal Culture)

"समाज या समुदाय के व्यक्तियों के नैतिक सिद्धान्तों, धार्मिक विश्वासों, व्यवहार, विचारों, अभिवृत्तियों एवं ज्ञान में परिवर्तन" ही सांस्कृतिक परविर्तन है। सांस्कृतिक परिवर्तन एक प्रकार की बहुकारकीय प्रक्रिया है। **राहा और दुबाश राय** (Raha and Dubash Roy, 1997, 149, 159) ने अनेक कारक चिह्नित किए हैं जिनसे आदिवासी संस्कृति में परिवर्तन आए हैं। ये हैं सरकार द्वारा किए गए उपाय, संचार सुविधाएँ, शिक्षा का प्रसार, नगरीकरण की प्रक्रिया, सामुदायिक विकास योजनाएँ, शहरी क्षेत्रों में पड़ोसी हिन्दुओं के साथ 'बार-बार' सम्पर्क, आदिवासी क्षेत्रों में बाँधों का निर्माण, ईसाइयत का प्रभाव, बैंक ऋणों की सुविधाएँ, आधुनिक स्वास्थ्य सुरक्षा, सहकारी समितियाँ, आधुनिक कानून, नकद धन और बाजार अर्थव्यवस्था और सुधारवादी आन्दोलन आदि।

जनजाति-जाति अन्तर्क्रिया तथा परसंस्कृतिग्रहण की प्रक्रिया विभिन्न जनजातियों में विभिन्न राज्यों में पाई जाती है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण विनय कुमार पटनायक के उड़ीसा के गाँव घोराबार में सबरस जनजाति के अध्ययन में बताया गया है जो 280 लोगों के 235 घरों की कुल संख्या के 5 प्रतिशत हैं (See, George Pfeffer, Contemporary Society Tribal Studies, 1997, 317-329)। इस जनजाति द्वारा परसंस्कृतिग्रहण की प्रक्रिया में से गुजरना निम्न-लिखित परिवर्तनों में देखा जा सकता है।

1. इस जनजाति में संरचनात्मक परिवर्तन समतावाद (egalitarianism) के त्याग (कम से कम कार्यात्मक निर्भरता के साथ) और जाति प्रथा के स्वीकार करने में देखा जा सकता है जिससे उस समुदाय में स्तरीकरण का प्रारम्भ हो रहा है।
2. यह समुदाय संस्तरणात्मक रूप में (hierarchically) संस्कारों की श्रेष्ठता के आधार पर चार खण्डों में विभाजित है जो हिन्दू वर्ण व्यवस्था से मिलता-जुलता है। चारों विभागों में कार्यात्मक (occupational) विभाजन भी है, जैसे चारों वर्णों में क्रमश: शिकार और युद्ध, पूजा पाठ, कृषि, तथा नृत्य व गायन है। अन्तर यह है कि जहाँ वर्ण व्यवस्था में पूजा पाठ का सर्वोच्च संस्कारिक स्थान है, इस जनजाति में इसका दूसरा स्थान है। दूसरे, इस सबरस जनजाति में शुद्धता और अशुद्धता नहीं है जैसा कि जाति प्रथा में पाया जाता है। इस प्रकार, सबरस अलग जाति के रूप में स्वीकृत हैं और गाँव में जनजाति नहीं माने जाते।
3. जाति प्रथा की तरह सबरस जनजाति में भी प्रत्येक उप-जाति की अपनी पंचायत है जो समुदाय के रीति-रिवाजों और निषेधों पर निगाह रखते हैं।
4. सबरस जाति का प्रत्येक उप विभाजन स्वयं को तीन सबरसों का उत्तराधिकारी मानता है जो कि हिन्दू पौराणिक कथाओं—महाभारत और रामायण में आते हैं।
5. हिन्दू संस्कृति के चिह्न सबरस विवाह रीतिरिवाजों में पाए जाते हैं यद्यपि अन्तर्जातीय विवाह नहीं होते। बहु-विवाह प्रथा निषिद्ध है। वधू मूल्य का स्थान दहेज ने ले लिया है।

नोट

सबरस लोगों के द्वारा हिन्दू, मूल्यों का अनुपालन, संस्कृतीकरण न कहकर परसंस्कृतिग्रहण इस कारण कहा जाता है क्योंकि (क) परसंस्कृतिग्रहण का लाभ उच्च सरकारी प्रतिस्थिति प्राप्त न करना होकर आर्थिक लाभ प्राप्त करना है। जाति के रूप में हिन्दू पक्ष में शामिल होने से उन्हें लकड़ी काटने और टो. करी बनाने का कार्य स्थाई रूप से दे दिया गया है। वनों के कट जाने के बाद वे कृषि मजदूर हो गए हैं। (ख) गतिशीलता के लिए अपनाया गया मॉडल ब्राह्मण वाला न होकर वैश्य मॉडल है जो सरकारी श्रेष्ठता की अपेक्षा आर्थिक श्रेष्ठता को ही श्रेष्ठ मानता है। क्योंकि सबरस अपने व्यवसायों के तेलियों पर निर्भर रहते हैं इसलिए उन्होंने तेलियों को सन्दर्भ-समूह के रूप में स्वीकार कर लिया।

यदि हम भारत में जनजाति संस्कृति में परिवर्तन का परीक्षण करें तो हमें छः मुख्य परिवर्तन मिलेंगे। वे इस प्रकार हैं–

1. आदिवासियों की जीवन शैली, विशेष रूप से जो शहरी क्षेत्रों के निकट या गैर-आदिवासी बाहुल्य क्षेत्रों में रहते हैं, उन्नत (advanced) हिन्दुओं की संस्कृति के अनेक लक्षण धारण करने के कारण अपरिवर्तनीय रही हैं।
2. परिवर्तन की प्रकृति ऐसी है कि जनजातियाँ न तो अपनी पहचान खो रही हैं और न ही अपनी सांस्कृतिक विरासत ही। वे हिन्दू नहीं हो रहे हैं। अनेक विद्वानों ने इसे वह प्रक्रिया बतायी है जिसमें आदिवासी हिन्दूवाद (की प्रक्रिया) से गुजर रहे हैं। ये विद्वान है बोम (1953), दत्ता मजूमदार (1937), देवगावकर (1990), राहा और देबाश राय (1997. 153)। इन्होंने पाती सभा (असम), हो और लुआग (उड़ीसा), सन्थाल (बिहार), भूमिज, ओराँव, मुण्डा और कोरकू (महाराष्ट्र) आदि को सन्दर्भित किया है। हमारी मान्यता है कि हिन्दुओं के कुछ सांस्कृतिक तत्व अपनाने का अर्थ हिन्दू होना नहीं है। हमारे तर्क में यह तथ्य अधिक महत्त्वपूर्ण है कि ये आदिवासी अभी भी अपने आपको जनजाति ही कहते हैं, न कि हिन्दू।
3. भारत के कुछ भागों में कुछ आदिवासियों ने ईसाइयत के कुछ गुणों को भी धारण कर लिया है जैसे नागा, मिजो, सन्थाल, ओराँव, मुण्डा, खरिया, आदि। इन पर ईसाइयत का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। इसका साक्ष्य हमें दत्ता मजमूदार (1950), सहाय (1976), सच्चिदानन्द (1964) और एन.के. बोस (1967) के द्वारा आदिवासियों के सूक्ष्मस्तरीय अध्ययन से लगता है।
4. छोटा नागपुर के आदिवासी, जो असम व उत्तर बंगाल चाय बगानों में श्रमिकों की तरह कार्य करते हैं, उनमें परिवर्तन धार्मिक विश्वासों और प्रथाओं की अपेक्षा भौतिक जीवन में अधिक देखा जा सकता है। जो उद्योग में काम करते हैं उनमें प्रदत्त आर्थिक सुरक्षा के कारण वैयक्तिक दृष्टिकोण विकसित हुआ है जिसने उनमें परम्परागत जीवन के प्रति उपेक्षा भाव विकसित किया है।
5. आदिवासी क्षेत्रों में कृषि उद्योगीकरण ने आदिवासियों के जीवन को इस हद तक प्रभावित किया है कि परिवार की संरचना, विवाह संस्था, सत्ता संरचना अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध, वंश पंचायत सत्ता का कमजोर होना आदि परिवर्तन तक देखे जा सकते हैं। मजदूर संघों का भी आदिवासी श्रमिकों पर काफी प्रभाव पड़ा है। आदिवासी मजदूरों ने स्वयं को 'वर्ग' के रूप में संगठित कर लिया है जिससे उनके सक्रिय राजनीति में भाग लेने के अवसर बढ़ गए हैं। वे आदिवासी जो लम्बे समय से खदानों (mines) और कोयले की खानों में काम कर रहे हैं अपने समुदाय के लोगों से सम्बन्ध नहीं रख पाते हैं जिसके कारण उन्हें खानों के कार्य में ही लिप्त रहने के लिए बाध्य होना पड़ता है। इससे उन्हें कई सामाजिक प्रथाओं को छोड़ना पड़ता है और नई अभिवृत्तियाँ और व्यवहार प्रतिमानों को अपनाना पड़ता है। सच्चिदानन्द (1964) ने बिहार के मुण्डा और ओराँव जनजातियों में ऐसे परिवर्तनों के विषय में बताया है। आर. चन्द्रा (1989) ने भी उड़ीसा की अरुला और जुआग जनजातियों के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में परिवर्तनों की बात कही है जो परम्परागत रूप से शिकार, भोजन एकत्र करने और स्थानान्तण खेती (Shifting cultivation) के आदी थे लेकिन वे अब बागानों, कृषि व मजदूरी

नोट

में स्थापित हो गए हैं। उन्होंने प्रगतिशील दृष्टिकोण अपना लिया है तथा स्कूल, बैंक, सहकारी समितियों तथा चिकित्सा आदि की सुविधाओं का लाभ उठाने लगे हैं।

6. आधुनिक शक्तियों के प्रभाव के कारण आधुनिक मूल्यों को अपनाना तथा परम्परागत प्रथाओं का त्याग आदिवासियों को लाभदायक सिद्ध नहीं हुआ। अनेक जनजातियाँ कुसमायोजन की समस्या का सामना कर रही हैं। आर जोशी (1984) के अनुसार, बैगा जनजाति ऐसी ही एक जनजाति है जिसके सदस्य पूर्व में हँसी-खुशी से तथा सन्तुष्ट रहने वाले लोग थे, जो नृत्य तथा महुआ पीने में शाम व्यतीत किया करते थे, जिनके पास जमीनें तो थी किन्तु चिह्नित पट्टे नहीं थे, जिनकी स्त्रियाँ निर्भय होकर सोने-चाँदी के आभूषण पहनती थीं, लेकिन वे अब भयभीत रहती हैं और स्वार्थी लोगों द्वारा ठगी जा रही हैं। खुशी की जगह दुखों ने ले ली है।

अत: यह स्पष्ट है कि आदिवासी विभिन्न ताकतों के सम्पर्क में आने से सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक दृष्टि से काफी बदल गए हैं जिनसे उन्हें कई प्रकार के लाभ हुए हैं लेकिन उनके समुदायों में कई बुराइयों ने भी प्रवेश कर लिया है। अनेक आदिवासी भूमि व वनों पर अपना वर्चस्व खो चुके हैं। उन्हें बड़े महाजनों, ज़मीदारों व्यापारियों द्वारा कई मामलों में शोषण किया जाता है। इसके बावजूद भी हम बेरियर एलविन जैसे विद्वानों के विचारों का समर्थन नहीं कर सकते जो आदिवासियों को आंशिक रूप से या पूर्ण रूप से अलग रखने के पक्षधर हैं और जिन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि इन लोगों को जहाँ तक सम्भव हो अपने आदिवासी जीवन को मूल रूप में तथा परम्परागत ढंग से रहने की अनुमति दी जानी चाहिए। यद्यपि हम यह नहीं चाहते कि आदिवासी संस्कृति नष्ट हो जाये लेकिन साथ ही हम यह भी नहीं चाहते कि वे पिछड़े हुए रहें और विकास की विभिन्न योजनाओं, जैसे औद्योगिक विकास, व्यावसायिक गतिशीलता, शिक्षा, और कल्याण योजनाओं का लाभ न उठाएँ। आदिवासियों के अलग तथा एकाकी जगत की दशा जिससे उनमें गरीबी, अशिक्षा, शोषण आदि पैदा होते हैं, इस युग में सहन नहीं किए जा सकते। न्याय, जागृति सहायता, और सहयोग आदि उनके लिए आवश्यक हैं।

## 1.14 आदिवासियों का विस्थापन और पुनर्स्थापना (Displacement and Resettlement of Tribals)

हाल के ही वर्षों में आदिवासियों के विस्थापन ने अनेक विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है। अनुमान है कि विकास योजनाएँ, जैसे बाँध, खानें, उद्योग और अन्य विविध योजनाओं ने 1951 और 1991 के बीच लगभग 40 प्रतिशत आदिवासियों को विस्थापित किया है (Fernandes, 1994, 24)। अशिक्षित और शक्तिहीन आदिवासियों को अपने संसाधन सम्पन्न क्षेत्रों को छोड़ने के लिए बाध्य किया गया है तथा अन्य स्थानों को जाने के लिए मजबूर किया गया है। इससे उनके पुनर्वास की समस्याएँ उत्पन्न हुई। एक अनुमान है कि लगभग 20 प्रतिशत आदिवासियों का पुनर्वास हो गया है। महाराष्ट्र और गुजरात में 'भूमि के लिए भूमि' योजना के अन्तर्गत 10,000 योग्य (eligible) आदिवासी परिवारों में से केवल 15 प्रतिशत को ही भूमि स्वीकृत की गई। इससे आदिवासियों में गरीबी और उनका सीमान्तीकरण (marginalisation) बढ़ा है। कई क्षेत्रों में आदिवासियों ने अपने समर्थन की व्यवस्था को छीने जाने का विरोध किया और आन्दोलन शुरू कर दिया। ऐसे आदिवासी आन्दोलनकारी आन्ध्र प्रदेश, बिहार, कर्नाटक, अरुणाचल प्रदेश उड़ीसा, मध्य प्रदेश आदि में भी थे। आश्चर्य तो यह है कि आदिवासी उच्च जाति के गैर-आदिवासी किसानों से अधिक उत्तेजित आन्दोलनकारी सिद्ध हुए यद्यपि वे अशिक्षित और कम संगठित हैं। इस तथ्य को प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भरता की सीमा, बाहरी समाज के साथ सम्पर्क, उनमें नेतृत्व की सीमा तथा योजना से मिलने वाले लाभ की आकांक्षा में अन्तर के अर्थों में समझाया जा सकता है। (Walter Fernandes, "Displacement of Tribals", in George Pfeffer, "Contemporary Society Tribal Studies", 1997 82)। आदिवासी इन योजनाओं का विरोध करते हैं क्योंकि उनका अधिकतर भोजन और प्रतिदिन की आवश्यकता की वस्तुएँ जंगलों और उन्हें स्थानान्तरण कृषि से प्राप्त होती है। जंगलों पर यह निर्भरता आदिवासियों के प्रतीकात्मक सम्बन्धों और उनकी आजीविका के संसाधनों से विकसित होती हैं। दूसरा कारण है लाभों की अपर्याप्तता। जंगलों के लिए उन्हें कोई क्षतिपूर्ति प्रदान नहीं की जाती क्योंकि आदिवासी जिसे अपनी निजी सम्पत्ति

नोट

समझते हैं वह वास्तव में सरकारी है। छोटी से छोटी भूमि का टुकड़ा जो उनके पास होता है उसकी क्षतिपूर्ति भी कम होती है। (लगभग 3000 रुपये प्रति एकड़)। जो कुछ भी थोड़ी बहुत राशि क्षतिपूर्ति के रूप में उन्हें मिलती हैं उसमें से भी मध्यस्थ व्यक्ति तथा महाजन ले लेते हैं। इस प्रकार वे गरीब ही रह जाते हैं। तीसरा कारण यह है कि उनकी शिक्षा इतनी कम होती है कि योजनाओं में काम मिलने की उन्हें कोई उम्मीद नहीं होती। अधिक से अधिक उन्हें अकुशल मजदूर के रूप में अस्थाई काम मिल जाता है। यह सभी कारण उन्हें नयी योजनाओं के विरुद्ध विद्रोह के लिए बाध्य करते हैं और उन्हें अपनी स्थायी भूमि से विस्थापित होना पड़ता है।

लेकिन गोविन्द बाबू (1997 92-94) का मानना है कि बाँधों के निर्माण से सम्बद्ध चार विभाग हैं (क) सरकार व नौकरशाह (ख) वैज्ञानिक व पर्यावरणविद् (ग) संरक्षित क्षेत्र के लोग (घ) कमाण्ड क्षेत्र के लोग। सरकार राजनैतिक व आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु बाँध बनाने का समर्थन करती है। नौकरशाह उनका समर्थन करते हैं क्योंकि वे सरकार के प्रवक्ता होते हैं और उन्हें अपनी प्रोन्नति के अवसर अच्छे बनाने हैं। वैज्ञानिक, तकनीकी विशेषज्ञ और पर्यावरणविद् अधिक वस्तुपरक होते हैं। तकनीकी विशेषज्ञ जहाँ प्रोजेक्ट की साध्यता (feasibility) के विषय में चिंतित रहते हैं, वहीं पर्यावरणविद् पर्यावरणीय पक्ष से। कमाण्ड क्षेत्र के लोग विस्थापित होना नहीं चाहते, भले ही वे गरीब हों, क्योंकि उन्हें डर होता है कि उन्हें अनिश्चितता में पुनः जीवन शुरू करना पड़ेगा। वे अपने नातेदारों और गाँव वालों के संबंधों से भी अलग नहीं होना चाहते हैं। कमाण्ड क्षेत्र के लोग इस विचार को अच्छा मानते हैं क्योंकि इससे कृषि सम्पन्नता तथा वर्ष भर रोजगार के अवसरों की आशा होती है।

बाँधों की उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता। प्रश्न केवल गरीब आदिवासी क्षेत्रों के आदिवासियों के पनुर्वास की व्यवस्था करने का उठता है। इन विस्थापितों की सामाजिक और सांस्कृतिक उथल पुथल महत्त्वपूर्ण है। ध्यान देने योग्य प्रश्न है कि (1) क्या विस्थापित आदिवासी पुनर्स्थापित बस्तियों (RCS) में रहना पसन्द करते हैं? (2) क्या सरकार विस्थापित लोगों को आर.सी.एस. (RCS) में रखने के लिए किसी नियम का पालन करती है? (3) क्या क्षतिपूर्ति योजना वस्तुपरक (foolproof) है और क्या क्षतिपूर्ति राशि ठीक से प्रयोग की जाती है। (4) विस्थापित लोग, जो पुनर्स्थापित बस्तियों में व्यवस्थित नहीं हो पाते, किस प्रकार जीविका चलाते हैं? (5) पुनर्स्थापित बस्तियों में पुनर्स्थापित लोग अपने परम्परागत व्यवसाय अपनाए रहते हैं या वे नये व्यवसायों के साथ सामंजस्य बना लेते हैं? (6) क्या विस्थापित लोग हटने के बाद या दौरान में किसी प्रकार की यातना का अनुभव करते हैं?

आदिवासी क्षेत्रों में बाँधों की सफलता और उपयोगिता उपरोक्त प्रश्नों की गम्भीरता से विचार करने और उनके तर्कसंगत हल निकलने पर निर्भर करेगी क्योंकि आदिवासियों के सांस्कृतिक लक्षण तथा संरचनात्मक विशेषताएँ जाति समूहों की तुलना में बिल्कुल भिन्न हैं। वे अपनी सांस्कृतिक प्रथाओं में कठोर हैं तथा परिवर्तन के बाह्य कारकों के प्रति कम उत्साह रखते हैं।

## 1.15 एकीकरण और आत्मसातकरण (Integration and Assimilation)

डालटन, रिजले तथा अन्य ब्रिटिश शासकों ने 'हिंदू हुए आदिवासी' और 'आदिवासियों के हिन्दू बने भाग' की बात की है। उन्होंने कई सांस्कृतिक विशेषताओं को बताया जिन्हें आदिवासियों ने हिन्दू पड़ोसियों से धारण किया है। क्या कल्याण और विकास कार्यक्रमों ने आदिवासियों को राष्ट्रीय मंच पर लाकर खड़ा कर दिया है? क्या उन्होंने आदिवासियों की सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाया है? विद्वानों ने स्वीकारा है कि आदिवासियों और गैर आदिवासियों के बीच की दूरी आंशिक रूप से साम्राज्यवादी उप-निवेशी शक्तियों की राजनैतिक नीतियों के कारण बनी और कुछ अंश तक इस कारण क्योंकि गैर-आदिवासी आदिवासियों को शेष जनसंख्या से नैतिक व सांस्कृतिक रूप से अलग मानते थे। अतः स्वतंत्रता के बाद आदिवासियों का विशिष्ट व्यवहार और यहाँ तक स्वायत्तता की माँग ठीक थी। उन्होंने आदिवासियों को जीववादी (animist) की संज्ञा दी। नृजाति वैज्ञानिकों ने उनकी नृजातीय विशेषताओं और प्रजातीय पृष्ठभूमि की ओर संकेत किया। लेकिन घूर्ये के अनुसार, सांस्कृतिक और भाषायी स्तर पर आदिवासी पड़ोसी हिन्दू ग्रामीण

समुदायों तथा गैर-आदिवासियों से उल्लेखनीय रूप में भिन्न नहीं हैं। इस दृष्टिकोण का समर्थन डी.एन. मजूमदार और अय्यापन ने भी किया है। अनेक आदिवासी समूहों ने अपने अर्ध-एकाकी निवासों से हटकर तथा मैदानों में प्रवेश करके हिन्दू जाति व्यवस्था के कई प्रतिमानों को स्वीकार कर लिया है। आदिवासियों में बड़ी संख्या में सामाजिक सुधारों और धार्मिक आन्दोलनों से यह साक्ष्य मिलता है कि उनमें हिन्दू जाति व्यवस्था में मिल जाने की इच्छा है। कुछ जनजातियाँ जैसे मिजो, खासी, नागा, मुण्डा, भील, आदि पिछड़ी रह गई हैं। उनका प्रौद्योगिकी-आर्थिक पिछड़ापन और परम्परागत मूल्यों से उनका चिपका रहना हिन्दू समाज में उनके सलंग्नता के मार्ग में अवरोधक रहे हैं।

प्रश्न यह है क्या सरकार द्वारा उठाए गए कदमों का लक्ष्य आदिवासियों के राष्ट्रीय जीवन की मुख्य धारा में पूर्ण आत्मसातकरण करना है या उनके हितों, रीतिरिवाजों तथा संस्थाओं की सुरक्षा की चिन्ता बताकर; उनके जीवन के तरीकों की रक्षा करके तथा विकास सुनिश्चित करके उनका सामाजिक एकीकरण करना है? ऐसा मालूम पड़ता है कि विभिन्न योजनाएँ और कार्यक्रम उन्हें सामाजिक अन्याय व शोषण से बचाने तथा उनके जीवन के सामान्य तरीकों को उठाने के उद्देश्य से बनाए जा रहे हैं। आदिवासी क्षेत्रों का गठन, शैक्षिक संस्थाओं तथा जन सेवाओं में उनके लिए स्थानों का आरक्षण, टी.एम.एस. योजनाओं का प्रारम्भ, सभी का उद्देश्य आदिवासियों का उत्थान तथा हिन्दू समाज में उनका सामाजिक व सांस्कृतिक एकीकरण है। लेकिन एकीकरण और समरूपता में आत्मसातकरण की प्रक्रिया द्वारा गलत नहीं समझा जाना चाहिए। हमें परिवर्तन की तीन प्रक्रियाओं के विषय में, अर्थात् परसंस्कृतिकरण, एकीकरण (सामाजिक और सांस्कृतिक), और आत्मसातकरण के विषय में स्पष्ट समझ लेना चाहिए।

परसंस्कृतीकरण (acculturation) एक या अनेक अन्य संस्कृतियों के साथ सम्पर्क द्वारा एक समूह की संस्कृति का अर्जन व परिवर्तन है। आदवासियों के मामलों में इसका अर्थ है कि आदिवासी हिन्दू समाज की ऐसी सांस्कृतिक विशेषताओं को अपना लेते हैं जो वे अपने उत्थान व विकास के लिए कार्यात्मक समझते हैं। सामाजिक एकीकरण (integration) अनेक समूहों (tribes) का एक समूह (हिन्दू समाज) में पूर्व के सामाजिक व सांस्कृतिक समूह (tribal) का अन्तर समाप्त करना है। सांस्कृतिक एकीकरण नये सांस्कृतिक विशेषताओं को अपनाने से परम्परागत सांस्कृतिक विशेषताओं का समायोजन है। हिन्दू समाज में आदिवासियों का एकीकरण पुरानी आदिवासी विशेषताओं का त्याग नहीं है। इसमें एक व्यवस्था के भीतर ही एकता शामिल है जो कि हिन्दुओं से नयी विशेषताओं को ग्रहण करने का परिणाम हैं। आत्मसातकरण (assumilation) (एक तरफा वाली) वह प्रक्रिया है जो एक समूह (जनजाति) की संस्कृति लेती है और दूसरी की पहचान (हिन्दू समाज), और उस समूह का हिस्सा बन जाती है। समूह का विलय (जनजाति का) इस प्रकार, आदिवासी और गैर-आदिवासियों के बीच सांस्कृतिक अन्तर को पूर्ण रूप से समाप्त कर देता है।

जनजातियों को अपनी सांस्कृतिक पहचान और अपने सामाजिक अस्तित्व की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। प्रत्येक जनजाति के सामने तीन विकल्प होते हैं–(*i*) बहुसंख्यकों के साथ अस्तित्व बनाए रखना, (*ii*) अपने आपको प्रभुत्वशाली समूह के साथ मिला होना, (*iii*) समानता के आधार पर राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करना। विभिन्न जनजातियों ने उपरोक्त वर्णित तीन प्रक्रियाओं में से भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएँ अपनायी हैं। उदाहरण के लिए भीलों और मीणाओं ने सह-अस्तित्व की प्रथम प्रक्रिया अपनायी, औराँव और रोण्ड (Rhond) जनजातियों ने हिन्दू समाज में विलय की दूसरी प्रक्रिया को अपनाया, जबकि नागा और मिजो जनजातियों ने धर्म त्याग की तीसरी प्रक्रिया को अपनाया। हमारी सरकार ने सभी जनजातियों के सांस्कृतिक एकीकरण की समान नीति नहीं अपनाई क्योंकि भिन्न-भिन्न आदिवासी विकास की अलग-अलग अवस्थाओं में से गुजरे रह हैं और उनके लक्ष्य व आकांक्षाएँ भी अलग-अलग हैं। स्वाभाविक रूप से विभिन्न जनजातियों के एकीकरण का स्तर भी अलग-अलग है। हम केवल यही कह सकते हैं कि आदिवासी देश के बृहत अर्थतन्त्र की ओर आकर्षित हो रहे हैं और स्वयं को बाजार अर्थव्यवस्था में शामिल कर रहे हैं। कृषि अनेक जनजातियों के लिए आर्थिक क्रिया का प्रमुख केन्द्र बनती जा रही है। 1991 की जनगणना के आंकड़ों के अनुसार देश के लगभग तीन चौथाई आदिवासी कृषक के रूप में कार्यरत हैं जबकि पाचवाँ भाग कृषि मजदूर और शेष खानों, जगलों या अन्य सेवाओं में लगे हैं। यह तथ्य कि आदिवासी कृषक कृषि के आधुनिक तरीकों को अपना रहे हैं, भारतीय समाज के आदिवासियों की अर्थव्यवस्था क

नोट

ओर सकारात्मक प्रगति की ओर इंगित करता है। परंतु आदिवासियों के आर्थिक एकीकरण का अर्थ यह नहीं है कि सभी जनजातियों ने आय के उच्चतम स्तर को प्राप्त कर लिया है। अनेक आदिवासी अभी भी गरीबी की रेखा से नीचे जीवनयापन कर रहे हैं।

आदिवासी देश की राजनैतिक व्यवस्था में भी समायोजित होते जा रहे हैं। पंचायती राज के प्रारम्भ होने से उन्हें राजनैतिक क्रियाकलापों में भाग लेने का अवसर मिला है। चुनाव लड़कर उन्होंने पंचायत समितियों और राज्य स्तर पर सत्ता हथियाना शुरू कर दिया है। इससे उनका शैक्षिक व सामाजिक विकास भी सम्भव हुआ है। सामाजिक जीवन में भी आरक्षण नीति के कारण अब वे लोग अच्छे सामाजिक पदों पर आ रहे हैं। यद्यपि वंश पंचायतें उनके लिए निरर्थक नहीं हुई हैं लेकिन उनकी भूमिका विवाह और भूमि आदि संघर्षों में अधिक महत्वपूर्ण हैं। अत: अब जनजातीय पंचायतें कमजोर हो गई हैं। यह कहा जा सकता है कि एक ओर तो जनजातियों ने अपनी सांस्कृतिक पहचान बनाए रखी और दूसरी ओर उन्होंने अपने आप को देश की वृहत आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक व धार्मिक व्यवस्थाओं में संकलित कर लिया है। इस संकलन ने जनजातियों और गैर जनजातियों के बीच की दूरी को समाप्त करने का रास्ता बना दिया है यद्यपि सामाजिक समानता प्राप्त करने में उन्हें अभी भी सफलता नहीं मिली है।

वृहत् समाज में जनजातीय संकलन का विश्लेषण करने में घूर्ये (1943) का जनजातियों को पिछड़े हिन्दू कहने का प्रतिरूप, या मजमूदार (1944) का जातिवादी हिन्दुओं के साथ सम्पर्क के द्वारा आदिवासियों का हिन्दू विचारों को अपनाये जाने का प्रतिरूप, या एम.एन. श्रीनिवास (1952) का संस्कृतीकरण का मॉडल अर्थात् जनजातियों का उच्च जातीय प्रथाओं का पालन करना, या बेली (1960) का दो किनारों पर खड़े रहने का मॉडल जिसमें एक छोर पर जनजातियाँ और दूसरे पर जाति हो, को लेना उपयुक्त होगा। लुज और मुन्डा (Lutz and Munda, 1980) ने घूर्ये और श्रीनिवास के मॉडल की आलोचना करते हुए कहा है कि आदिवासियों में परिवर्तन को समझने के लिए आधुनिकीकरण का मॉडल ठीक रहेगा। आदिवासी समाज किस प्रकार जातिवाद हिन्दू या ईसाई समाज होते जा रहे हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए लुज और मुण्डा ने जनजातियों में परिवर्तन की प्रेरणा देने के लिए सरकार और मानवशास्त्रियों को मिलकर काम करने के लिए कहा है। मानवशास्त्री सरकारी कार्यक्रमों के प्रभाव का मूल्यांकन करते रहे हैं और उनकी असफलताओं की ओर इशारा करते रहे हैं। 1966 में राय बर्मन ने भारतीय समाज, भारत सरकार और समाज वैज्ञानिकों का जनजातियों के विरुद्ध मजबूत नृजातीय पुर्वाग्रह देखा। उनका मानना था कि इन समूहों को जनजातियों की संज्ञा इसलिए दी गई क्योंकि मुख्य धारा का हिन्दू समाज इन आदिवासियों को भूतकाल में भी और वर्तमान में भी अलग समझता है। एल.पी. विद्यार्थी (1968) ने जनजातीय विचारों को स्वीकार किया जो कि उनमें परिवर्तन के लिए महत्वपूर्ण माना जाता है। हमारी मान्यता है कि जब तक आदिवासी स्वयं ही अपने भीतर से आदिवासी होने की भावना और सीमाओं का त्याग नहीं करते, जब तक वे अहं और आत्म विश्वास विकसित नहीं करते, जब तक वे उधार की कृपा व सरकारी आरक्षण नीति पर पलना नहीं रोकते, केवल सरकारी नीतियाँ प्रसन्न करने की धारणा से उनके लिए कुछ नहीं कर सकती। आदिवासी स्वयं को भारतीय समाज में अपनी संस्कृति से बँधे रह कर नहीं बल्कि नये अवसरों को खोजकर ऊपर उठ सकते हैं।

## 1.16. औद्योगीकरण एवं शहरी विकास (Industrialization and Urban Development)

वर्तमान युग में विकसित समाज की सबसे प्रमुख विशेषता है उनका अत्यधिक औद्योगीकरण। औद्योगीकरण से राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि बढ़ती है, उसकी सामरिक शक्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रस्थिति भी सुदृढ़ होती है। यही कारण है कि आज सभ्य और उन्नत देशों की सामर्थ्य का प्रतीक उद्योग है। औद्योगिकवाद सभ्यता का मूल दर्शन हो गया है। यदि हम आधुनिक उन्नत समाजों के जीवन का विश्लेषण करें तो हमें ज्ञात होगा कि उसके प्रत्येक पहलू पर औद्योगीकरण का गहरा संघात हुआ है और औद्योगिक दृष्टि से बिल्कुल अछूते अथवा कम विकसित देशों के सामाजिक जीवन पर भी औद्योगीकरण का प्रभाव कम नहीं है। औद्योगीकरण के कारण सामाजिक संरचना, आर्थिक और राजनैतिक संस्थाओं, मूल्यों और रुखों, धर्म व संस्कृति आदि में जो परिवर्तन-परिवर्द्धन हुए हैं उन्हें औद्योगीकरण के सामाजिक उपलक्षण कहते हैं आइए, अब उन्हीं की विवेचना करें।

औद्योगीकरण का मुख्य उद्देश्य आर्थिक है। बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना का मूल उद्देश्य वस्तुओं का विशद् मात्रा में उत्पादन है। यदि ये उद्योग गैर-सरकारी निजी व्यक्तियों अथवा समूहों के स्वामित्व में होते हैं तो उनसे बहुत बड़ी मात्रा में सस्ते माल का उत्पादन कर अधिकतम लाभ कमाया जाता है। लाभ कमाने की लालसा ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है उद्योगों पर स्वामित्व और नियंत्रण समाज हित की दृष्टि से न होकर निजी लाभ के लिए होता है जिसका उग्र रूप हमें पाश्चात्य देशों के पूँजीवाद में देखने को मिलता है। किन्तु जहाँ उत्पत्ति के सभी बड़े साधनों पर समाज या राज्य का अधिकार होता है। वहाँ बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना का मूल उद्देश्य राष्ट्रीय सम्पदा में वृद्धि कर जनसाधारण के जीवन स्तर को उन्नत करना होता है। औद्योगीकरण के आर्थिक विकास के वेग को बढ़ाया जा सकता है। यह स्पष्ट है कि आधुनिक युग में वही देश अपनी स्वतंत्रता और सम्मान की रक्षा कर सकता है जो आर्थिक दृष्टि से समृद्ध हो। सैनिक सामर्थ्य का आधार भी आर्थिक सम्पन्नता है।

औद्योगीकरण के आर्थिक प्रभाव बड़े महत्त्वपूर्ण होते हैं। विशद्मात्र, सस्ते और अच्छे माल के उत्पादन से जनसाधारण की पार्थिव आवश्यकताओं के उत्तरोत्तर अच्छी सन्तुष्टि होती है। उसका जीवन-स्तर ऊँचा होता है। ऊँचे जीवन-स्तर से लोगों की आवश्यकताएँ भी फिर खूब बढ़ती हैं। उनकी पूर्ति के लिए नए-नए काम-धंधे, पेशे और व्यवसाय कायम होते हैं। जीवन की सुख-सुविधा के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन, भवननिर्माण, परिवहन और संचार सभी क्षेत्रों की उन्नति होती है। उन सबमें विविध विशेष पेशों या व्यवसायों का विकास होता है। रूस या अमेरिका, जो औद्योगिक दृष्टि से अत्यधिक उन्नत देश है, श्रम विभाजन और विशेषीकरण की जटिल व्यवस्था इस तथ्य की साक्षी है। उद्योगों के केन्द्रीकरण से लाखों की संख्या में श्रमिक तथा अन्य संबन्धित कर्मचारी, व्यापारी, दुकानदार, व्यवसायी आदि के जमघट से बड़े-बड़े नगर बनते हैं। यद्यपि औद्योगीकरण के पहले भी नगर थे किन्तु औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात संसार में नगरों की विशालता और संख्या में अपूर्व वृद्धि हुई है। औद्योगीकरण और नगरीकरण के विकास के साथ प्रविधि की उत्तरोत्तर प्रगति अवश्यंभावी है। प्राविधिक उन्नति से उद्योगों में अभिनवीकरण का विस्तार होता है। इससे नई-नई और अधिक कुशल मशीनें लगाकर, उत्पादन प्रक्रियाओं को श्रेष्ठ कर उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। मशीनों की कार्यक्षमता में वृद्धि से श्रमिकों की संख्या में कमी करना आवश्यक हो जाता है। मजदूरों की छँटनी से बेकारी बढ़ती है। उधर छोटे उद्योगों तथा कृषि पर औद्योगीकरण का बड़ा हानिकारक प्रभाव पड़ता है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में कृषि तथा छोटे उद्योग बहुधा समाप्तप्राय हो जाते हैं। छोटे उद्योगों के विनाश से भी बेकारी बढ़ती है और यदि कृषि का यन्त्रीकरण भी किया जाए तो कृषि मजदूरों में बेकारी बढ़ती है। बेकारी की यह समस्या औद्योगीकरण तथा प्राविधिक उन्नति के साथ भयंकरतर होती जाती है, जब तक कि अतिरिक्त श्रमशक्ति को अन्य उचित रोजगार न मिले या फिर उनके उचित निर्वाह के लिए राज्य या समाज की ओर से समुचित प्रबन्ध न किया जाए। औद्योगीकरण के विकास से राष्ट्रीय साधनों का बड़ा कुशल उपयोग तो निश्चित हो जाता है और राष्ट्रीय सम्पदा में अपूर्व वृद्धि होती है किंतु यदि औद्योगीकरण का समाज हित में नियंत्रण या संचालन न हो तो आर्थिक विषमता, शोषण व वर्ग संघर्ष की बड़ी भयानक स्थिति उत्पन्न हो जाती है। पूँजीवादी देशों के भयंकर गृहयुद्ध अथवा अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध बीसवीं शताब्दी की सबसे कलुषित घटनाएँ है और यह शताब्दी अपूर्व औद्योगिक प्रगति का गर्व कर सकती है। औद्योगीकरण के विकास से श्रमिकों तथा पूँजीपतियों या सेवायोजकों को अपनी सौदेबाजी की शक्ति मजबूत करने के लिए प्रतिपक्षी संघों में संगठित होना पड़ता है। हड़तालें, तालाबन्दी और खुले संघर्ष होते हैं। शान्ति और सुरक्षा तथा देश के आर्थिक हित की रक्षार्थ सरकार को उद्योगपतियों और मजदूरों के सम्बन्धों को सुधारने के प्रयत्न करने पड़ते हैं। इसी प्रकार कृषकों और छोटे उद्योगजीवियों के हितों की रक्षा के लिए राज्य का बड़े उद्योगों की संघबंदी, उत्पादन नीति तथा व्यापार नीति पर नियंत्रण करना पड़ता है। पूँजीवादी देशों में राज्य के बढ़ते हुए नियंत्रण तथा राजकीय उपक्रमों का जिक्र हम पहले भी कर चुके हैं। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि अनियंत्रित तथा निजी लाभ से प्रेरित औद्योगीकरण के कई गंभीर आर्थिक कुप्रभाव होते हैं, किंतु नियंत्रित और समाज के कल्याण की दृष्टि से औद्योगिक विकास में अधिकांश आर्थिक दुष्प्रभाव बिल्कुल नहीं होते और बेकारी आर्थिक विषमता तथा गांवों द्वारा नगरों की अधीनता जैसे दुष्प्रभावों को न्यूनतम कर लिया जाता है। रूस तथा अन्य समाजवादी देशों में कृषि का विकास कतई उपेक्षित नहीं है

नोट

और न कृषि और छोटे उद्योगधंधों को औद्योगीकरण से कुचल ही दिया गया है। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रत्येक खंड को उचित महत्त्व दिया जाता है।

पेशेवर खेलों, सिनेमा, रेडियो, टेलिविजन आदि का जनसाधारण के मनोरंजन के लिए अभूतपूर्व विकास होता है। जनसाधारण की इन तक पहुँच होती है। उनकी रुचियों के विचार से ही चलचित्रों तथा अन्य कार्यक्रमों का आयोजन होता है। कलाओं का विकास भी इसी दिशा में होता है। कला और मनोरंजन की सर्वसाधारण के लिए उपयोगी होने की प्रवृत्ति को जनतंत्रीकरण होना पड़ता है। कला के लिए नहीं जीवन के लिए होती है।

**स्त्रियों तथा श्रमिकों को उच्च प्रस्थिति**—उद्योगों की उन्नति से स्त्रियों को लगभग पुरुष के समान ही प्रस्थिति मिल गई है। उसका कार्य-क्षेत्र केवल घर तक सीमित नहीं रहा है। वह संसार के विशाल प्रांगण में क्रियाशील है। सामाजिक जीवन का कोई भी अंचल स्त्रियों के बिना सप्रभावी एवं सुंदर नहीं हो पाता। श्रमिकों को अब केवल श्रम बेचकर अकिंचन जीवन बिताना नहीं पड़ता। सभी प्रकार के उत्पादन में श्रम का वास्तविक स्थान स्वीकार किया जाने लगा है। बुद्धिजीवी भी अपने को श्रमिक कहने में गर्व समझता है। वास्तव में श्रमिक ही उत्पादनकर्ता है। सामाजिक संपदा में उसको उचित भाग मिलना चाहिए और उसे कम प्रतिष्ठित या सम्मानित समझना मूर्खता होगी। श्रमिकों के संगठन राष्ट्रव्यापी और अंतर्राष्ट्रीय हैं और उनकी शक्ति के सामने राज्य तथा समाज के अन्य वर्गों को झुकना पड़ता है।

**सामाजिक भेदों में कमी**—औद्योगीकरण के विभिन्न रंगों, जातियों, धर्मों और शिक्षा तथा संस्कृति के स्तरों के लोगों को साथ-साथ काम करने और रहने को विवश कर दिया है। ऊँच-नीच की भावना अत्यधिक कम हो गई है। सामाजिक सांस्कृतिक अंतरों पर किसी मनुष्य या वर्ग को हीन नहीं समझा जाता है। जनसाधारण तथा नेताओं, बौद्धिकों आदि ... के बीच में भी कम से कम अंतर रह गया है। नेतृत्व भी किसी विशेष वर्ग की बपौती नहीं रह जाता है। उद्योगों के संचालन के लिए प्रबंधन वर्ग अथवा समाजवादी देशों की नौकरशाही में सम्मिलित होना सबके लिए संभव है यदि उनमें अपेक्षित योग्यता हो।

**समृद्ध जीवन की समस्याएँ**—लोगों का जीवन-स्तर बराबर ऊँचा होता जाता है। सामाजिक सेवाओं की अभिवृद्धि से जीवन में वास्तविक सुख-सुविधा बढ़ जाती है। इससे दो प्रमुख समस्यायें उत्पन्न होती हैं—अति दीर्घजीवन और अधिक अवकाश। आर्थिक चिंताओं से मुक्त, सुरक्षित और सुखी जीवन से मनुष्य खूब स्वस्थ रहता है। औसत जीवन-काल बढ़ जाता है। अनेक लोगों की आयु 100 साल से आगे बढ़ जाती है। इन लोगों के भरण-पोषण और मनोरंजन की समस्या पैदा होती है। दूसरी समस्या लोगों के निरंतर बढ़ते हुए अवकाश के उपयोग की है। समृद्धि बढ़ने पर काम के घंटे कम हो जाते हैं और देश की पार्थिव आवश्यकताओं की भरपूर पूर्ति के लिए थोड़ी श्रम-शक्ति से काम चल जाता है। श्रमाधिक्य के उपयोग के नए ढंग ढूंढने पड़ते हैं। इसकी विफलता से समाज में एक निठल्ले वर्ग का आविर्भाव होता है। इसका अस्तित्व समाज को घोर विलासिता और पुरुषार्थहीनता में धकेल सकता है। प्राचीन काल में अनेक भव्य सभ्यताओं का पतन घोर विलासिता और निठल्लेपन के कारण हुआ है।

**सामाजिक विघटन के अधिक अवसर**—विशाल औद्योगिक समाजों में परिवर्तन बड़ी तेजी से होता है। संस्थाएँ स्वभावतः संरक्षणात्मक होती हैं। वे शीघ्र परिवर्तन में समाज के लक्ष्यों से बहुत पीछे छूट जाती हैं। इसी तरह, असंतुलन और विघटन पैदा करने वाली अनेक शक्तियाँ उमड़ा करती हैं। परिणामतः इस स्थिति में सामाजिक विघटन के अधिक अवसर होते हैं। औद्योगिक बीमारियाँ और खतरे भी सामाजिक विघटन उत्पन्न करते हैं। तीसरे, सामाजिक मामलों पर विशाल भीड़—मानसिकता, अपराधी तथा समाज-विरोधी प्रवृत्ति को उभारती है। साम्यवादी देशों में भी दंगे, उपद्रव और गृह-युद्ध भड़क उठते हैं।

**सामाजिक आयोजन**—उपरोक्त कारणों से सामाजिक नियंत्रण की समस्या बड़ी कठिन हो जाती है। सामाजिक सुरक्षा, शांति और व्यवस्था प्रगति के लिए अनिवार्य होती है। अतः औद्योगिक समाजों में सामाजिक आयोजन का महत्त्व बढ़ जाता है। सामाजिक जीवन का संचालन पूर्व निर्धारित लक्ष्यों के अनुसार अनिवार्य आवश्यकता बन जाती है।

नोट

## ट्रेड यूनियन एवं मानव संबंध

ट्रेड यूनियन के चरित्र के सही चित्रण से बहुत बड़ा सवाल जुड़ा हुआ है। इस मामले में विशेषज्ञों के बीच विवाद है। एक प्रभावशाली विचार यूनियन को एक आर्थिक एजेंट या दलाल बताता है। जो "समूचे श्रम बाजार में एक या कई परिवर्तियों या चरों को अधिक से अधिक बढ़ाने की चाह में रहता है।" जे. डनलप से हमें यूनियन की गतिविधियों के जरिए वेतन बिल में वृद्धि का एक प्रतिरूप मिलता है। उनका यह तर्क है कि राजनैतिक कारकों की थोड़े समय के लिए प्रासंगिकता हो सकती है, मगर दीर्घकालीन यूनियन गतिविधियाँ आर्थिक ताकतों या दबावों से प्रभावित होती हैं। इन्हीं से वेतन और रोजगार का निर्धारण होता है। पर इस तर्क को कई विशेषज्ञ सही नहीं मानते, विशेषकर **ए.एम.रास**। उनका मुख्य तर्क यह है कि आर्थिक प्रक्रिया के सभी भागीदारों में "ट्रेड यूनियन विशुद्ध आर्थिक विश्लेषण के लिए संभवतः सबसे कम उपयुक्त है।" जैसा कि वे जोर देकर कहते हैं–"यूनियन एक राजनैतिक अभिकरण है, जो एक आर्थिक माहौल में काम करती है।" यूनियन नेता अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए इसके सदस्यों के विभिन्न हितों के बीच मध्यस्थता और समझौता करने को बाध्य होते हैं। यह अंदरूनी राजनैतिक प्रक्रिया और अपने लक्ष्यों को पूरा करने के लिए राजनैतिक दलों की मुख्यधारा से मजबूत संबंध बनाने की यूनियनों की जरूरत यह बताती है कि यूनियन आवश्यक रूप से एक राजनैतिक ढांचा है। **रीडर** और **लेविसन** के अनुसार, यूनियन का एक स्पष्ट राजनैतिक व्यक्तित्व होता है जो आर्थिक माहौल की सीमाओं के अंदर काम कर सकता है।

भारत के नगरीय वर्ग ढांचे का काफी बड़ा वर्ग औद्योगिक श्रम शक्ति है। इसी के संगठित प्रयासों ने एक आंदोलन का रूप ले लिया है जिसे हम भारतीय श्रमिक आंदोलन कहते हैं। 1991 में प्राप्त आंकड़ों के अनुसार भारत में पंजीकृत यूनियन की संख्या 45,095 है। इसके अलावा कई अपंजीकृत यूनियनें भी हैं। यूनियन के संगठनात्मक ढांचे में सबसे ऊपर राष्ट्रीय स्तर के चौदह महासंघ (फेडरेशन) हैं। मगर वास्तव में ये स्थानापन्न निकाय होते हैं जिनका कारखाने के स्तर पर कोई ठोस आधार नहीं होता है। मगर अपनी एक लंबी परंपरा के होते हुए भी भारत में श्रमिक आंदोलन एक स्पष्ट श्रमिक वर्ग विचारधारा का विकास नहीं कर सका है। भारतीय श्रम आंदोलन में वैचारिक स्पष्टता का अभाव दरअसल उन ऐतिहासिक स्थितियों को दर्शाता है जिनमें यह आंदोलन विकसित हुआ है।

भारतीय श्रमिक आंदोलन की कुछ खास विशेषताएँ हैं जो इस प्रकार हैं–

1. भारतीय ट्रेड यूनियन के कार्यक्षेत्र का आधार संकीर्ण है। इसके दो कारण हैं–पहला कारण तो यह है कि आंदोलन अर्थव्यवस्था के संगठित क्षेत्र तक ही सीमित है। दूसरा कारण यह है कि श्रमिक यूनियनें आमतौर पर कारखानों में बनी रहती हैं; इसलिए उनका आकार छोटा होता है।
2. श्रमिक आंदोलन की दूसरी बड़ी खासियत यह है कि यह मुंबई, चेन्नई, कोलकाता, बेंगलुरू और कानपुर जैसे बड़े नगरों तक ही सीमित है। इसका मुख्य कारण यह है कि भारत में औद्योगिक विकास क्षेत्रीय पूर्वाग्रहों में निहित हैं।
3. भारतीय श्रमिक आंदोलन की तीसरी विशेषता यह है कि यह एक स्पष्ट साम्राज्यवाद विरोधी रूख होते हुए भी इसमें एक सुस्पष्ट वर्गीय प्रवृत्ति या चेतना की कमी रही है। इसका एक आंशिक कारण राष्ट्रीय आंदोलन का प्रभाव है जिसमें भारतीय श्रमिक आंदोलन पनपा। शक्तिशाली औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध एक संगठित मोर्चा बनाने के लिए इस राष्ट्रीय आंदोलन में समायोजी और उदार राजनीति पर जोर दिया जाता था। कालांतर में जब उग्र वामपंथ उभरा और उसने आंदोलन के धड़े का नेतृत्व अपने हाथ में लिया तो उसे भी राष्ट्रीय आंदोलन की इन सीमाओं के भीतर ही काम करना पड़ा। फिर भारत में श्रमिक एक खास वेतनभोगी वर्ग नहीं है जैसा पश्चिमी देशों में पाया जाता है। न ही श्रमिक सामाजिक रूप से एकसमान श्रेणी बनाते हैं। उनमें मौजूद जातीय, सामुदायिक और आंचलिक भिन्नता ने वर्गीय संगठन की प्रक्रिया में बाधा पहुंचाई है। इसके अलावा भारतीय मजदूर वर्ग के चरित्र में ग्रामीण मूल्यों का एक महत्त्वपूर्ण तत्व भी मौजूद है। आज के दिन भी नए नगरीय मूल्यों और पुराने

ग्रामीण मूल्यों में द्वंद्व जारी है। इसलिए स्पष्ट ही है कि भारतीय श्रमिक आंदोलन में विशेष चरित्र और वर्गीय संघर्ष की प्रवृत्ति या चेतना की कमी है।

4. भारतीय श्रमिक आंदोलन की चौथी विशेषता राजनीतिक दलों से इसका निकट जुड़ाव है। यूनियन ढांचे के सबसे ऊपर कई राष्ट्रीय महासंघ या फेडरेशन हैं, जिनमें से अधिकतर किसी-न-किसी राजनैतिक दलों से जुड़े होते हैं। 1947 तक अखिल भारतीय स्तर पर सिर्फ एक ही महासंघ था। मगर इसके बाद से सभी बड़े राजनैतिक दलों ने अपनी राष्ट्रीय शाखाएँ बना ली हैं। बड़े अखिल भारतीय श्रमिक संगठनों में मुख्य हैं–इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस (इंटक), हिंद मजदूर सभा, यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस (यूटक), सेंटर ऑफ इंडियाज ट्रेड यूनियन (सीटू) और भारतीय मजूदर संघ आदि। ये संगठन कांग्रेस (इ), भाकपा, जनता दल, गैर-साम्यवादी वामपंथी, माकपा और भाजपा से जुड़े हैं। इसकी कुल परिणति कारखानास्तरीय बहु यूनियनवाद और भारतीय श्रमिक आंदोलन के भारी विखंडन प्रक्रिया में हुई है।

5. भारतीय श्रमिक आंदोलन की पाँचवी विशेषता यह रही है कि इसका स्वतंत्र विकास नहीं हुआ है। यह आंदोलन बाहारी ताकतों पर काफी ज्यादा निर्भर रहा है। अक्सर मध्यवर्गीय पेशेवर राजनेताओं पर इसे नेतृत्व मिलता है, जो मुख्यधारा की राजनीतिक दलों के सदस्य होते हैं। आमतौर पर नेतृत्व यूनियन की भीतरी राजनीतिक गतिशीलता से नहीं उभर पाता। इस कारण ऐसे नेतृत्व का श्रमिकों के अन्य समूह के प्रति कोई उत्तरदायित्व नहीं होता और न ही कोई रचनात्मक भीतरी राजनीतिक प्रक्रिया चलती है। फिर यूनियनों की राजसत्ता पर कुछ हद तक निर्भरता ने भी भारतीय श्रमिक आंदोलन की एकता और स्वतंत्रता को बाधा पहुँचाई है।

श्रमिक यूनियनों और राजनीतिक पार्टियों का जुड़ाव भले ही आधारभूत नेतृत्व के विकास में बाधक रहा है, इसे पूरी तरह से थोपा भी नहीं जा सकता। इसका कारण यह है कि जिन यूनियनों के संबंध उस पार्टी से है जो केंद्र या राज्य में शासन कर रही हो, वे कुछ लाभ उठाने में सफल रही हैं। उदाहरणतया, जब तक कांग्रेस (आई) केंद्र में सत्ता में बनी रही इंटक ने शासन दल से अपने संबंध होने के कारण कुछ लाभ उठाए। इसी तरह सीटू से जुड़ी यूनियनें शासक बाम मोर्चे से जुड़ी होने के कारण कुछ लाभ उठाती है।

### *श्रमिक संगठनों की कमजोरियाँ*

बहरहाल कुछ महत्त्वपूर्ण बाधाएँ ऐसी हैं जो संगठित श्रमिकों की ताकत को भीतर-ही-भीतर कुरेदती हैं। कुछ खास तरह के कानूनी और राजनैतिक कारकों द्वारा किए जाने वाले विघटन के अलावा बढ़ती बेरोजगारी के कारण आसानी से मिल जाने वाले श्रमिक भी एक समस्या हैं, जो पुराने श्रमिकों की मौजूदगी एक मजबूत श्रमिक आंदोलन के उदय में बाधक हैं। इस स्थिति में प्रबंध ने भी यूनियनों में संगठित श्रमिकों पर अपनी निर्भरता को कम करने के लिए एक निश्चित रणनीति बना ली है। उनका एक तरीका तो ठेके पर श्रमिकों को लेना है। दूसरा तरीका यह अपनाया जाता है कि कुछ खास वस्तुओं का उत्पादन बंद कर दिया जाए और इन वस्तुओं के उत्पादन का ठेका असंगठित लघु क्षेत्र को दे दिया जाए। उनकी तीसरी रणनीति ऐसी होती है, जिसके तहत यूनियन प्रबंध कैडर के स्थान पर ज्यादा स्थायी अभिजात्य श्रमिक रखे जाते हैं। फिर सेवा क्षेत्र में भारी वृद्धि होने से कार्यालयों में श्रमिकों की संख्या में भी बढ़ोतरी हुई है। इससे उनकी हिस्सेदारी की अवधारणाओं में काफी ज्यादा अंतर आ गया है और दफ्तरी बाबुओं का अलग यूनियनवाद पैदा हो गया है।

भारत में श्रमिक आंदोलन प्रबंधकों द्वारा संघबद्ध श्रमिकों के सिलसिले में जोड़तोड़ की कार्रवाई का यथोचित प्रत्युत्तर देने की प्रक्रिया में है। बाहरी व्यावासायिक नेतृत्व से अभी तक ऐसा उत्तर देखने में नहीं आया है, क्योंकि उसकी चिंता श्रमिकों को पैसे का लाभ दिलाने तक ही सीमित रही है। मगर कार्यस्थान की दुर्दशा को लेकर एक चेतना पैदा होने लगी है, जिससे नए ट्रेड यूनियन रुझान और नेतृत्व निकलेंगे।

इस तरह, ऐसा दिखाई देता है कि भारतीय श्रमिक आंदोलन का एक लंबा इतिहास होते हुए भी एक स्पष्ट श्रमिक वर्गीय विचारधारा और वर्गीय एकता के अभाव में आंदोलन की ताकत प्रबंध की ताकत की

नोट

बराबरी नहीं कर सकती। श्रमिक आंदोलन सांस्कृतिक व दलीय विचारधाराओं के आधार पर भारी विघटन से ग्रस्त है। इसके अलावा बाहरी व्यावसायिक नेतृत्व में गंभीर कार्यस्थान समस्याओं के प्रति चिंताओं के अभाव और ठीक रास्ते पर श्रमिकों को आंदोलित करने में उसकी विफलता ने आंदोलन को कमजोर कर दिया है। भारतीय राजसत्ता ने भी कोई सकारात्मक भूमिका नहीं निभाई है। न तो कोई मजबूत कानूनी समर्थन या आधार इस आंदोलन को मिला है और न ही राज्य की ओर से व्यापारिक हितों और यूनियन की माँगों के बीच मध्यस्थता के लिए कोई कारगर हस्तक्षेप होता है।

इन सब कमजोरियों के बावजूद जो कि किसी भी अर्थव्यवस्था को अपंग बना दे, आधुनिक औद्योगीकरण ने भारत में एक प्रकार से महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। उत्पादन की आधुनिक कारखाना प्रणाली, अर्थव्यवस्था का वाणिज्यीकरण, और आधुनिक परिवहन प्रणाली के विस्तार के फलरूप एकीकृत राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था विकसित हुई। देसाई के अनुसार, भारतीय अर्थवस्था अधिक एकीकृत, संयुक्त और सुव्यवस्थित बन गई।

## *सामाजिक वर्ग*

स्वंतत्रता के पश्चात् औद्योगीकरण के बढ़ने के साथ-साथ भारत में दो प्रमुख शहरी सामाजिक वर्गों पूँजीपति व श्रमिक वर्ग की जनसंख्या में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई है। साथ ही, इन वर्गों की सामाजिक शक्ति भी बढ़ गई है।

**पूँजीवादी वर्ग**–पूँजीवादियों का औद्योगिक, व्यापारिक और वित्तीय उपक्रमों पर स्वामित्व और नियंत्रण है। सार्वजनिक क्षेत्र औद्योगिक, व्यापारिक और वित्तीय उपक्रम, बड़े पैमाने पर पूँजीवादी वर्ग की आवश्कताओं को पूरा करते हैं। पूँजीवादी अपने लाभ को अधिकतम करने के उद्देश्य से प्रेरित होते हैं। वे मजूदरों का शोषण करते हैं और उन्हें उत्पादन की कीमत से बहुत कम पैसा दिया जाता है। ये अपने हितों की रक्षा के लिए विभिन्न माध्यमों जैसे वाणिज्य और उद्योग मंडल, समाचार-पत्र और पत्रिकाओं का प्रयोग करते हैं। ये अपने फायदे के लिए सरकारी नीति को बनाने और लागू करने में भी अपने प्रभाव का प्रयोग करते हैं। विभिन्न प्रकार के औपचारिक (जैसे वाणिज्य मंडल) और अनौपचारिक प्रबंध (जैसे मदिरा पार्टियाँ) इन्हें राजनीति के प्रभुत्वशाली वर्ग, अधिकारी तत्व और व्यवसाय में प्रभुत्वकारी स्तर के नजदीक लाते हैं। अपनी अंतर्मुखी अभिवृत्ति के कारण वे संयुक्त होकर अपने परिवार की शक्ति को दृढ़ करते हैं। उत्पादन और सेवाओं के क्षेत्र में हो रहे आंतरिक प्रतिस्पर्धा और संघर्षों के बावजूद देश की पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादन से लाभ बढ़ाने के लिए सारे पूँजीवादी एक हो जाते हैं। इस तरह वे देश में अपना प्रभुत्व बनाए रखते हैं।

**शहरी श्रमिक वर्ग**–शहरी श्रमिक वर्ग में दोनों प्रकार के श्रमिकों, वेतनभोगी मजूदर और स्वयं रोजगार श्रमिक आते हैं। यह वर्ग गरीब, शक्तिहीन और बड़े पैमाने पर असंगठित होता है। यह एक शोषित वर्ग है। इनका शोषण संगठित क्षेत्र की तुलना में असंगठित क्षेत्र में अधिक होता है। असंगठित क्षेत्र में स्त्रियों और बच्चों का शोषण अधिक होता है। क्योंकि इन्हें पुरुष कामागारों की तुलना में कम मजदूरी दी जाती है। हालांकि संगठित क्षेत्र में मजदूर संघ होते हैं, जो मजदूरों के हितों की देखभाल के लिए बनाए जाते हैं। इन संघों का विभिन्न विचारधारा वाले राजनीतिक दलों से संबंध होता है जिससे श्रमिक वर्गों की एकता में बाधा आती है। दोनों क्षेत्रों के श्रमिकों की आय में बड़ा अंतर तथा प्रौद्योगिक विषमता होती है। इसके अतिरिक्त इनमें परंपरागत विभाजन (जैसे जाति, भाषा व धर्म) के स्वरूप जैसी श्रमिकों की सामाजिक विषमता होती है। ये सब कारक श्रमिकों के हितों की बढ़ोतरी और सुरक्षा करने वाली संपूर्ण श्रमिक वर्ग चेतना और संगठन के विकास में बाधा डालते हैं।

**शहरी मध्य वर्ग**–इन दोनों प्रमुख वर्गों के अतिरिक्त स्वतंत्रता के बाद मध्यम वर्ग तेजी से उभरकर सामने आया। इस वर्ग के सदस्य बहुत से व्यवसायों जैसे शिक्षण, पत्रकारिता, कानून और प्रशासन आदि में कार्यरत हैं। ये उद्योग, व्यापार और वाणिज्य में भी प्रबंधकीय और देख-रेख के पदों पर काम करते हैं। हालांकि इस वर्ग के सदस्य सर्वश्रेष्ठ जीवन की सभी सुख-सुविधाएँ प्राप्त करते हैं। लेकिन फिर भी इनमें से अधिकांश लोगों का जीवन-स्तर औसत दर्जे का होता है। यह वर्ग सामाजिक तौर पर बिखरा और

असंगठित है। यह वर्ग समाज की क्रांतिकारी पुनः संरचना के हक में नहीं होता है। परंतु इस वर्ग का एक भाग सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए मेहनती जनसमूह के साथ मिल गया है।

स्वतंत्रता के पश्चात् शहरी अर्थव्यवस्था में बहुत से परिवर्तन हुए। इनमें से कुछेक परिवर्तन अनैच्छिक ही हुए। परंतु अधिकतर, नई सरकार द्वारा नियोजित सामाजिक-आर्थिक सुधारों की वजह से हुए थे।

नोट

## 1.17 सारांश (Summary)

- "समाज तुलनात्मक दृष्टि से सबसे अधिक स्थाई समूह है, जो कि सामान्य स्वार्थ, सामान्य भू-भाग, सामान्य प्रकार का रहन-सहन और सामान्य पारस्परिक सहयोग या अपनत्व की भावना रखता है, जिसके आधार पर वे अपने को बाहर से पृथक् करते हैं।"
- प्रत्येक व्यक्ति समाज में जन्म लेता है, जीवनयापन करता है और मृत्यु को प्राप्त होता है। इस प्रकार समाज में ही उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। वह शक्ति अर्जित करता है तथा उसका समाजीकरण होता है।
- ग्रामीण शब्द अंग्रेजी के Rural शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। **'ग्रामीण'** ग्राम शब्द से बना है। ग्रामीण का अर्थ है **ग्राम से संबंधित।** इसे साधारण बोलचाल की भाषा में गांव कहा जाता है।
- डॉ. कौशल कुमार राय ने कहा है, "**गाँव** वह समुदाय है जो अपेक्षाकृत समरसता, अनौपचारिक, प्राथमिक समूहों की प्रधानता, जनसंख्या के कम घनत्व और मुख्य व्यवसाय के रूप में कृषि की विशेषताओं से युक्त होता है।"
- नगरीकरण एव सर्वव्यापी प्रक्रिया है और इसका आशय आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन से है। एक मत के अनुसार नगरीकरण का अभिप्राय परम्परागत सामाजिक संस्थाओं और मूल्यों के भंग या बिगाड़ होने से है। नगरीकरण के परिणामस्वरूप भारत में जाति-प्रथा वर्ग व्यवस्था में, संयुक्त परिवार एकाकी परिवार में और धार्मिक मूल्य निरपेक्ष मूल्यों में परिवर्तित हुए हैं।
- वर्तमान युग में विकसित समाज की सबसे प्रमुख विशेषता है उनका अत्यधिक औद्योगीकरण। औद्योगीकरण से राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि बढ़ती है, उसकी सामरिक शक्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रस्थिति भी सुदृढ़ होती है। यही कारण है कि आज सभ्य और उन्नत देशों की सामर्थ्य का प्रतीक उद्योग है।

## 1.18 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. समाज की परिभाषा दें तथा इसकी विशेषता का वर्णन करें।
2. ग्रामीण जीवन से क्या समझते हैं? ग्रामीण संमुदाय की विशेषताओं का वर्णन करें।
3. नगरीय जीवन की उत्पत्ति के कारकों का वर्णन करें।
4. नगरों के विकास के नगरीय कारकों का उल्लेख करें।
5. ग्रामीण और नगरीय जीवन की तुलनात्मक व्याख्या करें।
6. भारतीय जनजातियों की समस्याओं तथा समाधान के उपायों का उल्लेख करें।
7. औद्योगीकरण से पड़ने वाले प्रभावों का वर्णन करें।

## 1.19 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)


- समाजशास्त्र के सिद्धांत–रामनाथ शर्मा एवं राजेंद्र कुमार शर्मा, एटलांटिक पब्लिशर्स।
- समाजशास्त्र के मूल तत्व–गिसबर्ट पैसकल, ओरिएंट लोंगमैन्स।
- समाजशास्त्र–सैफर, रिचर्ड टी. एवं रॉबर्ट पी. लैम, एलाइड पब्लिशर्स।
- सामाजशास्त्र–धर्मेन्द्र कुमार, टाटा मैकाग्रॉ हिल।

नोट

इकाई-2
(Unit-2)

# संस्कृति, समाजीकरण एवं सामाजिक नियंत्रण
# (Culture, Socialization and Social Control)

## संरचना (Structure)

2.1 उद्देश्य (Objectives)
2.2 प्रस्तावना (Introduction)
2.3 संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Culture)
2.4 संस्कृति के गुण एवं विशेषताएँ (Attributes and Characteristics of Culture)
2.5 संस्कृति के उपादान (Components of Culture)
2.6 भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति (Material and Non-material Culture)
2.7 भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति में अंतर (Distinction between Material and Non-material Culture)
2.8 समाजीकरण का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Socialization)
2.9 समाजीकरण की प्रकृति (Nature of Socialization)
2.10 समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया के रूप में (Socialization as a Process of Learning)
2.11 समाजीकरण की प्रक्रिया के स्तर या अवस्थाएँ (Stages of the Process of Socialization)
2.12 समाजीकरण की मुख्य संस्थाएँ, साधन या अभिकरण (Chief Institutions, Sources or Agencies of Socialization)
2.13 व्यक्तित्व के विकास में समाजीकरण का महत्त्व (Role of Socialization in the Development of Personality)
2.14 सामाजिक नियंत्रण (Social Control)
2.15 सामाजिक नियंत्रण की परिभाषा एवं अवधारणा (Definition and Concept of Social Control)
2.16 समाजीकरण एवं सामाजिक नियंत्रण (Socialization and Social Control)
2.17 सामाजिक नियंत्रण के स्वरूप या प्रकार (Forms or Types of Social Control)
2.18 औपचारिक सामाजिक नियंत्रण (Formal Social Control)
2.19 औपचारिक नियंत्रण के साधन एवं प्रविधियाँ (Means and Techniques of Formal Control)
2.20 अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण (Informal Social Control)
2.21 औपचारिक तथा अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण में अंतर (Distinction between Formal and Informal Social Control)
2.22 सारांश (Summary)
2.23 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
2.24 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

## 2.1 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात्, विद्यार्थी योग्य होंगे:

- संस्कृति, संस्कृति के उपादान तथा संस्कृति के प्रकार को समझने में;

- समाजीकरण एवं समाजीकरण की प्रक्रिया एवं अधिकरण को समझने में।
- सामाजिक नियंत्रण, सामाजिक नियंत्रण के साधन एवं प्रविधियों को समझने में।



नोट

## 2.2 प्रस्तावना (Introduction)

मनुष्य एक अनोखा प्राणी है और वह अनोखा इसलिए हो पाया है क्योंकि वह संस्कृति का अधिकारी तो है ही, साथ ही निर्माता भी है। वास्तव में यह संस्कृति ही है जो कि मनुष्य को पशु से पृथक् कर देती है। इसीलिए प्राय: यह कहा जाता है कि संस्कृति का उद्भव मानव के मध्य ही होता है। 'पशु' संस्कृति के अधिकारी नहीं होते और यदि होते भी हैं तो वह नाममात्र के लिए या 'न' के बराबर। किसी ने सच ही कहा है कि **"मनुष्य के पास से उसकी संस्कृति को छीन लीजिए, जो कुछ शेष रहेगा, वह निश्चित ही मानव नहीं, अपितु एक प्रकार का बंदर होगा।"** इसी कारण **श्री हॉबेल** (Hoebel) का कथन है कि संस्कृति अनोखे रूप में एक मानव-घटना (Human Phenomenon) है और वह इस अर्थ में कि सभी प्राणियों में मनुष्य ही एक अकेला ऐसा प्राणी है जो कि संस्कृति को बनाने और उसे बनाये रखने की क्षमता रखता है। यही 'संस्कृति' इस अध्याय का अध्ययन-विषय है।

## 2.3 संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Culture)

संस्कृति को विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। साहित्यकारों के लिए संस्कृति जीवन का प्रकाश और कोमलता है। शाब्दिक अर्थ में, 'संस्कृति' शब्द 'संस्कार' का रूपांतर है। एक हिंदू को अपने जीवन को परिमार्जित (Cultured) करने के लिए अनेक प्रकार के संस्कारों को करना पड़ता है और इसके बाद वह कहीं 'संस्कृत' (Cultured) कहा जाता है। इसी प्रकार इतिहासकारों के लिए एक देश का कलात्मक अथवा बौद्धिक विकास ही 'संस्कृति' है। परंतु मानवशास्त्री 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग भिन्न अर्थ में करते हैं। संस्कृति सीखे हुए व्यवहार (Learned behaviour) की वह समग्रता है जिसमें कि एक बच्चे का व्यक्तित्व पलता और पनपता है।

प्रारंभिक मानवशास्त्रियों में **श्री टायलर** (Tylor) ने सर्वप्रथम संस्कृति शब्द को परिभाषित किया और इस शब्द का विस्तृत प्रयोग अपनी कृतियों में किया। आपके अनुसार, "संस्कृति वह जटिल समग्रता (complex whole) है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा तथा ऐसी ही अन्य क्षमताओं और आदतों का समावेश रहता है जिन्हें मनुष्य समाज के सदस्य के नाते प्राप्त करता है।" इस परिभाषा में इस बात पर बल दिया गया है कि संस्कृति मानव की सामाजिक विरासत (social heritage) है; यह व्यक्ति को समाज का 'उपहार' है जो कि उसे समाज के सदस्य के नाते प्राप्त होता है। और भी स्पष्ट रूप में, **श्री टायलर** के अनुसार संस्कृति से हमारा तात्पर्य उस सब कुछ से होता है जिसे मानव अपने सामाजिक जीवन में सीखता है या समाज से पाता है। संस्कृति प्रकृति की देन नहीं, बल्कि समाज की देन है; यह समाज का मानव को श्रेष्ठतम वरदान है।

**श्री पिडिंगटन** (Pidington) ने संस्कृति को एक दूसरे ढंग से परिभाषित किया है। आपके शब्दों में, "संस्कृति उन भौतिक तथा बौद्धिक साधनों या उपकरणों का संपूर्ण योग है, जिनके द्वारा मानव अपनी प्राणिशास्त्रीय तथा सामाजिक आवश्यकताओं की संतुष्टि तथा अपने पर्यावरण से अनुकूलन करता है।" इस प्रकार, **श्री पिडिंगटन** के अनुसार किसी भी मानव की संस्कृति में दो प्रकार की घटनाओं (phenomena) का समावेश होता है–**प्रथमत:** भौतिक वस्तुएँ (material objects) जिन्हें कि मानव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बनाता है जैसे, उपकरण, औजार, वस्त्र, मकान, मंदिर, मूर्तियाँ आदि। **द्वितीयत:** ज्ञान, विश्वास, मूल्य (values) आदि अभौतिक या अमूर्त घटनाओं (phenomena) का भी समावेश संस्कृति में होता है। संस्कृति के ये दोनों पक्ष एक-दूसरे से संबंधित तथा एक-दूसरे के पूरक होते हैं।

**श्री मैलिनोवस्की** (Malinowski) के अनुसार, "संस्कृति प्राप्त आवश्यकताओं की एक व्यवस्था तथा उद्देश्यमूलक क्रियाओं की एक संगठित व्यवस्था है।" आपके मतानुसार संस्कृति के अंतर्गत जीवन के समग्र तरीके या ढंग (total ways of life) आ जाते हैं जो कि व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक तथा अन्य

आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं और उसे प्रकृति के बंधनों से मुक्त करते हैं। इस प्रकार **श्री मैलिनोवस्की** के अनुसार संस्कृति मानव का वह साधन है जिसके द्वारा या जिसके माध्यम से वह अपने साधनों को प्राप्त करता है अर्थात् अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

**श्री हॉबेल** (Hoebel) के मतानुसार, उन सब व्यवहार-प्रतिमानों (behaviour patterns) की समग्रता को संस्कृति कहते हैं जिन्हें मानव अपने सामाजिक जीवन में सीखता है। आपके शब्दों में, "संस्कृति संबंधित सीखे हुए व्यवहार प्रतिमानों का संपूर्ण योग है जो कि एक समाज के सदस्यों की विशेषता को बतलाता है और इसलिए, प्राणिशास्त्रीय विरासत का परिणाम नहीं होता है।" **श्री हॉबेल** के मतानुसार संस्कृति वंशानुक्रमण के द्वारा निर्मित नहीं होती है। संस्कृति तो पूर्णतया सामाजिक आविष्कारों (social inventions) का परिणाम होती है। दूसरे शब्दों में, संस्कृति सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप में मानव का आविष्कार है। इसी कारण यह विचारों के आदान-प्रदान तथा शिक्षा के माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती रहती है और इस प्रकार इसकी निरंतरता बनी रहती है। अतः **श्री हॉबेल** के अनुसार, संस्कृति में किसी सामाजिक समूह विशेष की जीवनविधि (Life way) निहित होती है।

संस्कृति की एक संक्षिप्त तथा उपयोगी परिभाषा श्री हर्षकॉवित्स (Herskovits) ने दी है। आपके शब्दों में, "संस्कृति पर्यावरण का मानव-निर्मित (Man-made) भाग है।" यह परिभाषा हमारा ध्यान इस सत्य की ओर आकर्षित करता है कि मानव-जीवन दो प्रकार के पर्यावरणों में पलता है—प्रथम तो प्राकृतिक पर्यावरण और दूसरा सामाजिक पर्यावरण। मानव का संपूर्ण सामाजिक पर्यावरण ही संस्कृति है। इस सामाजिक पर्यावरण को मानव स्वयं बनाता है। इस निर्माण-कार्य में प्राकृतिक घटनाओं या पर्यावरण का कुछ भी योग नहीं होता, ऐसी बात नहीं परंतु एक प्राकृतिक चीज़ से जो कुछ भी मानव बनाता है वह उसकी कृति (work) होता है और इसके संपूर्ण योग से ही संस्कृति का निर्माण होता है। उदाहरणार्थ, मिट्टी एक प्राकृतिक वस्तु है परंतु उसी मिट्टी से मनुष्य जब अपने लिये बर्तन, मूर्ति आदि बना लेता है तो वे सब उसकी संस्कृति के अंग बन जाते हैं। वायु या पानी या पहाड़ संस्कृति नहीं हैं क्योंकि वे सभी प्राकृतिक पर्यावरण के अंग हैं और इनका निर्माण मानव ने नहीं किया है। संस्कृति के अंतर्गत तो संपूर्ण पर्यावरण के उस भाग की उन वस्तुओं को सम्मिलित करते हैं जिन्हें स्वयं मानव ने बनाया है। 'वस्तुओं' से यहाँ हमारा तात्पर्य केवल भौतिक वस्तुओं (material things) से ही नहीं है बल्कि अभौतिक (non-material) वस्तुओं से भी है। इस प्रकार संस्कृति में उपकरण, औजार, मशीन, आभूषण, मकान, प्रथा, परंपरा, कला, आचार, धर्म, भाषा आदि सभी भौतिक तथा अभौतिक वस्तुओं का समावेश रहता है, क्योंकि इन सभी को मनुष्य ने बनाया है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि मानवशास्त्री, जैसा कि **सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर** (Beals and Hoijer) ने लिखा है, "संस्कृति शब्द का प्रयोग कुछ निश्चित अर्थों में करते हैं जैसे, संस्कृति (1) समस्त मानव जाति में एक समय विशेष में सामान्य जीवन के तरीके (ways of life) या जीवनयापन या रहन-सहन के नमूने (designs for living) हैं; या (2) समाजों के एक समूह, जिसमें कि थोड़ी-बहुत अंतःक्रिया होती है, के रहन-सहन के तरीके हैं; या (3) व्यवहार के प्रतिमान (patterns of behaviour) हैं जो कि एक समाज-विशेष में विशिष्ट रूप से पाये जाते हैं; या (4) व्यवहार करने के विशिष्ट तरीके हैं जो कि बड़े और जटिल रूप में संगठित समाज के विभिन्न भागों में विशेष रूप से पाये जाते हैं।"

## 2.4 संस्कृति के गुण एवं विशेषताएँ (Attributes and Characteristics of Culture)

उपरोक्त, परिभाषाओं से संस्कृति की प्रकृति का बहुत कुछ स्पष्टीकरण हो गया होगा। फिर भी संस्कृति के निम्नलिखित गुण व विशेषताएँ उसकी वास्तविक प्रकृति को स्पष्ट करने में सहायक होंगे—

1. **संस्कृति सीखी जाती है (Culture is learned)**—जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि सीखे हुए व्यवहार-प्रतिमानों (behaviour patterns) के संपूर्ण योग को संस्कृति कहते हैं। प्रजातीय या शारीरिक विशेषताओं की भाँति संस्कृति प्रजनन के माध्यम से व्यक्ति को प्राप्त नहीं होती, बल्कि वह जिस संस्कृति में जन्म लेता है उसमें वह उसे सीखता है। मानव की

भाषा व प्रतीकों के माध्यम से विचारों के आदान-प्रदान की शक्ति इस बात की द्योतक है कि वह दूसरों से संस्कृति के तत्वों को सीख सकता है। संस्कृतियों में भिन्नताएँ इस कारण नहीं होती हैं कि लोगों की जन्मजात क्षमताएँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं, बल्कि इसलिए होती हैं कि उन्हें अलग-अलग तरीके से पाला-पोसा जाता है। जन्म के समय बच्चों में संस्कृति-संगत व्यवहार करने का कोई भी तरीका नहीं होता है, इन्हें तो वह बड़े होने के साथ-साथ सीखने की जटिल प्रक्रिया के माध्यम से प्राप्त करता है।

इस संबंध में एक बात यह स्मरणीय है कि जब हम यह कह सकते है कि संस्कृति सीखी जाती है, तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि सभी सीखे हुए व्यवहार संस्कृति हैं। पशु भी बहुत-कुछ सीख जाते हैं, परंतु शायद ही कोई मानवशास्त्री उन्हें संस्कृति का अधिकारी मानता हो। पशुओं द्वारा सीखे हुए व्यवहार और मानव की संस्कृति पर आधारित व्यवहार में जो अंतर है उसे समझे बिना संस्कृति की वास्तविक प्रकृति को नहीं समझा जा सकता है। यह सच है कि पशु मानव की भाँति कुछ व्यवहारों को सीख सकता है व सीखता भी है और इसी के आधार पर उसमें कुछ आदतें भी पनप जाती हैं। परंतु केवल आदतों के आधार पर ही संस्कृति की यथार्थ व्याख्या संभव नहीं। इस सत्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि संस्कृति में आदतों या व्यवहारों का समावेश रहता है, परंतु संस्कृति में निहित ये आदतें तथा व्यवहार-तरीके व्यक्तिगत (individual) आदतों तथा व्यवहारों से इस अर्थ में भिन्न है कि वे आदतें तथा व्यवहार-तरीके किसी व्यक्ति विशेष के नहीं बल्कि एक समाज के सभी या अधिकतर सदस्यों की सामान्य (common) आदतें तथा व्यवहार-तरीके होते हैं। पशुओं द्वारा सीखे हुए व्यवहार वैयक्तिक होते हैं, इसीलिए उसे संस्कृति नहीं कहा जा सकता; इसके विपरीत मानव की सांस्कृतिक व्यवस्था के व्यवहार तरीके या आदतें 'सामूहिक आदतें' (group habits) होती हैं जिसे कि हम जन-रीति (folkways), रूढ़ि (mores) या प्रथा (customs) कहते हैं। इस प्रकार की कोई भी चीज पशु-समाज में नहीं मिलती। इस दृष्टिकोण से आज भी चिम्पांजी या बंदर उसी स्तर पर हैं जिस पर कि वे सौ साल पहले थे, पर मानव आज वह नहीं है जो दस साल पहले था। नित्य नये ढंग से प्रकृति का विकास मानव ही कर सकता है और करता भी है; मानव ही एकमात्र संस्कृति का निर्माण करने वाला प्राणी है। दूसरे शब्दों में, संस्कृति मानव-समाज में ही पनपती है; मानव द्वारा मानव-समाज में ही संस्कृति का निर्माण, विकास, परिमार्जन और विस्तार होता है।

2. **संस्कृति में संचारित या हस्तांतरित होने का गुण निहित है। (Culture has transmission quality)**—संस्कृति को केवल सीखा ही नहीं जा सकता, अपितु इसे एक मानव से दूसरे मानव तक फैलाया या एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित भी किया जा सकता है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, पशु भी बहुत-कुछ सीखने की क्षमता रखते हैं, परंतु उनके इन सीखे हुए व्यवहारों व अनुभवों से दूसरे पशु लाभ नहीं उठा सकते क्योंकि विचारों तथा अनुभवों को दूसरों तक पहुँचाने या फैलाने की क्षमता उनमें नहीं होती। मानव अपनी भाषा और प्रतीकों (Symbols) की सहायता से यह काम बड़ी सरलता से कर सकता है और अपनी संस्कृति को दूसरे लोगों में फैला देता है या एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित कर देता है। संस्कृति के इस गुण का तात्पर्य यह हुआ कि मानव अपनी पिछली पीढ़ियों की कृतियों के आधार पर अपना वर्तमान जीवन-तरीका प्रारंभ करता है और प्रत्येक पीढ़ी को फिर से सब कुछ सीखना या आविष्कार करना नहीं पड़ता है। यदि एक पीढ़ी बैलगाड़ी का आविष्कार करती है तो दूसरी पीढ़ी को फिर से बैलगाड़ी बनाने के तरीकों को नहीं खोजना पड़ेगा; वह अपनी पिछली पीढ़ी से बैलगाड़ी बनाने के तरीकों को सीख लेगी। इस प्रकार प्राप्त अनुभवों और ज्ञानों के आधार पर बैलगाड़ी से अधिक उन्नत ढंग के यातायात के साधन का आविष्कार करने का प्रयत्न करेगी जिसके फलस्वरूप साइकिल या रेलवे इन्जन का आविष्कार होगा। अत: स्पष्ट है कि संस्कृति में, संचारित तथा हस्तांतरित होने के गुण निहित होने के कारण ही संस्कृति का विकास, विस्तार, परिमार्जन और परिवर्द्धन संभव होता है। इससे संस्कृति की

नोट

एक अन्य विशेषता स्पष्ट हो जाती है और वह यह कि संस्कृति अपने विकास, विस्तार तथा निरंतरता के लिए किसी एक व्यक्ति या समूह पर निर्भर नहीं रहती क्योंकि संस्कृति अनेक व्यक्तियों की अंतःक्रिया तथा एकाधिक पीढ़ियों की कीर्तियों (achievements) का फल होती है।

3. **संस्कृति प्रत्येक समाज में एक विशेष प्रकार की होती है (Culture is distinctive in every Separate Society)**–प्रत्येक समाज की अपनी एक विशिष्ट संस्कृति होती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि प्रत्येक समाज की भौगोलिक तथा सामाजिक परिस्थितियाँ भी अलग-अलग होती हैं। संस्कृति पूर्णतया सामाजिक आविष्कार का परिणाम होती हैं। आविष्कार करने की जरूरत मानव-आवश्यकताओं के कारण होती है। ये सामाजिक आवश्यकताएँ प्रत्येक समाज में भिन्न-भिन्न होती हैं; इसी कारण संस्कृति का रूप या स्वरूप भी प्रत्येक समाज में अलग होता है। इन सांस्कृतिक भिन्नताओं का परिणाम यह होता है कि एक समाज के सदस्यों के व्यवहारों की विशेषताएँ दूसरे समाज के सदस्यों के व्यवहारों से पृथक् होती हैं। इतना ही नहीं, संस्कृति में परिवर्तन तभी होता है जबकि उस समय के विशिष्ट व्यवहारों में परिवर्तन होता है। इन विशिष्ट व्यवहारों में परिवर्तन सभी समाजों में एक-से नहीं होते, इस कारण सभी समाजों में सांस्कृतिक परिवर्तन की दिशा, गति और स्वरूप भी एक-सा नहीं होता। अतः स्पष्ट है कि प्रत्येक समाज में संस्कृति की भिन्नता स्वाभाविक ही है। फिर भी, संस्कृति के कुछ तत्व सभी समाजों में एक-से या सामान्य होते हैं, जिन्हें कि **श्री मुरडॉक** (Murdock) ने 'संस्कृति का सामान्य हर' (The Common Denominator of Culture) कहा है।" **सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर** (Beals and Hoijer) ने भी लिखा है कि "ऊपर से देखने से ऐसा लगता है कि न्यूयॉर्क या पेरिस और एस्किमों की संस्कृतियों में पर्याप्त अंतर है, परंतु यदि इन दोनों संस्कृतियों का विश्लेषण किया जाए तो उनमें सामान्य विशेषताओं को ढूँढ़ा जा सकता है।" विभिन्न संस्कृतियों की सामान्यता को ढूँढ़ने का सबसे सीधा तरीका यह है कि उनके कार्यों का विश्लेषण किया जाये। ऐसा करने पर यह मालूम होगा कि कुछ सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रत्येक संस्कृति में अलग-अलग तरीके हैं। किसी भी संस्कृति के अध्ययन से यह पता चल जाता है कि संस्कृति समाज के सदस्यों की कुछ शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। संस्कृति उन साधनों को प्रस्तुत करती है जिनकी सहायता से मनुष्य को वस्त्र तथा निवास प्राप्त होता है, वह जिन्दा रहता है और समाज की निरंतरता बनी रहती है, परंतु समाज की निरंतरता के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है; समाज व्यवस्था (social order) भी आवश्यक है। संस्कृति समाज के सदस्यों के संबंधों को नियमित (regulate) करती है और उन्हें ज्ञान और अनुभव हस्तांतरित करती है। साथ ही, अनेक प्रकार की प्रथा, परंपरा, जन-रीति, धर्म आदि के माध्यम से भी संस्कृति अपने समाज के सदस्यों के व्यवहार में एकरूपता उत्पन्न करती है। ये कुछ ऐसे कार्य हैं जो कि प्रत्येक समाज की संस्कृति की ही विशेषता हैं, यद्यपि इनके स्वरूपों में भिन्नताएँ होती हैं। इस प्रकार विभिन्न समाज की संस्कृतियों में भिन्नताएँ और समानताएँ दोनों ही होती हैं। स्वरूपों में भिन्नताएँ और अनेक कार्यों में समानताएँ या एकता सभी संस्कृतियों की एक प्रमुख विशेषता है।

4. **संस्कृति में सामाजिक गुण निहित होता है (Culture has social quality)**–संस्कृति की प्रकृति निश्चय ही सामाजिक है क्योंकि जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, संस्कृति मानव-आवश्यकताओं की प्रतिक्रियास्वरूप सामाजिक आविष्कार का फल है। समाज की परंपरा संस्कृति को जीवित रखती है। संस्कृति सामाजिक इस अर्थ में भी है कि संस्कृति किसी व्यक्ति-विशेष या दो-चार व्यक्तियों की धरोहर नहीं होती; उसका विस्तार व्यापक और सामाजिक होता है, अर्थात् संस्कृति समाज के समस्त या अधिकतर सदस्यों का सीखा हुआ व्यवहार-प्रतिमान होती है और इसीलिए संस्कृति एक समाज की संपूर्ण सामाजिक जीवन-विधि (life way) का प्रतिनिधित्व करती है। इसी सामाजिक गुण के कारण समाज का प्रत्येक सदस्य संस्कृति को अपनाता है चूँकि संस्कृति 'सबका' सीखा हुआ व्यवहार-प्रतिमान

या व्यवहार-प्रकारों की समग्रता है, इस कारण इसमें व्यक्तिगत व्यवहारों पर सामाजिक दबाव डालने की शक्ति होती है। इसी सामाजिक दबाव (social pressure) के कारण, सदस्यों की व्यवहार-विधि में अधिक अंतर या भिन्नताएँ उत्पन्न नहीं हो पाती और इसके फलस्वरूप समाज के व्यवहार प्रतिमानों (behaviour patterns) में एकरूपता होती है और संस्कृति के रूप या स्वरूप में भी एक प्रकार की स्थिरता बनी रहती है। परंतु इस 'स्थिरता' का तात्पर्य यह नहीं कि संस्कृति में परिवर्तन होता ही नहीं है, इसका तात्पर्य केवल इतना है कि संस्कृति एक अव्यवस्थित अवधारणा (concept) नहीं है क्योंकि, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, यह तो संपूर्ण सामाजिक जीवन-विधियों का प्रतिनिधित्व करती है। साथ ही एक समाज के सदस्यों को अपनी संस्कृति से कुछ आशाएँ (expectations) होती हैं। सदस्यों की ये आशाएँ भी संस्कृति के सामाजिक गुण को ही बतलाती हैं और वह इस अर्थ में कि ये आशाएँ सामाजिक या सामूहिक अनुभवों, आदतों आदि की ही उपज होती हैं। संस्कृति के अंतर्गत जो प्रथा, परंपरा, जन-रीति, रूढ़ि, धर्म, भाषा, कला आदि का समावेश होता है, उसी से यह स्पष्ट है कि संस्कृति में सामाजिक गुण निहित होते हैं क्योंकि ये प्रथा, परंपरा, जन-रीति, धर्म आदि व्यक्तिगत जीवन-विधि को नहीं बल्कि सामाजिक या सामूहिक जीवन-विधि को व्यक्त करते हैं।

5. **समूह के लिए संस्कृति आदर्श होती है (Culture is ideal for the group)**—श्री मुरडॉक (Murdock) ने संस्कृति की इस विशेषता या प्रकृति की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। आपके मतानुसार, "काफी हद तक सामूहिक आदतों को, जिनसे संस्कृति का निर्माण होता है, व्यवहार के आदर्श नियम या प्रतिमान (pattern) माना या कहा जाता है।" इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक समाज या समूहों के सदस्यों की दृष्टि में उनकी संस्कृति सामाजिक व्यवहार का एक आदर्श मान (standard) है और इस कारण उसे स्वीकार करना और उसी के अनुरूप अपने व्यवहार को ढालना ही उचित है। यद्यपि यह सच है कि व्यावहारिक तौर पर इन आदर्शों को आदर्श के रूप में शायद ही ग्रहण किया जाता हो, फिर भी इस विषय में सचेतता अवश्य ही पाई जाती है, विशेषकर जब अपनी संस्कृति की तुलना दूसरी संस्कृति से करने की आवश्यकता होती है तो अपनी संस्कृति को आदर्श रूप में प्रस्तुत करने का मनोभाव उस समाज के अधिकतर लोगों में पाया जाता है। उदाहरणार्थ, धर्म को ही लीजिए। जब एक ईसाई पादरी एक हिंदू को ईसाई धर्म को स्वीकार करने को कहता है तो वह हिंदू धर्म की बुराइयों तथा ईसाई धर्म की अच्छाइयों को अतिरंजित रूप में प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार एक भारतवासी को प्राय: अपनी भारतीय संस्कृति के गुण-गान में मुखरित होते देखा जाता है। संस्कृति आदर्श इसलिये भी है कि यह व्यवहार-प्रतिमान किसी व्यक्ति का व्यवहार नहीं है, बल्कि सारे समूह का व्यवहार है। इसी कारण ये व्यवहार आदर्श व्यवहार हैं। इन्हें मानने से समाज या समूह से प्रशंसा प्राप्त होती है और न मानने से निंदा मिलती है। इसीलिए इन आदर्श सांस्कृतिक प्रतिमानों से संबंधित सामूहिक अभिमतियों (group sanctions) के बारे में बहुत-कुछ सचेत रहता है।

6. **संस्कृति मानव-आवश्यकताओं की पूर्ति करती है (Culture satisfies human needs)**—मानव-समाज में संस्कृति के कुछ विशिष्ट कार्य होते हैं। वह मानव की प्राणिशास्त्रीय तथा सामाजिक दोनों प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन जुटाती है। किसी संस्कृति या सांस्कृतिक तत्व अथवा प्रतिमान की निरंतरता इसी बात पर निर्भर होती है उसमें शारीरिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने की क्षमता है या नहीं? जिस प्रकार व्यक्तिगत आदत (individual habit) तभी बनी रहती है जब कि उससे व्यक्ति की सचेत या अचेत इच्छा या प्रेरणा (drive) की तृप्ति या पूर्ति होती है; उसी प्रकार संस्कृति की सामूहिक आदतों में भी समूह की आवश्यकताओं की पूर्ति करने का गुण होता है। संपूर्ण संस्कृति तक की समाप्ति हो सकती है यदि वह निरंतर अपने समाज के सदस्यों की महत्त्वपूर्ण शारीरिक, मानसिक व सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असफल रहे। वास्तव में एक संस्कृति

के अंतर्गत अनेक भाग और उपभाग होते हैं जो कि संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था में संगठित होते हैं यद्यपि इनमें से प्रत्येक भाग का एक विशिष्ट स्वरूप होता है जैसे कि एक नाव या एक बर्तन, एक मूर्ति या एक प्रथा का एक स्वरूप होता है। इनमें से प्रत्येक का संपूर्ण जीवन-विधि में या सामाजिक जीवन में कोई न कोई कार्य होता ही है। ये व्यर्थ में ही नहीं बने रहते। इन समस्त भागों और उपभागों में जो पारस्परिक संबंध तथा प्रभाव होता है उनके संपूर्ण योग से ही संस्कृति के ढाँचे का निर्माण होता है और प्रत्येक भाग की संपूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था में जो योगदान (contribution) होता है उसे उस भाग का कार्य (function) कहते हैं, जो उनके स्वरूप (form) से पृथक् होता है। इस प्रकार एक नाव, जिसका कि स्वरूप नाप और चित्रों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है, कुछ कार्यों को भी करती है जैसे, यातायात के साधन के रूप में या मछली पकड़ने में सहायक के रूप में कार्य करती है। उसी प्रकार बाहरी तौर पर, एक संस्कृति की एक प्रथा विशेष हमारे लिए अर्थहीन और अनोखी प्रतीत हो सकती है परंतु यदि संपूर्ण सांस्कृतिक ढाँचे के संदर्भ में उस प्रथा के कार्यों की हम सावधानी से विवेचना करें तो उसी प्रथा का वैज्ञानिक अर्थ स्पष्ट हो जायेगा। फिर यह एक अनोखी तथा बेतुकी प्रथा न रहकर सामाजिक तौर पर एक महत्त्वपूर्ण कार्य को करने वाली प्रतीत होगी। इस प्रकार संस्कृति के अंतर्गत प्रत्येक इकाई का एक विशिष्ट महत्त्व तथा कार्य होता है जो कि संपूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था की स्थिरता तथा निरंतरता को बनाए रखने में सहायक होता है। प्रत्येक के बिना संपूर्ण का अस्तित्व (existence) असंभव है और संपूर्ण के बिना प्रत्येक अर्थहीन भी है। जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक अंग का संपूर्ण शरीर को जीवित रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान होता है, उसी प्रकार प्रत्येक प्रथा या प्रत्येक संस्था का संपूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था की जीवन-विधि को कायम रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान हुआ करता है। संस्कृति के अध्ययन में प्रकार्यवादियों (functionalists) ने, जिनमें **सर्वश्री रैडक्लिफ-ब्राउन** (Radcliffe-Brown) तथा **मैलिनोवस्की** (Malinowski) का नाम विशेष उल्लेखनीय है, संस्कृति के इस प्रकार्यात्मक (functional) पक्ष पर विशेष बल दिया है।"

7. **संस्कृति में अनुकूलन करने का गुण होता है (Culture has adaptive quality)**– संस्कृति की इस विशेषता या गुण के दो स्पष्ट पहलू हैं–**प्रथम** तो यह कि संस्कृति जड़ और स्थिर नहीं होती, गतिशीलता उसकी एक उल्लेखनीय विशेषता है और **दूसरा** यह कि इस गतिशीलता या समय-समय पर संस्कृति में होने वाले परिवर्तनों के फलस्वरूप इसका अनुकूलन बाहरी शक्तियों से होता रहता है। इस प्रकार के अनुकूलन में संस्कृति का भौगोलिक पर्यावरण से अनुकूलन विशेष रूप से उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण है। एक जंगल में रहने वाला समुदाय अपनी सांस्कृतिक व्यवस्था का अनुकूलन जंगल की परिस्थितियों से करता है या टुण्ड्रा निवासियों की संस्कृति वहाँ के बर्फीले पर्यावरण के अनुकूल होती है। परंतु इसका यह मतलब कदापि नहीं है कि भौगलिक पर्यावरण संस्कृति को निश्चित करता है, इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि भौगालिक पर्यावरण सांस्कृतिक विकास की सीमाओं को निश्चित करता है जिसके आगे एक निश्चित सांस्कृतिक स्तर के लोग नहीं जा सकते। बर्फ से ढके हुए टुण्ड्रा प्रदेश के अत्यधिक प्रतिकूल भौगोलिक पर्यावरण में अमेरिका जैसी संस्कृति का विकास संभव नहीं। भौगोलिक पर्यावरण उन कच्चे मालों को प्रदान करता है जिनसे संस्कृति के निर्माण कार्य में सहायता मिलती है। परंतु इस संबंध में यह ध्यान रहे कि मनुष्य स्वयं अपनी संस्कृति का निर्माता है; भौगोलिक पर्यावरण का कार्य उस निर्माण कार्य में आवश्यक कच्चे माल को प्रदान करना है। परंतु उस कचचे माल में संस्कृति की झोंपड़ी बनेगी या महल, इसे तो मनुष्य स्वयं ही निश्चित करता है। मानव भौगोलिक पर्यावरण के हाथ में एक कठपुतली मात्र नहीं कि वह जैसे भी चाहे उसे नचा सकता है। ज्यों-ज्यों मानव की संस्कृति का विकास होता है, त्यों-त्यों भौगोलिक पर्यावरण का प्रभाव कम होता जाता है। अत: स्पष्ट है कि संस्कृति परिवर्तनशील या गतिशील होता है। प्रत्येक संस्कृति का प्रमुख उद्देश्य तथा कार्य मानव की शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है।

अत: इन आवश्यकताओं के अनुसार संस्कृति का स्वरूप भी प्रभावित होता है और इनमें होने वाले प्रत्येक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के साथ-साथ संस्कृति के ढाँचे तथा स्वरूप में भी परिवर्तन होता रहता है। प्रत्येक युग की माँग पृथक्-पृथक् होती है; समय परिवर्तन के साथ-साथ अनेक नयी आवश्यकतायें पनपती हैं और अनेक पुरानी आवश्यकतायें समाप्त हो जाती हैं। इन दोनों अवस्थाओं के साथ ही अपना अनुकूलन कर सकने का गुण संस्कृति में होता है। अनेक मानवीय आवश्यकताओं तथा पर्यावरण-संबंधी व ऐतिहासिक परिस्थितियों या घटनाओं (phenomena) के कारण संस्कृति के ढाँचे में परिवर्तन होता रहता है। परंतु संस्कृति के संपूर्ण ढाँचे में एकाएक परिवर्तन शायद ही होता है। वास्तव में संपूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था के विभिन्न अंगों या इकाइयों में विभिन्न समय में परिवर्तन होता रहता है और इन परिवर्तनों के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि दूसरे अंग या इकाइयाँ भी अपना अनुकूलन परिवर्तित भागों या इकाइयों के अनुरूप करती रहें। चूँकि अपनी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए मनुष्य संस्कृति या इसकी विभिन्न इकाइयों को काम में लाता है, इसलिए मनुष्य को भी इन निरंतर परिवर्तनशील इकाइयों के साथ अपना अनुकूलन करना पड़ता है। अत: स्पष्ट है कि संस्कृति के अपने-आपको ढाँचे में परिवर्तन कर सकने के गुण ने समस्त पशुओं में मनुष्य को सर्वाधिक अनुकूलनशील (adaptive) प्राणी बना दिया है।

8. **संस्कृति में संतुलन तथा संगठन होता है (Culture has the integrative quality)**– संस्कृति एक अखंड व्यवस्था नहीं है। संस्कृति के अंतर्गत अनेक खंड या इकाइयाँ होती हैं; परंतु ये सब आकस्मिक और अव्यवस्थित (random and haphazard) नहीं होतीं। संस्कृति के इन खंडों या इकाइयों में एक पारस्परिक संबंध तथा अंत:निर्भरता होती है जिसके कारण संस्कृति में एक प्रकार का संतुलन तथा संगठन पाया जाता है। यह वास्तव में इसलिए होता है कि संस्कृति की विभिन्न इकाइयाँ बिल्कुल पृथक् होकर कार्य नहीं करतीं; प्राय: वे दूसरी इकाइयों के साथ मिलकर कार्य करती हैं। इस संबंध में दूसरी बात यह है कि इन इकाइयों का अस्तित्व शून्य (vacuum) में नहीं होता, ये एक संपूर्ण सांस्कृतिक ढाँचे के अंतर्गत व्यवस्थित ढंग से गुंथी हुई या संबद्ध होती हैं। इस ढाँचे के अंदर प्रत्येक इकाई की एक निश्चित स्थिति तथा कार्य होता है। इन सबका परिणाम यह होता है कि संस्कृति के संपूर्ण ढाँचे में संतुलन और संगठन होता है। चूँकि संस्कृति की विभिन्न इकाइयाँ एक-दूसरे से संबंधित तथा एक-दूसरे पर आधारित होती हैं; इस कारण संस्कृति के एक भाग में कोई परिवर्तन होने पर उसका कुछ-न-कुछ प्रभाव दूसरे भागों पर भी अवश्य पड़ता है। अत: संक्षेप में हम कह सकते हैं कि संस्कृति के विभिन्न भागों या इकाइयों में, जैसा कि **श्री समनर** (Sumner) ने कहा है, "एकरूपता की ओर एक खिंचाव" (a strain towards consistency) होता है जिसके फलस्वरूप ये विभिन्न भाग एक साथ मिलते हैं और एक बहुत-कुछ पूर्णतया संगठित समग्रता (more or less completely integrated whole) का निर्माण करते हैं। यह संपूर्ण समग्रता की संस्कृति है। संस्कृति की यह विशेषता सादे, छोटे तथा पृथक् समाजों में अधिक स्पष्ट रूप में देखने को मिलती है क्योंकि ऐसे समाजों में तनाव उत्पन्न करने वाली शक्तियाँ कम होती हैं और संस्कृति के विभिन्न पक्षों तथा तत्वों से अधिक शीघ्रता से परिवर्तन नहीं होती।

9. **संस्कृति अधि-वैयक्तिक तथा अधि-सावयवी है**–संस्कृति की एक अन्य प्रमुख विशेषता यह है कि अधि-वैयक्तिक (Super individual) और अधि-सावयवी (Super organic) दोनों ही है। इन दोनों विशेषताओं की विवेचना हम पृथक्-पृथक् कर सकते हैं। पहले संस्कृति अधि-वैयक्तिक है, इस विशेषता को लीजिए। यह सच है कि व्यक्ति संस्कृति का वाहक (carrier) है और इन व्यक्तियों को निकालकर किसी भी संस्कृति के अस्तित्व की चिंता करना मूर्खता है। फिर भी संस्कृति किसी व्यक्ति विशेष की रचना है, यह सोचना भी गलत है। "जो कुछ भी एक मानव प्राणी या व्यक्ति विशेष को अपने अधिकार में रख सकता है या अपने काम में लगा सकता है, कोई भी संस्कृति उससे कहीं अधिक होती है।" (Any culture is more than any individual human being can grasp or manipulate)। साथ ही, संस्कृति

की स्थिरता या निरंतरता किसी एक व्यक्ति विशेष पर निर्भर नहीं है क्योंकि संस्कृति व्यक्ति का व्यवहार नहीं है, वह तो समूह-व्यवहारों की समग्रता (The whole of group habits) है। एक वैयक्तिक आदत या व्यवहार-विधि उस व्यक्ति की मृत्यु के बाद समाप्त हो सकती है परंतु सामूहिक आदतों या व्यवहार-विधियों की निरंतरता इस प्रकार समाप्त नहीं होती है—यह तो असंख्य व्यक्तियों की अंत:क्रिया (interaction) और विचारों के आदान-प्रदान के माध्यम से पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होती है। चूँकि संस्कृति की रचना और निरंतरता दोनों ही किसी व्यक्ति विशेष पर निर्भर नहीं है, इसीलिए यह (संस्कृति) अधि-वैयक्तिक (super individual) है।

**संस्कृति अधि-वैयक्तिक ही नहीं अधि-सावयवी भी है,** यह विचार **श्री क्रोबर** का है। संस्कृति के संबंध में अधि-सावयवी शब्द का प्रयोग **श्री क्रोबर** ने इस अर्थ में तथा इस बात पर बल देने के लिए किया था कि चूँकि प्राणिशास्त्रीय (सावयवी) क्षमताएँ और संस्कृति (अधि-सावयवी) भिन्न कोटि की घटनाएँ (phenomena) हैं, इसलिए संस्कृति का स्थान सावयवी से ऊँचा मान लेना ही उचित है और वह भी इस अर्थ में कि संस्कृति मानव-जीवन को परिभाषित, नियंत्रित तथा निर्देशित करती है। मानव इसके प्रभावों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता, संस्कृति के धारा-प्रवाह में उसे बहना ही पड़ता है। संस्कृति अधि-सावयवी इसलिए भी है कि केवल सावयवी घटनाएँ संस्कृति को जन्म नहीं दे सकतीं। अगर यह संभव होता तो सभी पशु संस्कृति के अधिकारी होते। पशु भी समाज में रहते हैं, पर वे संस्कृति को नहीं रखते क्योंकि संस्कृति, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, शारीरिक विशेषताओं की भाँति प्रजनन के माध्यम से व्यक्ति को नहीं मिलती। सावयवी घटनाएँ अथवा वंशानुक्रमण सांस्कृतिक लक्षणों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित करने की क्षमता नहीं रखते। **श्री क्रोबर** ने इस सत्य को एक उदाहरण देकर समझाया है। चींटियों के बहुत से ताजे अंडों में से केवल दो अंडों को चुन लीजिए और बाकी सबको नष्ट कर दीजिए। उन दो अंडों की गर्मी, नमी आदि के विषय में थोड़ा-सा ध्यान रखिए। उन अंडों से जो चींटियाँ उत्पन्न होंगी उनमें चींटी 'समाज' की समस्त विशेषताएँ अन्य चींटियों की भाँति ही स्पष्ट होंगी; उनमें क्षमता, शक्ति, क्रियाशीलता आदि किसी भी विषय में कोई कमी नहीं होगी। परंतु एक सर्वाधिक सभ्य राष्ट्र के सर्वोच्च वर्ग में से वंशानुक्रमण वाले दो-चार सौ मानव शिशुओं को चुनकर एक रेगिस्तानी प्रदेश या निर्जन स्थान में रख दीजिए और उन्हें खाने, पीने, रहने आदि की चीजों को देते रहिए, पर उनको एक-दूसरे से पृथक् रखिए। यह सच है कि वे शिशु आयु में बढ़ते रहेंगे, परंतु उन्हें और कुछ भी न होगा। उन्हें उस संस्कृति का एक-तिहाई तो क्या, एक कण भी प्राप्त न होगा। जिससे उन्हें पृथक् रखा गया है, उनसे केवल कला, ज्ञान, विज्ञान धर्म आदि सबसे रहित गूंगों (mutees) के एक झुंड मात्र का ही निर्माण होगा। उनमें संस्कृति या सभ्य मानव की विशेषताओं का नाममात्र भी न होगा। उन्हें देखकर यह कभी प्रतीत न होगा कि उनके बाप-दादा सभ्य थे। वंशानुक्रमण या सावयवी घटनाएँ उन मानव-शिशुओं को सभ्य या संस्कृति का अधिकारी नहीं बना सकतीं क्योंकि संस्कृति अधि-सावयवी है। **श्री क्रोबर** के ही शब्दों में, "चींटियों के लिए वंशानुक्रमण पीढ़ी-दर-पीढ़ी उन सब गुणों को बनाए रखता है जो कुछ भी उनका होता है, परंतु वंशानुक्रमण सभ्यता या संस्कृति के एक कण को भी, जो विशेष रूप से मानवीय है, बनाए नहीं रखता है और न ही रखा है क्योंकि वह उसे बनाए रख भी नहीं सकता।" अत: स्पष्ट है कि संस्कृति अधि-सावयवी है।

परंतु, जैसा कि संस्कृति की उपर्युक्त विशेषता के संबंध में **श्री क्लूखौन** (Klukhon) का मत है, संस्कृति को अधि-वैयक्तिक तथा अधि-सावयवी मानने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि हम यह मान लें कि संस्कृति का अस्तित्व उसमें अंश ग्रहण करने वाले सभी व्यक्तियों के मर जाने के बाद या सभी सावयवी घटनाओं के नष्ट हो जाने के बाद भी बना रहेगा। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि संस्कृति का निर्माण, अस्तित्व और निरंतरता किसी व्यक्ति विशेष पर निर्भर नहीं है और न ही संस्कृति हमें वंशानुसंक्रमण से प्राप्त होती है। इसी अर्थ में संस्कृति **अधि-वैयक्तिक** और **अधि-सावयवी** है।

## 2.5 संस्कृति के उपादान (Components of Culture)

श्री पिडिंगटन ने स्पष्ट ही लिखा है कि **"संस्कृति उन भौतिक तथा बौद्धिक साधनों या उपकरणों का संपूर्ण योग है जिनके द्वारा मानव अपनी प्राणिशास्त्रीय तथा सामाजिक आवश्यकताओं की संतुष्टि तथा अपने पर्यावरण से अनुकूलन करता है।"** हम यह जानते हैं कि इस संस्कृति में संतुलन और संगठन होता है। यह संगठन अनेक तत्वों, इकाइयों, भागों और उपभागों को मिलाकर बनता है। ये तत्व या भाग छोटे-से-छोटे या बड़े-से-बड़े हो सकते हैं। इनमें जो पारस्परिक संबंध तथा अंतःनिर्भरता पाई जाती है उसी के कारण संस्कृति के ढाँचे में संतुलन और संगठन उत्पन्न होता है। यह एक तथ्य की बात है कि कोई भी व्यक्ति संपूर्ण संस्कृति को एकाएक या एक साथ न समझ सकता है और न ही समझना संभव है। इसलिए संस्कृति की विभिन्न इकाइयों या उपादानों की विवेचना आवश्यक हो जाती है। संस्कृति के विभिन्न उपादानों को जिनसे कि उनके ढाँचे का निर्माण होता है, सांस्कृतिक तत्व, संस्कृति-संकुल, संस्कृति-प्रतिमान और सांस्कृतिक क्षेत्र कहा जाता है। ये सभी संस्कृति के क्रमशः बढ़ाने वाले उपादान हैं और वह इस अर्थ में कि सांस्कृतिक तत्व (Cultural trait) संस्कृति की सबसे छोटी इकाई है, जो परस्पर मिलकर एक संस्कृति-संकुल (culture complex) का निर्माण करती है। ये संस्कृति-संकुल संस्कृति के ढाँचे में एक विशेष ढंग से व्यवस्थित रहते हैं जिससे एक संस्कृति को एक विशिष्ट रूप या स्वरूप प्राप्त होता है। संस्कृति से इस विशिष्ट स्वरूप को संस्कृति-प्रतिमान (Culture pattern) कहते हैं। इस संस्कृति-प्रतिमान का अर्थात् एक प्रकार की जीवन-विधियों का फैलाव एक विशिष्ट क्षेत्र में पाया जाता है, जिसे सांस्कृतिक क्षेत्र (Culture area) कहते हैं। संस्कृति के इन उपादानों की विवेचना अब हम विस्तारपूर्वक करेंगे।

## 2.6 भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति (Material and Non-material Culture)

अमरीकन समाजशास्त्री **ऑगबर्न** ने संस्कृति को भौतिक और अभौतिक दो भागों में बाँटा है उनके इस वर्गीकरण को अन्य वैज्ञानिकों ने भी स्वीकार किया है।

### *भौतिक संस्कृति (Material Culture)*

भौतिक संस्कृति के अंतर्गत मानव द्वारा निर्मित सभी भौतिक एवं मूर्त वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है **जिन्हें हम देख सकते हैं, छू सकते हैं और इंद्रियों द्वारा जिनका आभास कर सकते हैं।** भौतिक संस्कृति में हम घड़ी, पेन, पंखा, मोटर, मशीन, औजार, वस्त्र, वाद्य-यंत्र, रेल, जहाज, वायुयान, टेलीफोन आदि अनेक वस्तुओं को गिन सकते हैं। भौतिक संस्कृति के सभी तत्वों को गिनना सरल नहीं है। सरल एवं आदिम समाजों की अपेक्षा जटिल एवं आधुनिक समाजों में इनकी संख्या अधिक है। इसी प्रकार से पुरानी पीढ़ी की अपेक्षा नयी पीढ़ी के पास भौतिक संस्कृति अधिक है। भौतिक संस्कृति का कुल योग है जिसके सभी भागीदार होते हैं तथा जो हस्तांतरित की जाती है।" **लोवी** (Lowie) "संपूर्ण सामाजिक परंपरा" (Whole of social tradition) को संस्कृति कहते हैं। **क्लूखौन** संस्कृति को विचारने, अनुभव करने एवं क्रिया करने की एक विधि मानते हैं।

### *संस्कृति का समाजशास्त्रीय अर्थ*

समाजशास्त्रीय अर्थ में संस्कृति को समाज की धरोहर या विरासत के रूप में परिभाषित किया गया है। समाज द्वारा निर्मित भौतिक एवं अभौतिक दोनों पक्षों को संस्कृति में सम्मिलित करते हुए **रॉबर्ट बीरस्टीड** लिखते हैं, "संस्कृति वह संपूर्ण जटिलता है जिसमें वे सभी वस्तुएँ सम्मिलित हैं। जिन पर हम विचार करते हैं, कार्य करते हैं और समाज के सदस्य होने के नाते अपने पास रखते हैं।"

वे पुनः लिखते हैं, "इसके अंतर्गत हम जीवन जीने, कार्य करने एवं विचार करने के उन सभी तरीकों को सम्मिलित करते हैं जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होते हैं और समाज के स्वीकृत अंग (accepted parts of society) बन चुके हैं।"

**लैंडिस** के अनुसार, "संस्कृति वह संसार है जिसमें एक व्यक्ति जन्म से मृत्यु तक निवास करता है, चलता-फिरता है और अस्तित्व को बनाये रखता है।"

**ब्लूम एवं सेल्जनिक**, "संस्कृति को सामाजिक विरासत के रूप में स्वीकार करते हैं।"

**टॉलकॉट पारसन्स** ने अपनी पुस्तक 'The Social System' में संस्कृति को एक ऐसे पर्यावरण के रूप में परिभाषित किया है जो मानव क्रियाओं के निर्माण में मौलिक है, इसका तात्पर्य है कि संस्कृति मानव के व्यक्तित्व एवं क्रियाओं का निर्धारण करती है। **मैकाइवर एवं पेज** ने संस्कृति की परिभाषा सभ्यता एवं संस्कृति के भेद को प्रकट करने के दौरान की है। वे लिखते हैं, "यह (संस्कृति) मूल्यों, शैलियों, भावात्मक लगावों, बौद्धिक अभियानों का संसार है। इसलिए संस्कृति सभ्यता का प्रतिवाद (anti-thesis) है। यह (संस्कृति) हमारे रहने और सोचने के ढंगों, कार्यकलापों, कला, साहित्य, धर्म, मनोरंजन एवं आनंद में हमारी प्रकृति की अभिव्यक्ति है।"

**मैकाइवर संस्कृति** में केवल अभौतिक पक्षों को ही सम्मिलित करते हैं। फेयर **चाइल्ड** के अनुसार, "प्रतीकों द्वारा सामाजिक रूप से प्राप्त और संचारित सभी व्यवहार प्रतिमानों के लिए सामूहिक नाम संस्कृति है।"

### *भौतिक संस्कृति (Material Culture)*

भौतिक संस्कृति की विशेषताओं को हम संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं–

(1) भौतिक संस्कृति मूर्त होती है।

(2) भौतिक संस्कृति संचयी है, अत: उसके अंगों में निरंतर वृद्धि होती जाती है।

(3) चूँकि भौतिक संस्कृति मूर्त है, अत: उसे मापा जा सकता है।

(4) भौतिक संस्कृति की उपयोगिता एवं लाभ का मूल्यांकन सरल है।

(5) भौतिक संस्कृति में परिवर्तन शीघ्र होते हैं।

(6) एक स्थान से दूसरे स्थान पर संस्कृति का प्रसार होने पर भौतिक संस्कृति में बिना परिवर्तन हुए ही उसे ग्रहण किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, अमरीकन फर्नीचर की डिजायन, पेन, वेष-भूषा एवं मशीनों को हम बिना परिवर्तन के ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर सकते हैं।

### *अभौतिक संस्कृति (Non-material Culture)*

**मैकाइवर** एवं अन्य कई समाज-वैज्ञानिकों ने संस्कृति में केवल अभौतिक तत्वों को ही सम्मिलित किया है। सोरोकिन इसे भावात्मक संस्कृति कहते हैं। अभौतिक संस्कृति के अंतर्गत उन सभी सामाजिक तथ्यों को सम्मिलित किया जाता है जो अमूर्त हैं, जिनका कोई माप-तौल, आकार व रंग-रूप नहीं होता, इंद्रियों द्वारा जिनका स्पर्श नहीं होता वरन् जिन्हें हम केवल महसूस कर सकते हैं, वह हमारे विचारों एवं कार्यों में निहित है। सामान्यत: अभौतिक संस्कृति में हम सामाजिक विरासत में प्राप्त विचार, विश्वास, मानदंड, व्यवहार, प्रथा, रीति-रिवाज-कानून, मनोवृत्तियाँ, साहित्य, ज्ञान, कला, भाषा, नैतिकता आदि को सम्मिलित करते हैं। अभौतिक संस्कृति समाजीकरण एवं सीखने की प्रक्रिया द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होती है। अभौतिक संस्कृति की विशेषताओं को हम संक्षेप में इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं–

(1) अभौतिक संस्कृति अमूर्त होती है।

(2) चूँकि अभौतिक संस्कृति अमूर्त होती है, अत: उसकी माप नहीं की जा सकती।

(3) अभौतिक संस्कृति-जटिल होती है।

(4) अभौतिक संस्कृति की उपयोगिता एवं लाभ का मूल्यांकन भौतिक वस्तुओं की तरह प्रकट नहीं किया जा सकता।

(5) अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन बहुत कम और धीमी गति से होते हैं।

(6) सांस्कृतिक प्रसार के दौरान अभौतिक संस्कृति के तत्वों को उसी रूप में ग्रहण नहीं किया जाता वरन् उनमें थोड़ा बहुत परिवर्तन आ जाता है।

(7) अभौतिक संस्कृति का संबंध मानव के आध्यात्मिक एवं आन्तरिक जीवन से है।

## 2.7 भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति में अंतर (Distinction between Material and Non-material Culture)

भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति संपूर्ण संस्कृति के दो अंग हैं। इनमें निम्नांकित अंतर पाए जाते हैं:

1. अभौतिक संस्कृति **अमूर्त** होती है जबकि भौतिक संस्कृति **मूर्त** होती है।
2. अभौतिक संस्कृति भौतिक संस्कृति की अपेक्षा **धीमी गति** से परिवर्तित होती है, अत: वह भौतिक संस्कृति की अपेक्षा **स्थिर** होती है।
3. अभौतिक संस्कृति का संबंध मानव के **आंतरिक जीवन** से है जबकि भौतिक संस्कृति का संबंध **बाह्य जीवन** से।
4. अभौतिक संस्कृति में वृद्धि **धीमी गति** से होती है जबकि भौतिक संस्कृति में **तीव्र गति** से। उदाहरण के लिए पिछले डेढ़ सौ वर्षों में कितने ही भौतिक अविष्कार हुए, कितने ही प्रकार की नई मशीनें एवं नयी वस्तुएँ बनीं जबकि हमारे विचारों, प्रथाओं, लोकरीतियों आदि में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है।
5. अभौतिक संस्कृति की अपेक्षा भौतिक संस्कृति शीघ्र **ग्राह्य** है। जब दो भिन्न सांस्कृतिक समूह संपर्क में आते हैं तो एक दूसरे की भौतिक संस्कृति शीघ्र स्वीकार कर ली जाती है, बजाय उनकी प्रथाओं या रीति-रिवाजों के।
6. भौतिक संस्कृति के मूर्त होने से उसका **सरलता से माप** किया जा सकता है जबकि अभौतिक संस्कृति के अमूर्त होने से उसका माप-तौल नहीं किया जा सकता।
7. भौतिक संस्कृति **सरल** होती है जबकि अभौतिक संस्कृति की प्रकृति **जटिल** है।
8. भौतिक संस्कृति **संचयी** होती है, आविष्कारों के कारण उसमें वृद्धि होती है, अभौतिक संस्कृति में भौतिक के समान **संचय** एवं **वृद्धि** नहीं होती है।
9. भौतिक संस्कृति का **मूल्यांकन** लाभ **एवं** उपयोगिता के आधार पर किया जाता है, अभौतिक संस्कृति का **मूल्यांकन** भौतिक वस्तुओं की तरह उपयोगिता से नहीं किया जा सकता क्योंकि इसका संबंध मानव के आत्मिक पक्ष से है जिसे महसूस किया जा सकता है, किंतु मापा नहीं जा सकता।

## 2.8 समाजीकरण का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Socialization)

प्रकृति ने मानव व पशु के बीच कुछ अंतर को रखा है और समाज व संस्कृति ने उस अंतर को इतना अधिक स्पष्ट बनाया है कि मानव अपने को सर्वश्रेष्ठ प्राणी के रूप में प्रतिष्ठित करने में सफल हुआ है। सांस्कृतिक उपलब्धियों से समृद्ध एक समाज प्राणिशास्त्रीय मानव-शिशु को ग्रहण करता है और उस प्राणिशास्त्रीय प्राणी को धीरे-धीरे एक सामाजिक प्राणी के रूप में विकसित करता है। वास्तव में जन्म के समय मानव-शिशु में किसी भी मानवोचित गुण के दर्शन नहीं होते हैं, पर बाद में समाज के संपर्क में आने के कारण उसी मानव-शिशु में एक सामाजिक व्यक्तित्व का विकास होता है, अर्थात् वह शिशु धीरे-धीरे अपने में कुछ मानवोचित गुणों, आदतों, व्यवहार के ढंग, सोचने-विचारने की विशेषता आदि को विकसित करता है। इसी प्रक्रिया को समाजीकरण कहते हैं। समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक मानव-शिशु अपने लिए सामाजिक गुणों या विशेषताओं को अर्जित करता या सीखता है और एक सामाजिक प्राणी कहे जाने की योग्यता को प्राप्त करता है।

बच्चा जब सर्वप्रथम जन्म लेता है तो वह केवल रक्त, मांस, हड्डी आदि का एक जीवित पुतला मात्र होता है। उस समय उसमें कोई भी मानवोचित या सामाजिक गुण नहीं होते। दूसरे शब्दों में, उस समय वह कुछ प्राणिशास्त्रीय (Biological) गुणों वाला एक जीवित प्राणी होता है। समाज और संस्कृति के बीच पलते हुए वह बालक धीरे-धीरे एक सामाजिक प्राणी में बदल जाता है, अर्थात् उसमें सामाजिक

नोट

गुण विकसित हो जाते हैं। इसी प्रक्रिया को, जिसके द्वारा एक प्राणिशास्त्रीय प्राणी सामाजिक प्राणी में बदल जाता है या उसमें सामाजिक गुण विकसित हो जाते हैं, 'समाजीकरण' कहते हैं।

**प्रोफेसर ग्रीन** (Green) ने समाजीकरण को परिभाषित करते हुए लिखा है, "समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा बच्चा सांस्कृतिक विशेषताओं और व्यक्तित्व को प्राप्त करता है।"

**श्री फिचर** (Fitcher) के शब्दों में, "समाजीकरण एक व्यक्ति और उसके अन्य साथी व्यक्तियों के बीच पारस्परिक प्रभाव की एक प्रक्रिया है, यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति सामाजिक व्यवहार के प्रतिमानों को स्वीकार करता तथा उनके साथ अनुकूलन करता है।"

**श्री किम्बल यंग** (Kimbal Young) ने समाजीकरण को एक प्रकार का सीखना माना है। आपके शब्दों में, "समाजीकरण व्यक्ति का सामाजिक और सांस्कृतिक संसार से परिचय कराने, उसे समाज तथा उसके विभिन्न समूहों में एक सहभागी सदस्य बनाने और उस समाज के आदर्श-नियमों (norms) तथा मूल्यों (values) को स्वीकार करने को प्रेरित करने वाली प्रक्रिया है.....समाजीकरण निश्चित रूप से एक प्रकार का सीखना है, न कि प्राणिशास्त्रीय विरासत।"

**श्री न्यूमेयर** (Neumeyer) के शब्दों में, "व्यक्ति के सामाजिक प्राणी के रूप में विकसित होने की प्रक्रिया को ही 'समाजीकरण' कहते हैं।"

**श्री जॉनसन** (Johnson) के अनुसार, "समाजीकरण एक प्रकार का सीखना है जो सीखने वाले को सामाजिक कार्य करने के योग्य बनाता है।"

**डॉ. मुकर्जी** के मतानुसार **जिस प्रक्रिया के द्वारा प्राणिशास्त्रीय व्यक्ति के सामाजिक व्यक्तित्व का निर्माण और विकास होता है, उसे समाजीकरण कहते हैं।"**

**श्री बोगार्डस** (Bogardus) ने लिखा है–"समाजीकरण मिल कर काम करने, सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना को विकसित करने और दूसरों की कल्याण-संबंधी आवश्यकताओं द्वारा निर्देशित होने की प्रक्रिया है।" इस परिभाषा में समाजीकरण की प्रक्रिया में अंत:क्रियात्मक प्रभाव पर बल दिया गया है। पर, इसमें समाजीकरण के सकारात्मक (positive) पक्ष को ही उद्घाटित किया गया है, न कि नकारात्मक (negative) पक्ष को भी। यह श्री बोगार्डस की परिभाषा की एक बहुत बड़ी कमजोरी है। वास्तव में समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति केवल समाज के सद्गुणों या अच्छी बातों को ही ग्रहण नहीं करता, बल्कि बुरी बातें भी सीखता है। समाजीकरण के द्वारा व्यक्ति ने समाज की शत-प्रतिशत अच्छी बातों को ही सीखा है, ऐसा उदाहरण वास्तव में ढूँढ़ा नहीं जा सकता। इसी प्रकार शत-प्रतिशत बुरी बातों को ही सीखा गया है, यह भी कहना अवैज्ञानिक होगा। वास्तव में, समाजीकरण की प्रक्रिया में सामाजिक व्यवहार के सकारात्मक व नकारात्मक दोनों ही पक्षों को ग्रहण करना सम्मिलित है।

## 2.9 समाजीकरण की प्रकृति (Nature of Socialization)

उपर्युक्त परिभाषाओं की विवेचना से यह स्पष्ट है कि व्यक्ति को जन्म के साथ माता-पिता की कुछ शारीरिक तथा मानसिक विशेषताएँ व लक्षण प्राप्त होते हैं। पर, उस समय उसमें कोई भी मानवोचित या सामाजिक गुण नहीं होते। वह न बोल पाता है, न कपड़े पहन पाता है, न शिष्टाचार जानता है और न ही उसके कोई मूल्य या आदर्श होते हैं। पर, समाज और संस्कृति के बीच पलते हुए उसमें ये सभी गुण धीरे-धीरे पनपते हैं। वह उठने-बैठने, खाने-पीने, बोलने-चालने, दूसरों के साथ बात-व्यवहार करने तथा अन्य अनेक नियम, कानून, प्रथा, परंपरा और रीति-रिवाज को व्यवहार में लाने का ढंग सीख जाता है। उसे अपने-पराए का ज्ञान होता है, वह उचित और अनुचित में भेद कर लेता है और कर्त्तव्याकर्त्तव्य के बारे में सचेत हो जाता है। संक्षेप में, उसमें सामाजिक जीवन में हिस्सेदार बनने की क्षमता का विकास हो जाता है और एक प्राणी कहलाने के लिए उसमें आवश्यक गुण व लक्षण विकसित हो जाते हैं। इस प्रकार व्यक्ति के सामाजिक व्यक्तित्व का विकास संभव होता है। यानी, जिस संपूर्ण प्रक्रिया के द्वारा प्राणिशास्त्रीय व्यक्ति इस भाँति एक सामाजिक मनुष्य में रूपांतरित हो जाता है, उसे 'समाजीकरण की प्रक्रिया' कहते हैं।

अर्थात् जिस प्रक्रिया के द्वारा प्राणिशास्त्रीय व्यक्ति के सामाजिक व्यक्तित्व का निर्माण और विकास होता है, उसे समाजीकरण कहते हैं।

इस संबंध में यह स्मरणीय है कि "सामाजिक व्यक्तित्व" से तात्पर्य केवल उन गुणों या लक्षणों (Traits) का ही संगठन नहीं है, जो सामाजिक दृष्टि से हितकर या उचित है। समाज-विरोधी कार्य भी वैज्ञानिक वर्ग में 'सामाजिक' ही हैं। अत: यदि समाज के सदस्य के रूप में व्यक्ति घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, संघर्ष, आदि 'अनुचित' गुणों को अपने व्यक्तित्व में विकसित कर लेता है तो वह भी 'समाजीकरण' का ही अंग माना जाएगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि समाजीकरण की प्रक्रिया लोकप्रिय दृष्टि से सदा सफल ही होती है, यह सोचना गलत है। यह प्रक्रिया कभी भी गलत राह ले सकती है और उस अवस्था में विघटित व्यक्तित्व का भी विकास हो सकता है। ऐसे लोग ही समाज-विरोधी या कानून-विरोधी कार्य करते हैं और अपराधी या बाल-अपराधी या आत्महत्याकारी के नाम से अपने को परिचित करवाते हैं।

समाजीकरण की प्रकृति की चर्चा करते हुए **श्री किम्बल यंग** (Kimbal Young) ने लिखा है कि समाजीकरण शब्द का प्रयोग तीन भिन्न, पर परस्पर संबंधित अर्थ में किया जाता है–(1) विस्तृत अर्थ में इसका प्रयोग उन प्रक्रियाओं के लिए किया जाता है, जिनके द्वारा व्यक्ति को उसके सामाजिक-सांस्कृतिक संसार से परिचित करवाया जाता है; (2) कुछ संकीर्ण अर्थ में इस शब्द का प्रयोग केवल शिशु या कम आयु के बच्चों को सामाजिक प्रशिक्षण (social training) देने के लिए किया जाता है। बाल-मनोविज्ञान (child psychology) के लेखों में समाजीकरण का प्रयोग बहुधा इसी अर्थ में किया जाता है; (3) इस शब्द का प्रयोग उस सामाजिक सीखने (social learning) के लिए भी होता है, जो बच्चों तथा युवकों के नैतिक प्रशिक्षण (moral training) से संबंधित होता है।

चूँकि अब सामाजिक विज्ञान नैतिक या आदर्शात्मक दृष्टि के तथ्यों को एकत्रित करने तथा उनका विश्लेषण करने में मान्यता प्रदान नहीं करते, इसलिए व्यक्तित्व तथा सामाजिक व्यवहार के विद्यार्थी 'समाजीकरण' शब्द का प्रयोग उपर्युक्त तीसरे अर्थ में नहीं करते। इस शब्द का इस अर्थ में प्रयोग समाज-सुधारक, उपदेशक आदि ही करते हैं। इस तीसरे अर्थ में 'समाजीकरण' शब्द का प्रयोग करने के संबंध में दो बातें कहे बिना समाजीकरण की प्रकृति को स्पष्ट नहीं किया जा सकता। समाजीकरण को केवल नैतिक प्रशिक्षण से संबंधित करना उस लोकप्रिय धारणा को ही अभिव्यक्त करता है, जिसके अनुसार समाज में केवल संतोषजनक सीखने के अंतर्गत प्रेम, सहयोग, सहानुभूति आदि को ही सम्मिलित किया जा सकता है। इसके विपरीत, जिस सीखने में संघर्ष, प्रतिस्पर्धा आदि का समावेश होता है, वह अनुचित, अनैतिक या बुरा है, इसलिए उसको त्याग देना ही उचित होगा। इस दृष्टिकोण के अनुसार समाजीकरण सहयोग, सहानुभूति, पारस्परिक एकता आदि के प्रशिक्षण तक ही सीमित है; और इसीलिए यह दृष्टिकोण समाजीकरण के अंतर्गत संघर्ष, ईर्ष्या, विरोध आदि से संबंधित प्रशिक्षण को सम्मिलित नहीं करता। पर, वास्तव में इस प्रकार के सीमित व आदर्शात्मक दृष्टिकोण का व्यक्तित्व-विज्ञान के निर्माण में कोई भी स्थान नहीं हो सकता।

इसीलिए **श्री किम्बल यंग** ने उपर्युक्त तीन दृष्टिकोणों में से प्रथम को ही स्वीकार किया है। समाजीकरण की प्रक्रिया के अंतर्गत जनरीतियों, रूढ़ियों, कानूनों, आदर्शों, मूल्यों, सामूहिक उद्देश्यों आदि का सीखना सम्मिलित है जिससे इसमें प्रतिस्पर्द्धा, संघर्ष, विरोध, ईर्ष्या, घृणा आदि का सीखना भी आ जाता है। यह सीखना जीवन के अति आरंभिक काल से आरंभ हो जाता है और जाने अनजाने, सचेत या अचेत रूप में होता रहता है। विस्तृत अर्थ में समाजीकरण सामाजिकता सीखने (social learning) का वर्णन करने का एक दूसरा तरीका है, विशेषकर इस प्रकार का सीखना–जिसका संबंध आदतों, मनोवृत्तियों, विचारों और प्रत्यक्षीकरण के ऐसे प्रशिक्षण से है जो व्यक्ति को उसके समाज का सहभागी सदस्य बनाने के लिए आवश्यक है।

## 2.10 समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया के रूप में (Socialization as a Process of Learning)

'समाजीकरण' की परिभाषाओं का उल्लेख करते हुए हमने ऊपर लिखा है कि **प्रो. किम्बल यंग** के मतानुसार 'समाजीकरण निश्चित रूप से एक प्रकार का सीखना है, न कि प्राणिशास्त्रीय विरासत।' अर्थात्

नोट

इसे वंशानुक्रमण (heredity) के द्वारा माता-पिता से प्राप्त नहीं किया जाता, अपितु समाज के सदस्य के रूप में समाज में ही रहते हुए सीखा जाता है। अत: हम फिर दोहरा सकते हैं कि **समाजीकरण वास्तव में सीखने की एक प्रक्रिया है।** निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी–

चूँकि अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य का वातावरण व आचरण अधिक विस्तृत होता है और आवश्यकताएँ अनंत, अत: मुनष्य के लिए अनुकूलन (adjustment) की समस्या अधिक जटिल होती है। इस जटिल समस्या को मानव विभिन्न प्रकार की प्रक्रियाओं द्वारा हल करता है। इन क्रियाओं को दो मोटे भागों में विभाजित किया जा सकता है–**जन्मजात** (innate) तथा **अर्जित** (acquired)। मानव के अनुकूलन की समस्या जन्मजात क्रियाओं से ही नहीं सुलझती, क्योंकि उसकी आवश्यकताओं, अभिरुचि तथा परिस्थितियों में निरंतर परिवर्तन होता रहता है। अत: इस बात की आवश्यकता होती है कि इन परिवर्तनों के साथ व्यक्ति के व्यवहार में भी परिवर्तन होता रहे, ताकि परिवर्तनशील परिस्थितियों के साथ उसका सफल अनुकूलन हो सके। इसके लिए उसे अनेक क्रियाएँ 'सीखनी' पड़ती हैं। आरंभ में बच्चा भूख लगने पर रोता है और माँ के दूध पिला देने पर चुप हो जाता है। कुछ ही देर बाद वह फिर रोता रहता है, पर उसे दूध नहीं पिलाया जाता। माँ दूध उसे एक निश्चित समय के बाद ही पिलाती है। शीघ्र ही बच्चा यह 'सीख' जाता है कि एक निश्चित समय के बाद ही रोने से उसे दूध मिलेगा, न कि उससे पहले। इस प्रकार सीखने के आधार पर ही वह बच्चा जन्मजात क्रिया (भूख और रुदन करने) में आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर लेता है ताकि उसका सफल अनुकूलन परिस्थिति के साथ (अर्थात् माँ के दूध पिलाने के एक निश्चित समय के साथ) संभव हो सके। इसी प्रकार व्यक्ति की सामाजिक-सांस्कृतिक आवश्यकताओं के प्रत्युत्तर (response) में और सामाजिक अंत:क्रियाओं के दौरान व्यवहारों को अर्जित करने की प्रक्रिया सामाजिक सीखना ही है। कुछ परिभाषाएँ इस तथ्य को और भी स्पष्ट कर देंगी।

**श्री गिलफोर्ड** (Guilford) के अनुसार, "हम इस शब्द की परिभाषा विस्तृत रूप में यह कहकर कर सकते हैं कि सीखना, व्यवहार के परिणामस्वरूप, व्यवहार में कोई-न-कोई परिवर्तन है।"

**श्री बर्न हर्ट** (Bern Hardt) के मतानुसार, "एक परिस्थिति-विशेष में किसी एक उद्देश्य की प्राप्ति करने अथवा किसी समस्या को सुलझाने के प्रयास में अभ्यास द्वारा एक व्यक्ति के कार्य में बहुत-कुछ स्थायी परिवर्तन लाए जाने को सीखना कहते हैं।"

इतना ही **श्री किम्बल यंग** (Kimbal Young) ने भी सामाजिक सीखने की परिभाषा करते हुए कहा है कि "सामाजिक सीखना कुशलताओं, तथ्यों और मूल्यों को अर्जित करने की ओर संकेत करता है और यह कार्य दूसरे व्यक्तियों के संपर्क में रहकर अभ्यास के द्वारा किया जाता है।"

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि अपने **संपूर्ण पर्यावरण की विभिन्न अवस्थाओं से अनुकूलन करने के लिए एक व्यक्ति के द्वारा समाज के सदस्य के रूप में नए व सुस्थिर व्यवहार-प्रतिमानों को अर्जित करने की प्रक्रिया को ही सामाजिक सीखना कहते हैं।** सामाजिक सीखने की इस प्रक्रिया के द्वारा ही व्यक्ति का समाजीकरण होता जाता है। बच्चा जब जन्म लेता है तो उसे सामाजिक प्राणी नहीं कहा जा सकता और वह इस अर्थ में कि उस समय वह कोई भी मानवोचित व्यवहारों को कर नहीं पाता। जन्म के बाद वह अपने समाज व संस्कृति के अनेक लोगों के संपर्क में आता है और उनके संपर्क में आने से उसके जीवन में सामाजिक गुणों का संचय होता है। उदाहरणार्थ, बच्चा दूसरों की देखा-देखी गुरुजनों को प्रणाम करता है, किताब पढ़ने या कपड़ा पहनने का प्रयत्न करता है इत्यादि। इस प्रकार कुछ व्यवहारों को वह अनुकरण से, कुछ को प्रयत्न और भूल (trial and error) से, तो कुछ व्यवहारों को अपनी सूझ से सीखता जाता है। सामाजिक सीखने का यह तरीका कुछ भी हो, इतना तो स्पष्ट ही है कि प्रत्येक नई चीज को सीखने के साथ ही समाजीकरण की प्रक्रिया भी एक पग आगे बढ़ जाती है क्योंकि किसी भी चीज को सीखना सामाजिक प्राणी के रूप में उसकी एक विशेषता या गुण बन जाता है। अत: हम कह सकते हैं कि सामाजिक सीखना व समाजीकरण में घनिष्ठ संबंध है।

## 2.11 समाजीकरण की प्रक्रिया के स्तर या अवस्थाएँ (Stages of the Process of Socialization)

समाजीकरण एक प्रक्रिया है और वह भी इस अर्थ में कि व्यक्ति का समाजीकरण जन्म से मृत्यु तक निरंतर चलने वाली घटना है। व्यक्ति का समाजीकरण उसके जीवन के किसी विशिष्ट क्षण, दिन या वर्ष में होता है, ऐसी बात नहीं है। समाजीकरण की प्रक्रिया तो जन्म के बाद से आरंभ होकर जीवन भर चलती रहती है। फिर भी अध्ययन की सुविधा के लिए समाजीकरण की प्रक्रिया को कुछ निम्नलिखित प्रमुख अवस्थाओं में विभाजित किया जा सकता है–

1. **पहली अवस्था या स्तर (First Stage)**–समाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति के जन्म के बाद से ही प्रारंभ होती है। अपनी मूल-प्रवृत्तियों (instincts) व अन्य प्राणिशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक क्षमताओं एवं लक्षणों के कारण जन्म के बाद बच्चा कुछ आरंभिक क्रिया-कलाप करता है, जैसे हाथ-पैर पटकता है, भूख लगने पर रोता है आदि। जब माँ उसे दूध पिला देती है तो वह चुप हो जाता है। परंतु, हर बार उसके रोने से ही माँ दूध नहीं पिला देती; वह प्राय: एक निश्चित समय के बाद ही उसे दूध पिलाती है। माँ की इस प्रक्रिया के फलस्वरूप बच्चे के व्यवहार में कुछ परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं और वह इस रूप में कि भूख लगने पर भी वह प्राय: रोता नहीं है क्योंकि वह सीख जाता है कि उसकी माँ एक निर्धारित समय पर ही उसे दूध पिलाएगी। इस प्रकार मूल-प्रवृत्यात्मक क्रियाओं को भी सुधारने या उनको नियंत्रित करने का गुण बच्चे में पनपना आरंभ हो जाता है। इसी रूप में शायद समाजीकरण की प्रक्रिया आरंभ होती है। उसके बाद धीरे-धीरे बच्चा परिवार के अन्य सदस्यों की देखा-देखी हँसता है, चीजों को पकड़ना सीखता है, किसी का हाथ पकड़ना सीखता है, निरंतर दूसरे लोगों की बातों को सुनकर और होंठों को हिलाकर बातचीत करते देखकर स्वयं भी दो-चार शब्दों का उच्चारण करने का प्रयत्न करता है। अंतत: तोतली भाषा में कुछ-कुछ बोलना सीख जाता है। इसी प्रकार बच्चा धीरे-धीरे परिवार के सदस्यों की नकल करते हुए उनका पार्ट भी अदा करने (acquisition of roles) लगता है। कभी वह माँ की स्थिति में अपने को स्थापित कर गुड्डे (doll) के साथ बिल्कुल उसी तरह का व्यवहार करता है जिस तरह का माँ उसके साथ करती है। कभी वह पिताजी की छड़ी (stick) उठाकर किसी को उसी भाँति पीटने और बड़बड़ाने लगता है, जैसे कि पिताजी को करते हुए उसने देखा है। इसी प्रकार के पार्ट (roles) अदा करते-करते अनेक व्यवहार उस बच्चे में स्थिर हो जाते हैं। साथ ही धीरे-धीरे बच्चा अपने तथा पिताजी के बीच और अपने तथा माँ के मध्य क्या अंतर है, यह भी समझ जाता है; और वह स्वयं क्या है, इस सत्य को भी जान जाता है। इसी प्रकार 'आत्म' (self) का भी विकास होता है जो कि समाजीकरण का एक आवश्यक तत्व है क्योंकि अपने को पहचाने बिना दूसरों के स्वरूपों को पहचानना संभव नहीं होता। इस प्रकार आत्मा के विकास से व्यक्ति न केवल अपने व्यक्तित्व के संबंध में ही, अपितु अपने और दूसरों के बीच समानता व अंतर के विषय में भी जागरूक हो जाता है। इस प्रकार समाजीकरण की प्रक्रिया में पारिवारिक अंत:क्रियाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है।

2. **दूसरी अवस्था या स्तर (Second Stage)**–समाजीकरण की प्रक्रिया की दूसरी अवस्था उस समय आरंभ होती है जब कि बच्चा परिवार के बाहर अपने पड़ोस व खेल-साथी समूह के बच्चों के संपर्क में आता है, उनके साथ खेलता है और कभी-कभी लड़-झगड़ कर या मारपीट करके घर लौटता है। सामाजिक अनुकूलन के दृष्टिकोण से खेल के साथियों का यह समूह परिवार से अधिक व्यापक होता है क्योंकि इसमें विभिन्न परिवारों के विभिन्न गुण वाले बच्चों का समावेश होता है और बच्चे को उनके साथ अनुकूलन करना पड़ता है। इस अनुकूलन के दौरान उसमें इस प्रकार के कुछ गुण विकसित हो जाते हैं, जिनके आधार पर दूसरे लोगों के साथ मिलकर रहना उसके लिए संभव हो जाता है।

3. **तीसरी अवस्था या स्तर (Third Stage)**–कुछ समय बाद बच्चा शिक्षा प्राप्त करने या अन्य कारणों से अनेक व्यस्कों (adults) के संपर्क में आता है। ये लोग न केवल शिक्षा के माध्यम से अपितु बातचीत, प्रशिक्षण आदि के माध्यम से भी अनेक बातें बच्चे को सिखा देते हैं। बच्चा स्वयं भी दूसरों की नकल या अनुकरण करके बहुत-कुछ सीख जाता है। यहीं पर बच्चों को न केवल वृहत्तर जगत् के संबंध में ज्ञान होता है अपितु वह अनेक नवीन अनुभवों का संचय भी करता रहता है। समाजीकरण वास्तव में सीखने की एक प्रक्रिया है।

4. **चौथी अवस्था या स्तर (Fourth Stage)**–किशोरावस्था या यौवनावस्था (adolescence) के साथ ही समाजीकरण की प्रक्रिया की चौथी अवस्था आरंभ होती है। किशोरावस्था के साथ ही बच्चे के समक्ष अनेक नई स्थितियाँ और समस्याएँ आ खड़ी होती हैं, जिनके साथ सामंजस्य स्थापित करना आवश्यक हो जाता है। इस अवस्था में अनेक शारीरिक परिवर्तन भी होते हैं और उन परिवर्तनों से अपना अनुकूलन करने के लिए व्यवहारों के नए तरीके भी सीखने पड़ते हैं। उदाहरणार्थ, लड़कियाँ जब युवती बन जाती हैं तो उनमें जो शारीरिक परिवर्तन होते हैं उनके कारण उन्हें फ्रॉक छोड़कर सलवार-कुर्ता पहनना प्रारंभ करना पड़ता है। उनमें लज्जाशीलता बढ़ जाती है, साथ ही नई भावनाएँ भी उन्हें आ घेरती हैं। इसीलिए किशोरावस्था समाजीकरण की प्रक्रिया की दृष्टि से, बहुत ही गंभीर तथा कोमल परिस्थितियाँ प्रस्तुत करती हैं। इस अवस्था में उसे अपने से विपरीत लिंग (opposite sex) के सदस्यों के प्रति केवल पुनः अनुकूलन (readjustment) की ही आवश्यकता नहीं होती, बल्कि उसे अन्य आयु-वर्गों (age-groups) जैसे बच्चों, माता-पिता, वृद्धजनों आदि के प्रति नई मनोवृत्तियाँ (attitudes) बनानी पड़ती हैं। उदाहरणार्थ, पहले लड़का (बचपन में) निःसंकोच होकर अपनी माँ से लिपट जाया करता था, उसे (माँ) प्यार कर लिया करती थी, परंतु किशोरावस्था में आ जाने के बाद उसी लड़के को ऐसा करने में संकोच होता है और वह निःसंकोच भाव से अपनी माँ से जाकर नहीं लिपट पाता। दूसरे शब्दों में, माँ के प्रति किए जाने वाले अपने पहले के उस स्वच्छंद व्यवहार को उसे बदलना पड़ता है। इसी प्रकार अन्य लोगों के प्रति होने वाले व्यवहार भी परिवर्तित हो जाते हैं। विकास की यही एक अवस्था होती है जब समाजीकरण की अनेक असफलताएँ व्यक्ति के सामने आती हैं।

5. **पाँचवीं अवस्था या स्तर (Fifth Stage)**–यह अवस्था व्यक्ति के विवाह के साथ प्रारंभ होती है। विवाह करने पर एक अपरिचित लड़की या स्त्री से व्यक्ति का परिचय होता है या एक अपरिचित पुरुष के घर जाकर लड़की को बस जाना पड़ता है। दोनों ही स्थितियों में अनुकूलन की समस्या सामने आती है और इस समस्या को हल करने के प्रयत्न में ही व्यक्ति अनेक नए व्यवहारों व क्रियाओं को करना सीख जाता है। उदाहरणार्थ, पति या पत्नी के रूप में परिवार से संबंधित उत्तरदायित्व को संभालना, यौन-संबंध स्थापित करना, बच्चों को जन्म देना, उनका पालन-पोषण करना, विवाह द्वारा उत्पन्न अनेक नए नाते-रिश्तेदारों के प्रति अपने कर्त्तव्यों को निभाना आदि कितने ही नवीन कार्य एवं व्यवहार व्यक्ति को करने होते हैं या उन्हें सीखना होता है। कहना न होगा कि यह सभी कुछ समाजीकरण की प्रक्रिया के अंतर्गत ही आता है।

6. **छठी या अंतिम अवस्था या स्तर (Sixth or Last Stage)**–समाजीकरण की अंतिम अवस्था में व्यक्ति अपनी वृद्ध अवस्था में आ पहुँचता है; उद्योग-धन्धा, व्यापार या नौकरी के झंझटों से अवकाश ग्रहण करता है और नाती-पोतों को लेकर संतोष का एक जीवन व्यतीत करने लगता है अथवा इसके विपरीत अपनी ही आँखों के सामने अपने जवान लड़के को मरते देखता है, नाती-पोतों से एक-एक करके हाथ धोता है, अपने ही जीवन-साथी (पति अथवा पत्नी) को अपने ही हाथों चिता पर सुला आता है और सब कुछ खोकर स्वयं एक प्राणहीन पत्थर की मूर्ति की भाँति भावहीन भोलानाथ बन जाता है। दोनों ही अवस्था में उसे यह अनुभव होने लगता है कि जैसे उसने सब कुछ सीख लिया है और उसे सब कुछ मिल गया है; अब और कुछ सीखने

की उसमें इच्छा नहीं है, साथ ही उसे अब कुछ चाहिए भी नहीं। इस अवसर पर पहुँचने के पश्चात् समाजीकरण की प्रक्रिया लगभग समाप्त ही हो जाती है।

## 2.12 समाजीकरण की मुख्य संस्थाएँ, साधन या अभिकरण (Chief Institutions, Sources or Agencies of Socialization)

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि समाजीकरण की प्रक्रिया एक जटिल प्रक्रिया है। जिसमें अनेक संस्थाओं का योगदान होता है। वास्तव में चूँकि समाजीकरण एक सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया है, इस कारण इसकी सफलता या विफलता किसी एक कारण या संस्था पर निर्भर नहीं होती, बल्कि एकाधिक संस्थाओं पर आधारित होती है। दूसरे शब्दों में, समाजीकरण के कुछ साधन होते हैं। इन साधनों अथवा संस्थाओं को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है:

1. **परिवार-एक समाजीकरण करने वाली संस्था के रूप में (Family–as a Socializing Agency)**–समाजीकरण करने वाली संस्था के रूप में परिवार का महत्त्व वास्तव में असाधारण है। यह कहा जाता है कि माँ के त्याग और पिता के संरक्षता में रहते हुए बच्चा जो भी सीखता है, वह उसके जीवन की स्थायी पूँजी होती है। इसका कारण भी स्पष्ट है और वह यह है कि परिवार एक प्राथमिक समूह है, इस कारण परिवार में आमने-सामने का संबंध (face to face relationship) होता है और यह संबंध अधिक स्थायी व निरंतर चलने वाला होता है। परिवार के सदस्यों के बीच अधिक घनिष्ठता, सहयोग, स्नेह-प्यार, दुलार आदि होता है। ये सभी विशेषताएँ समाजीकरण में सहायक होती हैं।

   बच्चा सबसे पहले परिवार में जन्म लेता है और इस रूप में वह परिवार की सदस्यता ग्रहण करता है। उसका सबसे घनिष्ठ संबंध अपनी माँ से होता है। माँ उसे दूध पिलाती है और तरह-तरह से उसकी रक्षा करती है। इस कार्य में माँ के साथ परिवार के अन्य सदस्य, विशेषकर पिता भी सहायता करता है। बच्चे को नियमित रूप से खाने-पीने, पहनने व रहने की सीख मिलती है। इससे बच्चे के मन में एक सुरक्षा की भावना का विकास होता है। यह मानसिक सुरक्षा की भावना उसके जीवन को स्थिर तथा सुदृढ़ बनाती है और आगे चलकर उसे उसके व्यक्तित्व के विकास में सहायता प्रदान करती है।

   माँ और पिता से बच्चे की अधिकतर आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। परंतु, साथ ही बच्चा यह देखता है कि कुछ कार्यों को करने पर माँ या पिता उसे प्यार करते हैं, उसकी प्रशंसा करते हैं और कुछ अन्य कार्यों को करने पर उसे दंड मिलता है, उसकी निंदा की जाती है। परिवार में ही बच्चे को सर्वप्रथम यह ज्ञान होता है कि कौन-कौन से कार्य उसे करने चाहिए और किन-किन कार्यों को उसे नहीं करना है। बालक ऐसे काम करना सीखता है जिनसे उसकी माँ व परिवार के अन्य लोग उसे प्यार करें और ऐसे कार्यों से बचता है जिनके कारण उसे दंड भोगना पड़ता है।

   इस प्रकार परिवार में ही बच्चा समाजीकरण का प्रथम पाठ सीखता या पढ़ता है।

   माँ अपने बच्चे को प्यार करती है, परिवार के अन्य सदस्य भी उसे प्यार करते हैं। वे उसके साथ हँसते-बोलते हैं। बच्चा उनकी तरफ देखता है, उनके होंठों को हिलाकर बातें करने की प्रक्रिया को बार-बार देखता है और फिर उसी की नकल उतारने का प्रयत्न करता है। इसके फलस्वरूप वह दो-एक शब्दों को उच्चारण करना भी सीखता है। इस क्रम में जो त्रुटियाँ होती हैं, उन्हें परिवार के सदस्य हँसते-बोलते सुधारते रहते हैं और इस प्रकार बच्चा धीरे-धीरे बोलना सीख जाता है। इसके उपरांत भाषा का ज्ञान होते ही वह अन्य सभी प्राणियों से पृथक् हो जाता है और सामाजिक प्राणी के सर्वश्रेष्ठ गुण का अधिकारी हो जाता है।

   बच्चा परिवार में गुड्डे-गुड़ियों का खेल खेलता है। गुड़िया के साथ वह उसी प्रकार का व्यवहार करता है जैसा कि माँ या पिता उसके (बच्चे के) साथ करते हैं। वह उन्हीं की

तरह उन्हें सुलाता, खिलाता-पिलाता, यहाँ तक कि मारता-पीटता तक है। इन सब क्रियाओं के माध्यम से परिवार में ही बच्चे को दूसरों के साथ व्यवहार करने और एक विशिष्ट पद (status) के अनुसार कार्य करने की कला का ज्ञान होता है। यह एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक गुण है, जो समाजीकरण की प्रक्रिया में व्यक्ति को अपने परिवार से प्राप्त होता है।

परिवार में प्राय: एक से अधिक सदस्य होते हैं। इनमें से प्रत्येक के अलग-अलग मिज़ाज, रुचि, व्यवहार के तरीके, भावनायें आदि होती हैं। फिर भी इनमें से प्रत्येक के साथ बच्चे को घनिष्ठ संबंध स्थापित करना पड़ता है क्योंकि परिवार के एक छोटे से दायरे में उसे हरदम रहना पड़ता है। बच्चा दूसरों के साथ बोलता, खेलता और निवास करता है। इस प्रक्रिया के दौरान वह यह सीख जाता है कि दूसरों के साथ किस प्रकार से मिलकर रहा जाता है तथा दूसरों से किस प्रकार अनुकूलन किया जा सकता है। इस अनुकूलन के दौरान उसमें सहनशीलता का गुण भी पनप जाता है क्योंकि परिवार में सबसे छोटा होने के कारण उसे दूसरों की बातों या व्यवहारों को सहन करना पड़ता है। दूसरों से अनुकूलन करने की क्षमता और सहनशीलता अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सामाजिक गुण है जिसका प्रारंभिक विकास परिवार में ही होता है। इसके अतिरिक्त चूँकि बच्चा अन्य व्यक्तियों से आयु में छोटा होता है, अत: दूसरों की उम्र का उस पर एक विशेष प्रभाव पड़ता है। इसी कारण उससे जो भी बड़े लोग होते हैं, वे उससे जो कहते हैं वह उसका पालन करता है। इससे बच्चे में आज्ञाकारिता का गुण पनपता है।

परिवार में ही बच्चा सर्वप्रथम यह सीखता है कि खाना किस प्रकार खाना चाहिए, दूसरों से किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, किस ढंग से कपड़ा पहनना चाहिए और किस भगवान की पूजा या आराधना करनी चाहिए। परिवार के दूसरे सदस्य नहाने के बाद खाना खाते हैं, खाना खाने से पहले या बाद में हाथों को साफ करते हैं, जूता बाहर उतारकर कमरे में अंदर जाते हैं, माता-पिता को प्रणाम करते हैं, परिवार में बाहर से आने वाले लोगों को 'नमस्ते' कहते हैं तथा इसी प्रकार के अन्य असंख्य सामाजिक व्यवहार करते हैं। बच्चा यह सभी कुछ प्रतिदिन ही देखता है और नकल उतारने का प्रयत्न करता है। यह प्रयत्न जब निरंतर चलता है तो विभिन्न सामाजिक क्रियाएँ व व्यवहार बच्चे के व्यक्तिगत व्यवहार का एक अंग बन जाते हैं। इसी प्रकार परिवार बच्चे को समाज में प्रचलित आचार-विचार, रीति-रिवाज, आदर्शों और विश्वासों के अनुसार ढालता और उसे समाज के आम नियमों का पालन करवाता है।

परिवार में ही बच्चा सामाजिक उत्तरदायित्व का अर्थ, क्षमा का महत्त्व और सहयोग की आवश्यकता को सीखता है और अपनी मौलिक धारणाएँ, आदर्श और शैली की रचना करता है। परिवार में माता-पिता, भाई-बहन आदि के प्रेम, सद्भावना, सहानुभूति, प्रीति इत्यादि से बच्चे के मानसिक विकास में काफी सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त परिवार ही वह आधारभूत शिक्षा-संस्था है जहाँ बालक को नागरिकता का प्रथम पाठ पढ़ाया जाता है। परिवार को इसीलिए 'नागरिकता की प्रथम पाठशाला' कहा गया है। परिवार में ही बच्चा दूसरों के साथ मिलकर और उनके व्यवहारों के साथ अनुकूलन करते हुए रहने की कला सीखता है। परिवार में ही देश-प्रेम, आत्म-त्याग, कर्त्तव्य-पालन, परोपकार आदि सद्गुण बच्चे में विकसित होते हैं।

संक्षेप में, समाजीकरण की एक संस्था के रूप में परिवार का अत्यधिक महत्त्व है। इसलिए परिवार के बिना सामाजिक प्राणी का जीवन या समाजीकरण की प्रक्रिया अधूरी ही है।

2. **खेल या क्रीड़ा-समूह (Play-group)**—बच्चों के खेल का समूह एक महत्त्वपूर्ण प्राथमिक समूह होता है। इस कारण इसका भी समाजीकरण की प्रक्रिया में अत्यंत प्रभावशाली स्थान होता है। बच्चा जब थोड़ा-सा बड़ा होकर घर से बाहर कदम रखता है तो उसका संपर्क अन्य बच्चों से भी होता है। वह उनके साथ खेलता है, उठता है, बैठता है। ये बच्चे अलग-अलग परिवार के होते हैं, इस कारण उनके व्यवहार के ढंग, रीति-नीति, रुचि, मिज़ाज आदि भी

अलग-अलग होते हैं। इन विविधताओं के बीच बच्चा खेल तो खेलता ही है, साथ ही वह अनुकूलन की कला, मिलकर काम करने की आदत तथा सामाजिक संबंधों को परिवार के दायरे से बाहर फैलाने का ढंग भी सीखता है। कहना न होगा कि खेल-समूह का भी समाजीकरण के एक साधन के रूप में अत्यधिक महत्त्व है।

3. **पड़ोसी तथा अन्य बड़े-बूढ़ों का समूह (Neighbour and community group of elders)**—इसका भी महत्त्वपूर्ण योगदान समाजीकरण की प्रक्रिया में होता है। पड़ोसियों तथा अन्य बड़े-बूढ़ों के संपर्क में आने से व्यक्ति के सामने अनेक नए विचार आते हैं। बातचीत तथा गप्पबाजी (gossips) के दौरान व्यवहार के नए ढंग उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हैं तथा उसे नए आदर्शों से परिचित होने का मौका मिलता है। इसके प्रति वह चेतन तथा अचेतन रूप से प्रतिक्रिया (response) करता है। इसके फलस्वरूप उसमें नयी आदतों का विकास होता है। इससे उसका और अधिक समाजीकरण होता है।

4. **जाति तथा वर्ग (Caste and Class)**—व्यक्ति के समाजीकरण में जाति तथा वर्ग का भी महत्त्वपूर्ण योग रहता है। जाति जन्म के आधार पर सामाजिक संस्तरण (social stratification) और खंड-विभाजन की वह गतिशील व्यवस्था, जो खाने-पीने, विवाह, पेशा और सामाजिक सहवासों के संबंध में अनेक या कुछ प्रतिबंधों को अपने सदस्यों पर लागू करती है। जाति की इस परिभाषा से ही स्पष्ट है कि यह व्यक्ति के सामने कुछ नियम, निर्देश तथा प्रतिबंध प्रस्तुत करती है जिन्हें उसे मानना ही पड़ता है। न मानने पर जाति व्यक्ति को अपने ढंग से दंड देती है। इन नियंत्रणों तथा नियमों का प्रभाव व्यक्ति के समाजीकरण की प्रक्रिया पर पड़ता है। **श्री विलसन** (Wilson) ने लिखा है कि व्यक्ति के जन्म के प्रथम दिन से लेकर मृत्यु तक उसके समस्त कार्यों पर जाति-प्रथा का नियंत्रण रहता है। पहले जाति का प्रभाव व्यक्ति के जीवन के समस्त संबंधों और घटनाओं पर पड़ता था। इसके अतिरिक्त, इसका प्रतिबंध जीवन के भूत और भविष्य दोनों पर होता था। जाति यह निर्धारित करती थी कि व्यक्ति को कौन-सा व्यवसाय चुनना है, किस जाति में अपने जीवन-साथी का चुनाव करना है; अन्य जातियों के साथ सामाजिक संबंधों का क्या रूप या स्वरूप चुनना है; किस जाति के हाथ का बना भोजन प्राप्त करना है और किस जाति के हाथ का छुआ पानी तक नहीं पीना है। इतना ही नहीं, जाति-प्रथा विभिन्न जातियों के सदस्यों की सामाजिक और धार्मिक निर्योग्यताओं एवं विशेषाधिकारों को भी निश्चित करती है। इसी प्रकार वर्ग-व्यवस्था (class-system) भी व्यक्ति को एक सामाजिक स्थिति (social status) प्रदान करती है, जिसके आधार पर वर्ग-चेतना (class-consciousness) पनपती है और व्यक्ति के सामाजिक संबंधों का क्षेत्र निश्चित होता है।

5. **भाषा (Language)**—समाजीकरण की प्रक्रिया का एक और महत्त्वपूर्ण साधन भाषा है। समाजीकरण का आधार सामाजिक अंत:क्रियाएँ (social interactions) ही हैं और भाषा की सहायता से ही ये अंत:क्रियाएँ अत्यधिक सरल हो जाती हैं। वास्तव में मानव और पशुओं में जो आधारभूत भिन्नताएँ हैं, उनमें एक प्रमुख अंतर यही है कि पशुओं के पास भाषा के साधन का अभाव है इसलिए उनकी सामाजिक अंत:क्रियाओं का क्षेत्र बहुत अधिक सीमित है। भाषा के माध्यम से ही मनुष्य अपने विचार, संस्कृति, आदर्श, मूल्य, ज्ञान और विज्ञान को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित करता है। यह हस्तांतरण की प्रक्रिया जन्म के बाद ही आरंभ हो जाती है। बच्चा पहले-पहल बोल नहीं पाता, फिर भी माँ तथा परिवार के अन्य सदस्य बच्चे से बातचीत करते रहते हैं। बच्चा उनके होंठ हिलाने की प्रक्रिया को ध्यान से देखता रहता है और उन्हीं की नकल उतारने का प्रयत्न करता है। बड़ों के हाव-भाव से बच्चा शब्दों के अर्थ को भी समझने का प्रयत्न करता है। उदाहरणार्थ, माँ 'आओ' कहकर बच्चे की ओर हाथ फैलाती है, जिससे माँ के हाथ के भाव और ध्वनि संसर्ग (sound combination) बच्चे के मस्तिष्क में बैठ जाते हैं और वह न केवल

इस शब्द को सीख जाता है वरन् उसका अर्थ भी उसके लिए धीरे-धीरे स्पष्ट हो जाता है। इसीलिए हाथ को बिना फैलाये भी यदि माँ "आओ" कहती है तो बच्चा माँ के पास चला आता है। विभिन्न शब्दों का अर्थ समझने से बच्चे का बौद्धिक विकास होता है। यद्यपि भाषा को सीखना केवल एक बौद्धिक विषय ही नहीं है, यह उसके व्यक्तित्व के विकास में भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। भाषा की सहायता से बच्चे के लिए परिवार के सदस्यों तथा अन्य लोगों के साथ संपर्क स्थापित करना सरल हो जाता है। भाषा के माध्यम से ही वह दूसरों के विचारों को ग्रहण करता और उनसे लाभ उठाता है। यह भाषा ही है जो व्यक्ति को धीरे-धीरे उन कर्त्तव्यों या कार्यों के विषय में, जो कि उसे करने हैं, बताती है। भाषा के माध्यम से ही व्यक्ति का परिचय वृहत्तर समाज व संसार से तथा वृहत्तर जीवन से होता है। भाषा के कारण ही व्यक्ति वास्तविक अर्थ में मानव बन पाता है।

6. **शिक्षण-संस्थाएँ (Educational Institutions)**—शिक्षण संस्थाएँ अर्थात् स्कूल, कॉलेज आदि भी समाजीकरण की अत्यंत महत्त्वपूर्ण संस्थाएँ हैं। इन्हीं संस्थाओं में बच्चे की मानसिक क्षमताओं का विकास होता है और वह अज्ञानता से ज्ञान की ओर तथा अंधकार से प्रकाश की ओर बढ़ता है। शिक्षण-संस्थाओं में बच्चे के लिए सामाजिक संबंध स्थापित करने का क्षेत्र और भी विस्तृत हो जाता है। वहाँ वह अनेक प्रकार के बच्चों एवं व्यक्तियों के संपर्क में आता है और उनसे बहुत कुछ सीखता है। विद्यालय व कॉलेज में ही पुस्तकों के द्वारा बच्चे को देश-विदेश के समाज व संस्कृति से परिचित होने का अवसर मिलता है। इससे भी उसके व्यक्तित्व के विकास में काफी सहायता पहुँचती है। इतना ही नहीं, स्कूल व कॉलेज में बालक एकाधिक शिक्षकों के संपर्क में आता है। इनके उपदेश तथा जीवन-आदर्श भी बालक को प्रभावित कर सकते हैं, जिसके आधार पर वह अपने जीवन का मार्ग चुन सकता है। बालक अपने शिक्षकों में से किसी एक शिक्षक को अपना 'आदर्श' मान सकता है और उसी के अनुरूप अपने जीवन को ढाल सकता है।

7. **राजनीतिक तथा आर्थिक संस्थाएँ (Political and Economic Institutions)**—राजनीतिक एवं आर्थिक संस्थाओं का भी योगदान व्यक्ति के समाजीकरण की प्रक्रिया पर होता है। उदाहरणार्थ, तानाशाही सरकार होने पर व्यक्ति के जीवन में सुरक्षा की भावना कम होती है जिसके फलस्वरूप उसके व्यक्तित्व के स्वाभाविक विकास में बाधा पड़ती है। आज संसार में कल्याणकारी राज्यों (welfare states) का विकास तेजी से हो रहा है। इस प्रकार राज्य अपने नागरिकों की सर्वांगीण उन्नति को अपना लक्ष्य मानता है और उसके लिए सुधार के अनेक कार्यक्रमों को लागू करता है, जिसका प्रभाव व्यक्ति के समाजीकरण पर पड़ता है। उदाहरणार्थ, जब राज्य की ओर से समाज के सभी बच्चों के लिए एक निश्चित कक्षा तक शिक्षा अनिवार्य तथा निःशुल्क कर दी जाती है, तो बच्चों को शिक्षित होने का अवसर मिलता है और यह अवसर उनके विकास में सहायक सिद्ध होता है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि व्यक्ति के समाजीकरण की प्रक्रिया में एकाधिक सामाजिक अभिकरणों (social agencies) का योगदान होता है। इनमें परिवार सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण संस्था है। **श्री कूले** (Cooley) का कथन है कि प्राथमिक समूह में परिवार का स्थान सबसे ऊपर है। परिवार के घनिष्ठ, आंतरिक तथा स्नेह, प्रीतिपूर्ण संबंधों के बीच बच्चा जो कुछ सीखता है वह उसके जीवन में चिरस्थाई हो जाता है। यही कारण है कि परिवार को नागरिक तथा सामाजिक जीवन की आधारभूत पाठशाला कहा गया है। परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि समाजीकरण की प्रक्रिया में परिवार ही सब-कुछ है। वृहत्तर सामाजिक जीवन के लिए अन्य संस्थाओं का योगदान भी वास्तव में महत्त्वपूर्ण होता है।

## 2.13 व्यक्तित्व के विकास में समाजीकरण का महत्त्व (Role of Socialization in the Development of Personality)

**सर्वश्री ला-पीयर तथा फार्न्स वर्थ (La-Piere and Farns Worth)** का कथन है, "व्यक्तित्व शब्द का वैज्ञानिक प्रयोग किसी समय-विशेष में, किसी व्यक्ति-विशेष के समाजीकरण के प्रतिफलन या परिणति को दर्शाने के लिए किया जाता है। व्यक्तित्व उन सब गुणों की 'समग्रता' है जिन्हें व्यक्ति ने समाजीकरण के द्वारा अर्जित किया है।" यह कथन व्यक्तित्व के विकास में समाजीकरण के असाधारण महत्त्व की ओर ही संकेत करता है। वास्तव में समाजीकरण के साथ-साथ व्यक्ति में सामाजिक-सांस्कृतिक गुण प्रकट होते रहते हैं और उन्हीं गुणों के कारण उसके व्यक्तित्व को एक विशिष्ट रूप प्राप्त होता है। **श्री रैंक** (Renk) ने तो यहाँ तक कहा है कि व्यक्तित्व का विकास माता के गर्भ से ही आरंभ हो जाता है। अर्थात् इस मत के अनुसार वंशानुसंक्रमण (heredity) तथा बालक के उत्पन्न होने की प्रक्रिया का उसके व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। यदि इस मत को अतिशयोक्तिपूर्ण भी माना जाए, तो भी इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि व्यक्ति के विकास में समाजीकरण की प्रक्रिया का अत्यधिक महत्त्व है।

जन्म होने के बाद से ही बच्चा अपनी मूलप्रवृत्ति के कारण भूख प्यास लगने पर रोता है और माँ के दूध पिलाने पर शांत हो जाता है। परंतु हर बार रोने मात्र से ही माँ दूध नहीं पिलाती बल्कि एक निश्चित समय पर ही दूध पिलाती है। माँ की इस प्रक्रिया या व्यवहार के फलस्वरूप सर्वप्रथम समाजीकरण की प्रक्रिया क्रियाशील होती है और वह इस रूप में कि बच्चे को समय का ज्ञान होना आरंभ हो जाता है। भूख लगने या न लगने पर भी प्राय: वह रोता नहीं क्योंकि वह जान जाता है कि माँ एक निश्चित समय पर उसे दूध पिलाएगी। इस प्रकार मूलप्रवृत्यात्मक प्रवृत्तियों को भी सामाजिक नियमों के अनुसार सुधारने या उन पर नियंत्रण रखने का गुण बच्चे में भी विकसित होना शुरू हो जाता है। यह गुण किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व का उल्लेखनीय तत्व बन जाता है। प्रयोगों से देखा गया है कि बालक भूख बुझ जाने के बाद भी माँ के स्तनों को नहीं छोड़ता। वास्तव में दूध पिलाना केवल भूख बुझाने की विधि न होकर बालक के प्रति माता के स्नेह का भी परिचायक होता है। इसी कारण दूध छुड़ाने (weaning) का भी बालक के व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। यदि बच्चे के प्रति उपेक्षा के कारण माँ उसे दूध पिलाना बंद कर देती है तो बच्चे के व्यक्तित्व में निराशा-भाव (pessimism) और कटुता-भाव आदि पनप सकते हैं। इसके विपरीत, यदि बच्चे को अधिक आयु तक माँ अपना दूध पिलाती है तो वह उस पर-निर्भर और आरामतलब हो जाता है। इस संबंध में परीक्षण के द्वारा यह भी देखा गया है कि जिन बच्चों को दूध तीन से छ: माह की आयु के बीच छुड़ा दिया गया, उनमें सुरक्षा की भावना उन बच्चों से अधिक पाई गई जिनको नौ माह या उससे अधिक समय तक दूध पिलाया गया था। यह कहा जाता है कि अगर समाजीकरण की प्रक्रिया बच्चे के जीवन में प्रथम छ: वर्षों तक उचित प्रकार से क्रियाशील न हो तो उसका स्थाई प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व-विकास पर पड़ता है। उदाहरणार्थ, इस आयु में असुरक्षा की भावना विकसित हो जाने पर मानसिक संघर्ष आरंभ हो जाता है, जिसके कारण कुछ बच्चे दब्बू और पलायनशील (Truant) हो जाते हैं और कुछ आक्रामक तथा उद्दंड प्रकृति के।

इसी प्रकार जन्म से लेकर, किशोरावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था तक समाजीकरण के द्वारा व्यक्तित्व का निर्माण होता है। हाँ, वृद्धावस्था में पहुँचने के बाद साधारणतया समाजीकरण की प्रक्रिया का अंत हो जाता है, क्योंकि इस अवस्था में अनुकूलन की शक्ति अत्यधिक कमजोर पड़ जाती है। इतना ही नहीं, इस अवस्था में परिवर्तन की भी आवश्यकता काफी कम होती है। इसलिए इस अवस्था में व्यक्तित्व को कुछ स्थिरता प्राप्त हो जाती है। इस स्थायित्व से व्यक्ति में रूढ़िवादिता, सहिष्णुता और व्यापक अनुभवपूर्ण सामाजिक दृष्टिकोण का विकास होता है। व्यक्तित्व स्थिर होता है, पूर्ण होता है और व्यक्तित्व की 'कहानी' तीव्रता से समाप्ति की ओर बढ़ती है–'महाव्यक्तित्व' में विलीन होने की महत्त्वाकांक्षा लेकर'।

नोट

## 2.14 सामाजिक नियंत्रण (Social Control)

समाजशास्त्रीय साहित्य में सामाजिक नियंत्रण की अवधारणा का पर्याप्त महत्त्व है। अमेरिकन समाजशास्त्री (E. A. Ross) ने सर्वप्रथम 1901 में अपनी पुस्तक (Social Control) में सामाजिक नियंत्रण के बारे में व्यवस्थित तौर पर विचार व्यक्त किए हैं। सामाजिक नियंत्रण के द्वारा व्यक्तियों के व्यवहारों अथवा आचरणों को समाज के स्थापित मूल्यों तथा प्रतिमानों के अनुरूप ढालने का प्रयास किया जाता है। समाज के प्रारंभ से ही सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता का अनुभव किया गया है। यदि समाज में नियंत्रण न हो तो व्यक्तिगत स्वतंत्रता इतनी बढ़ जाएगी कि किसी भी व्यक्ति का जीवन सुरक्षित नहीं रह पाएगा।

समाज एक गतिशील संगठन है। इसमें निरंतर परिवर्तन होता रहता है। मूलभूत सामाजिक प्रक्रियाओं में अंतर्निहित गत्यात्मकता हमें सामाजिक परिवर्तन की जांच के लिए प्रवृत्त करती है। हम देखते हैं कि मूलभूत सामाजिक प्रक्रियाएँ सामाजिक संगठन में अंतर्भूत होती हैं। सामाजिक परिवर्तन व्यक्तियों और समाज के जीवन में इतने जटिल होते हैं कि हमें जानना पड़ेगा कि ये परिवर्तन क्यों और कैसे होते हैं।

सामाजिक नियंत्रण की अवधारणा का समाजशास्त्रीय साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। सामाजिक संरचना में दृढ़ता एवं समन्वय रखने वाली शक्तियों के संदर्भ में जितना साहित्य रचा गया उसे 'सामाजिक नियंत्रण' शीर्षक के अंतर्गत रखा गया है। **मैकाइवर** कहते हैं कि समाजशास्त्रीय साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग सामाजिक नियंत्रण का विवेचन करता है। अमेरिकन समाजशास्त्री **ई० ए० रॉस** पहला व्यक्ति था जिसने सामाजिक नियंत्रण विषय पर 1901 में अपनी कृति (Social Control) में व्यवस्थित विचार व्यक्त किए।

सामाजिक नियंत्रण के द्वारा व्यक्तियों के व्यवहारों को समाज के स्थापित प्रतिमानों के अनुरूप ढालने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार सामाजिक नियंत्रण वह विधि है जिसके द्वारा एक समाज अपने सदस्यों के व्यवहारों का नियमन करता है। सामाजिक नियंत्रण के द्वारा एक समाज अपने सदस्यों को उनकी निर्धारित भूमिकाएँ निभाने, नियमों का पालन करने एवं व्यवस्था बनाए रखने के लिए प्रेरित करता है। प्रत्येक समाज अपने सदस्यों से यह अपेक्षा करता है कि वे एक निर्धारित तरीके से समाज में आचरण करें; उचित रूप से अपनी भूमिकाओं एवं कर्तव्यों का निर्वाह करें अन्यथा समाज में व्यवस्था बनाए रखना एवं लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति करना कठिन हो जायेगा। प्रत्येक समाज अपने सदस्यों से यह अपेक्षा करता है कि वे उसकी संस्कृति के अनुरूप व्यवहार-प्रतिमानों, प्रथाओं, रीति-रिवाजों, मूल्यों, आदर्शों एवं कानूनों के अनुरूप आचरण कर समाज को स्थायित्व एवं व्यवस्था प्रदान करें। इसलिए वह अपने सदस्यों पर कुछ नियंत्रण लगाता है। इसी प्रकार समाज में जब नयी परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं तब भी समाज अपने सदस्यों के व्यवहारों पर अंकुश रखता है जिससे कि नयी परिस्थितियों से प्रभावित होकर लोग सामाजिक ढाँचे को तोड़ न दें। सामाजिक नियंत्रण एक अन्य दृष्टि से भी आवश्यक है—मानव अपनी प्रकृति से स्वार्थी, व्यक्तिवादी, अराजक, लड़ाकू, हिंसक एवं संघर्षकारी है। यदि उसकी इन प्रवृत्तियों पर अंकुश नहीं रखा जाए और उसे पूरी तरह स्वच्छंद छोड़ दिया जाए तो समाज युद्ध-स्थल बन जायेगा व मानव का जीना कठिन हो जायेगा। इस क्लेशकारी, अराजक एवं अव्यवस्थित स्थिति से बचने के लिए ही प्रत्येक समाज नियंत्रण की व्यवस्था करता है, नियमों एवं कानूनों का निर्माण करता है व आवश्यकतानुसार बल प्रयोग करता है। सामाजिक नियंत्रण के अभाव में मानवीय संबंधों की व्यवस्था एवं संपूर्ण मानव जीवन ही अस्त-व्यस्त हो जायेगा। डेविस ने उचित ही लिखा है कि समाज का निर्माण ही 'सामाजिक संबंधों' एवं 'नियंत्रण की व्यवस्था' द्वारा होता है, एक की अनुपस्थिति में दूसरे का अस्तित्व कदापि सुरक्षित नहीं है। सामाजिक नियंत्रण के द्वारा ही समाज में संतुलन, दृढ़ता एवं एकरूपता कायम की जाती है। इसके अभाव में सामाजिक मूल्य एवं आदर्श चकनाचूर हो जायेंगे एवं सामाजिक प्रगति संभव नहीं हो सकेगी।

## 2.15 सामाजिक नियंत्रण की परिभाषा एवं अवधारणा (Definition and Concept of Social Control)

नोट

### *सामाजिक नियंत्रण का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and definition of social control)*

सामाजिक नियंत्रण का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया जाता रहा है। एक सामान्य धारणा यह है कि लोगों को समूह द्वारा स्वीकृत नियमों के अनुसार आचरण करने के लिए बाध्य करना ही सामाजिक नियंत्रण है, किंतु यह एक संकुचित धारणा है। प्रारंभ में सामाजिक नियंत्रण का अर्थ केवल दूसरे समूहों से अपने समूह की रक्षा करना और मुखिया के आदेशों का पालन करना मात्र था। बाद में धार्मिक और नैतिक नियमों के अनुसार व्यवहार करने को सामाजिक नियंत्रण माना गया, किंतु वर्तमान समय में सामाजिक नियंत्रण का तात्पर्य संपूर्ण समाज व्यवस्था के नियमन से लिया जाता है जिसका उद्देश्य सामाजिक आदर्शों एवं उद्देश्यों को प्राप्त करना है।

**मैकाइवर** एवं **पेज** के अनुसार, "सामाजिक नियंत्रण का अर्थ उस तरीके से है जिससे संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था की एकता और उसका स्थायित्व बना रहता है। इसके द्वारा यह समस्त व्यवस्था एक परिवर्तनशील संतुलन के रूप में क्रियाशील रहती है।"

**रॉस** (Ross) के अनुसार, "सामाजिक नियंत्रण का तात्पर्य उन सभी शक्तियों से है जिनके द्वारा समुदाय व्यक्ति को अपने अनुरूप बनाता है।"

**गिलिन** और **गिलिन** के अनुसार, "सामाजिक नियंत्रण सुझाव, अनुनय, प्रतिशोध, उत्पीड़न तथा बल-प्रयोग जैसे साधनों की वह व्यवस्था है जिसके द्वारा समाज किसी समूह के व्यवहार को मान्यता-प्राप्त प्रतिमानों के अनुरूप बनाता है अथवा जिसके द्वारा समूह सभी सदस्यों को अपने अनुरूप बना लेता है।"

**ऑगबर्न** तथा **निमकॉफ** लिखते हैं, "दबाव का वह प्रतिमान, जिसे समाज के द्वारा व्यवस्था बनाए रखने और नियमों को स्थापित रखने के उपयोग में लाया जाता है, सामाजिक नियंत्रण कहा जाता है।"

**पी. एच. लैण्डिस** के अनुसार, "सामाजिक नियंत्रण एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा सामाजिक व्यवस्था स्थापित की जाती है और बनाए रखी जाती है।"

**गुरविच** एवं **मूर** के अनुसार, "सामाजिक नियंत्रण का संबंध उन सभी प्रक्रियाओं और प्रयत्नों से है जिनके द्वारा समूह अपने आंतरिक तनावों और संघर्षों पर नियंत्रण रखता है और इस प्रकार रचनात्मक कार्यों की ओर बढ़ता है।" स्पष्ट है कि सामाजिक नियंत्रण का उद्देश्य समाज में पैदा होने वाले तनावों एवं संघर्षों को दूर करना एवं सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखना है।

**ब्रियरली** के अनुसार, "सामाजिक नियंत्रण नियोजित अथवा अनियोजित प्रक्रियाओं और अभिकरणों (agencies) के लिए एक सामूहिक शब्द है जिनके द्वारा व्यक्तियों को यह सिखाया जाता है, उनसे आग्रह किया जाता है अथवा बाध्य किया जाता है कि वे अपने समूह की रीतियों तथा सामाजिक मूल्यों के अनुसार कार्य करें।"

**पारसन्स** (Parsons) का मत है कि सामाजिक नियंत्रण के द्वारा सामाजिक प्रतिमानों के अनुरूप व्यवहार एवं वास्तविक व्यवहार के बीच पाए जाने वाले अंतर को कम किया जाता है। वे लिखते हैं, "सामाजिक नियंत्रण वह सामान्य प्रक्रिया है जिसके द्वारा अपेक्षित व्यवहार एवं किए गए व्यवहार के बीच अंतर को कम-से-कम किया जाता है।" **पारसन्स** के अनुसार, "विपथगामी प्रवृत्तियों की कली को फूल बनने से पहले ही कुचल देना सामाजिक नियंत्रण है।" जॉनसन कहते हैं कि व्यक्ति कई बार तो स्वयं ही अपनी अंतरात्मा के द्वारा नियंत्रण करता है, जब यह आत्म-नियंत्रण अचेतन एवं अनौपचारिक रूप से ही होता है तो उसे कुचल दिया जाता है। किंतु कई बार विपथगामी प्रवृत्तियाँ जब तक कली के रूप में विकसित नहीं होती, तब तक रोकी नहीं जाती। इस संदर्भ में एक बात उल्लेखनीय है कि आत्म-नियंत्रण एवं सामाजिक नियंत्रण में अंतर है। आत्म-नियंत्रण का संबंध व्यक्ति से है, इसकी प्रकृति वैयक्तिक है जबकि सामाजिक नियंत्रण का संबंध संपूर्ण समाज से है और इसकी प्रकृति संस्थापक है, यद्यपि कई बार ये एक-दूसरे के पूरक भी होते है। आत्म-नियंत्रण सामाजिक नियंत्रण का एक छोटा भाग माना जा सकता है।

विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर हम सामाजिक नियंत्रण के बारे में निम्न निष्कर्ष निकाल सकते हैं:

1. सामाजिक नियंत्रण में व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह सामाजिक प्रतिमानों के अनुरूप आचरण करे।
2. सामाजिक नियंत्रण समाज में संगठन एवं एकरूपता पैदा करता है।
3. सामाजिक नियंत्रण तीन स्तरों पर होता है–समूह का समूह पर नियंत्रण, समूह का व्यक्तियों पर नियंत्रण तथा व्यक्तियों का व्यक्तियों पर नियंत्रण।
4. सामाजिक नियंत्रण से सामाजिक संबंधों में स्थिरता एवं एकरूपता आती है।
5. सामाजिक नियंत्रण से तनाव एवं संघर्षों को कम किया जाता है तथा सहयोग स्थापित किया जाता है।
6. सामाजिक नियंत्रण उन साधनों एवं विधियों की ओर संकेत करता है जिनके द्वारा व्यक्तियों के व्यवहारों को एक आवश्यक सांचे में ढाला जाता है।
7. सामाजिक नियंत्रण द्वारा विपथगामी प्रवृत्तियों पर अंकुश रखा जाता तथा उन्हें कुचल दिया जाता है।
8. सामाजिक नियंत्रण के लिए दंड एवं पुरस्कार दोनों विधियों का प्रयोग किया जाता है।

इस प्रकार संपूर्ण समाज में एकता एवं व्यवस्था बनाए रखने के लिए लोगों के व्यवहार का नियमन करना ही सामाजिक नियंत्रण है।

## 2.16 समाजीकरण एवं सामाजिक नियंत्रण (Socialization and Social Control)

समाजीकरण एवं सामाजिक नियंत्रण परस्पर घनिष्ठ रूप से संबंधित हैं। समाजीकरण सामाजिक नियंत्रण बनाए रखने में और सामाजिक नियंत्रण समाजीकरण करने में एक-दूसरे के सहयोगी हैं। समाजीकरण के द्वारा व्यक्ति को सामाजिक मूल्यों, आदर्शों एवं प्रतिमानों के अनुरूप आचरण करना सिखाया जाता है जिससे कि वह समूह का क्रियाशील सदस्य बन सके। समाजीकरण का उद्देश्य भी सामाजिक नियंत्रण की पुष्टि करना है। समाजीकरण सामाजिक नियंत्रण का एक सशक्त साधन है। व्यक्ति का समाजीकरण इस प्रकार से किया जाता है कि वह अपनी भूमिकाओं का निर्वाह समाज की अपेक्षाओं के अनुरूप करे। समाजीकरण के दौरान सामाजिक नियंत्रण की प्रक्रिया भी चलती रहती है और सामाजिक नियंत्रण स्वत: होता रहता है। समाजीकरण की प्रक्रिया जन्म से मृत्यु तक चलती है, व्यक्ति समाज की प्रथाओं, मूल्यों एवं आदर्शों को आत्मसात् कर स्वत: ही उनके अनुरूप आचरण करता है। हम क्या खायें, कैसे खायें, कैसे वस्त्र पहने, क्या व्यवसाय करें, किनसे विवाह करें आदि से संबंधित अनेक नियम समाज में प्रचलित हैं। समाज में व्यवस्था बनाए रखने एवं कार्य करने की सुनिश्चित प्रणालियाँ पायी जाती हैं। समाजीकरण के दौरान धीरे-धीरे इन सभी को सीखा एवं आत्मसात् किया जाता है क्योंकि ये सभी तरीके समाज द्वारा मान्य और स्वीकृत होते हैं, अत: इनके द्वारा व्यक्ति शीघ्र ही समाज से अपना अनुकूलन कर लेता है। समाजीकरण के कारण ही समाज में लोग बिना सोचे-विचारे स्वाभाविक एवं अचेतन रूप से सामाजिक प्रत्याशाओं के अनुसार आचरण करते हैं। **ऑगबर्न** तथा **निमकॉफ** का मत है कि सामाजिक प्रतिमानों का व्यक्तियों द्वारा आंतरीकरण करने से ही समाज-व्यवस्था बनी रहती है। पुरानी पीढ़ी नयी पीढ़ी का समाजीकरण कर उन्हें भी एक निश्चित प्रकार से व्यवहार करना सिखाती है। **फ्रायड** का मत है कि समाजीकरण के द्वारा ही 'परा अहम्' (Supper ego) मानव की 'इड' (Id) प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रखता है और व्यक्तियों को समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहार करने को प्रेरित करता है। समाजीकरण के विभिन्न अभिकरण जैसे, परिवार, पड़ोस, मित्रमण्डली, स्कूल एवं द्वितीयक संस्थाएँ सामाजिक नियंत्रण बनाए रखने का कार्य भी करते हैं।

दूसरी ओर सामाजिक नियंत्रण द्वारा भी समाजीकरण का कार्य किया जाता है। समाजीकरण की प्रक्रिया में सामाजिक नियंत्रण एक साधन एवं विधि का कार्य करता है। **फिचर** का मत है, "सामाजिक नियंत्रण समाजीकरण की प्रक्रिया का ही विस्तार है।" सामाजिक नियंत्रण वह यंत्र है जिसके द्वारा समाजीकरण की

प्रक्रिया को निरंतरता प्रदान की जाती है और लोगों को सामाजिक नियमों का पालन करने के लिए प्रेरित एवं बाध्य किया जाता है। सामाजिक नियंत्रण लोगों पर इस बात के लिए दबाव डालता है कि वे अपनी भूमिकाओं का निर्वाह सामाजिक प्रत्याशाओं के अनुरूप करें और साथ ही नियमों का पालन करें। **ऑगबर्न** तथा **निमकॉफ** का मत है कि सामाजिक नियंत्रण समाजीकरण की असफलता को रोकता है तथा जिन लोगों ने सफल समाजीकरण किया है उन्हें सहायता देता है। सामाजिक नियंत्रण के साधन जैसे, परिवार, राज्य, जनमत, कानून एवं द्वितीयक समूह तथा नेता, आदि नियंत्रण द्वारा समाजीकरण में भी योग देते हैं। ये व्यक्ति को निर्देश देते हैं जो समाजीकरण में सहायक होते हैं। समाजीकरण के कारण ही प्रथाओं का पालन करना व्यक्ति की आदत बन जाती है और सत्ता को स्वीकार करना व्यक्तित्व का अंग बन जाता है। जब कभी कोई व्यक्ति सामाजिक प्रतिमानों की अवहेलना करता है और विपथगामी व्यवहार (deviant behaviour) करता है तो समाज द्वारा उसके प्रति कठोर साधनों एवं दंड का प्रयोग किया जाता है, किंतु कई बार कठोर सामाजिक नियंत्रण समाजीकरण की प्रक्रिया को रोक भी देता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाजीकरण एवं सामाजिक नियंत्रण में घनिष्ठता पायी जाती है। उनमें कई समानताएँ भी हैं। **ऑगबर्न** एवं **निमकॉफ** कहते हैं, "समाजीकरण एवं सामाजिक नियंत्रण की प्रक्रिया की मौलिक शक्ति एक ही है, जैसे स्वीकृत एवं अस्वीकृत व्यवहार करने वालों की प्रशंसा एवं निंदा, पुरस्कार एवं दंड दोनों में ही दिया जाता है, यद्यपि उनकी मात्रा में दोनों में अंतर पाया जाता है।" उदाहरणार्थ, सामाजिक नियंत्रण की अवज्ञा करने वाले को मृत्यु-दंड भी दिया जा सकता है, किंतु असफल समाजीकरण करने वालों को नहीं। समाजीकरण एवं सामाजिक नियंत्रण के साधनों एवं अभिकरणों में भी पर्याप्त समानता है; जैसे परिवार, पड़ोस, मित्र-समूह, स्कूल, कानून, प्रथाएँ, राज्य एवं द्वितीयक संस्थाएँ समाजीकरण एवं सामाजिक नियंत्रण दोनों का कार्य करते हैं। फिर भी इन दोनों में निम्नांकित अंतर हैं:

1. समाजीकरण का संबंध व्यक्ति से है, इसमें व्यक्ति को समाज एवं संस्कृति के अनुरूप ढाला जाता है, जबकि सामाजिक नियंत्रण का संबंध व्यक्ति, समूह तथा संपूर्ण समाज को व्यवस्थित रखने से है। इस अर्थ में सामाजिक नियंत्रण समाजीकरण से अधिक व्यापक है।
2. समाजीकरण को सफल एवं असफल बनाने में प्राथमिक समूहों की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण है, जबकि सामाजिक नियंत्रण की स्थापना में राज्य एवं द्वितीयक समूहों की भूमिका मुख्य है।
3. गोल्डनर का मत है कि समाजीकरण का संबंध व्यक्ति के आंतरिक पक्ष अर्थात् 'आत्मा' के विकास से अधिक है जबकि सामाजिक नियंत्रण का संबंध उसके बाह्य पक्ष एवं व्यवहार से है। उसका उद्देश्य बाह्य व्यवहार को संयमित रखना है चाहे आंतरिक रूप से व्यक्ति ऐसा न चाहता हो।
4. समाजीकरण की प्रक्रिया अनौपचारिक एवं अचेतन अधिक है जिसमें व्यक्ति स्वतः ही कई बातें सीखता है, जबकि सामाजिक नियंत्रण जागरूक एवं औपचारिक प्रयत्नों द्वारा अधिक किया जाता है, जैसे, राज्य कानून बनाता है और उसके पालन के लिए न्याय व दंड की व्यवस्था करता है।
5. समाजीकरण सदैव एक समाज के सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों के अनुरूप होता है जबकि सामाजिक नियंत्रण उससे उसे भिन्न एवं नवीनता लिए हुए भी हो सकता है। उदाहरण के लिए, छुआछूत की समाप्ति के नए कानून परंपरागत जाति-भेद के नियमों से भिन्न है।
6. दोनों साधनों में भी पर्याप्त भिन्नता पायी जाती है। समाजीकरण के लिए प्रशंसा, अनुनय, शिक्षा, व्यंग्य, हास्य, पुरस्कार एवं हल्का दंड आदि साधनों का प्रयोग किया जाता है जबकि सामाजिक नियंत्रण के लिए कठोर कारावास एवं मृत्यु-दंड तक की सजा दी जाती है।
7. समाजीकरण का प्रभाव व्यक्ति पर शिशु अवस्था से ही प्रारंभ हो जाता है और किशोर अवस्था तक चलता है जबकि सामाजिक नियंत्रण का प्रभाव यद्यपि सभी स्तरों पर देखा जा सकता है फिर भी युवा अवस्था में अधिक होता है।

इस प्रकार, ये दोनों प्रक्रियाएँ एक-दूसरे की पूरक हैं। सामाजिक नियंत्रण समाजीकरण को सफल बनाता है तो समाजीकरण सामाजिक नियंत्रण का विस्तार करता है। किसी समाज के सामाजिक जीवन में समाजीकरण के अनुरूप कितना व्यवहार होता है, यह उस समय के सामाजिक नियंत्रण पर निर्भर है, जितना अधिक समाजीकरण के अनुरूप व्यवहार होता है उतना ही उस समाज में नियंत्रण पाया जाता है तथा उतनी ही नियमहीनता (Anomie) में कमी आती है। समाजीकरण की अनुरूपता में कमी होने पर समाज में सामाजिक नियंत्रण की समस्या पैदा होती है और विघटन की प्रवृत्ति प्रबल होती है।

## 2.17 सामाजिक नियंत्रण के स्वरूप या प्रकार (Forms or Types of Social Control)

प्रत्येक समाज में नियंत्रण की व्यवस्था होती है, किंतु सभी समाजों में इसके प्रकारों या स्वरूपों में भिन्नता पायी जाती है। इसका कारण यह है कि समाज और सामाजिक संबंधों की प्रकृति, सामाजिक दशाओं एवं व्यक्तिगत व्यवहारों में भी भिन्नता पायी जाती है। सदस्यों के उद्देश्यों, हितों एवं विचारों के भिन्न-भिन्न होने के कारण एक ही प्रकार के नियंत्रण से सभी के व्यवहारों को नियमित नहीं किया जा सकता। ग्रामीण एवं नगरीय, बंद एवं मुक्त, परंपरात्मक, जनतांत्रिक एवं एकतंत्र समाज में सामाजिक नियंत्रण के स्वरूपों में भिन्नता होना स्वाभाविक ही है। कभी पुरस्कार द्वारा तो कभी दंड द्वारा, कभी औपचारिक व संगठित शक्तियों द्वारा, तो कभी अनौपचारिक व असंगठित शक्तियों द्वारा नियंत्रण रखा जाता है। विभिन्न विद्वानों ने सामाजिक नियंत्रण के विभिन्न प्रकारों या स्वरूपों का उल्लेख किया है, जिनका हम यहाँ वर्णन करेंगे:

1. **चेतन और अचेतन नियंत्रण (Conscious and Unconscious Control)**—अमेरिकन समाजशास्त्री **कूले** तथा **एल. एल. बर्नार्ड** ने सामाजिक नियंत्रण के दो स्वरूपों—**चेतन** व **अचेतन** का उल्लेख किया है। हम अपने दैनिक जीवन के व्यवहार को मुख्यतः दो भागों में बाँट सकते हैं—चेतन एवं अचेतन। कुछ व्यवहार ऐसे हैं जिनके प्रति हम अधिक सचेत होते हैं और यह ध्यान रखते हैं कि उनके निभाने में कोई त्रुटि न हो जाए। उदाहरण के लिए, एक क्लर्क ऑफिस में अपने बॉस की कुर्सी पर नहीं बैठता है, किंतु उन्हीं कुर्सियों पर बैठता है जो क्लर्कों के लिए है। इस प्रकार वह स्थिति को समझकर कार्य करता है। दूसरी ओर कुछ व्यवहार ऐसे हैं जो हमारे व्यक्तित्व, आदर्श एवं मूल्यों के अंग बन चुके हैं और जिनका हमारे मस्तिष्क में प्रभाव स्थायी हो चुका है। उनका पालन करने के लिए हमें अधिक सोचना नहीं पड़ता वरन् हम स्वतः ही वैसा आचरण करने लगते हैं। उदाहरण के लिए, वस्त्र पहनते समय हमें जिस वस्त्र को जहाँ धारण करना है, वहीं पहनते हैं, बनियान को कोट पर धारण नहीं करते। यह सब कुछ अचेतन रूप से ही होता है क्योंकि वर्षों से एक निश्चित प्रकार का आचरण करने के कारण हम स्वतः ही वैसा करने लगते हैं। पहली स्थिति में जिसमें हम सचेत एवं जागरूक व्यवहार करते हैं, नियंत्रण करने वाली व्यवस्था को 'चेतन नियंत्रण' और दूसरी स्थिति में जिसमें हम अचेतन एवं स्वाभाविक रूप से आचरण करते हैं, नियंत्रण की व्यवस्था को 'अचेतन नियंत्रण' कहते हैं। जाति व्यवस्था में खान-पान, छुआछूत और विवाह के नियमों का पालन चेतन नियंत्रण का उदाहरण है। प्रथाओं, कानूनों और लोकाचारों द्वारा किया जाने वाला नियंत्रण चेतन नियंत्रण होता है क्योंकि उन्हें लागू करते समय हम उनकी उपयोगिता एवं लाभों को भी ध्यान में रखते हैं। दूसरी ओर परंपराओं, संस्कारों एवं धार्मिक विश्वासों द्वारा समाज में अचेतन नियंत्रण रखा जाता है क्योंकि इनसे संबंधित नियमों का पालन व्यक्ति के व्यक्तित्व का अंग बन चुका है और व्यक्ति स्वतः ही उनका पालन करने लगता है। आधुनिक समय में कानून का महत्त्व बढ़ने के कारण चेतन नियंत्रण का महत्त्व भी बढ़ता जा रहा है।
2. **प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष नियंत्रण (Direct and Indirect Control)**—**कार्ल मानहीम** ने सामाजिक नियंत्रण के प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष स्वरूपों का उल्लेख किया है। प्रत्यक्ष नियंत्रण का तात्पर्य ऐसे नियंत्रण से है जो व्यक्ति पर उसके बहुत समीप के व्यक्तियों द्वारा लागू किया जाता है, जैसे, माता-पिता, मित्रों गुरुजनों अथवा पड़ोसियों द्वारा किया जाने वाला नियंत्रण।

यह नियंत्रण प्रशंसा, आलोचना, सम्मान या पुरस्कार के रूप में किया जाता है। इस प्रकार के नियंत्रण का प्रभाव गहरा एवं स्थायी होता है क्योंकि ये ही व्यक्ति के समाजीकरण के माध्यम होते हैं। व्यक्ति के शेष सामाजिक व भौतिक पर्यावरण तथा विभिन्न समूहों एवं संस्थाओं द्वारा लागू किया जाने वाला नियंत्रण **अप्रत्यक्ष नियंत्रण** कहलाता है। नियंत्रण का यह स्वरूप अत्यधिक सूक्ष्म और छोटे-छोटे व्यवहारों को नियंत्रित करने वाला होता है। यह व्यक्ति को एक विशेष प्रकार से व्यवहार करने को बाध्य करता है। शुरू में तो हम चेतन रूप में इससे नियंत्रित होते हैं, किंतु बाद में यह नियंत्रण हमारे व्यवहार एवं मूल्यों का अंग बन जाता है और हम स्वाभाविक रूप से उसे मानने लगते हैं। अप्रत्यक्ष नियंत्रण में तर्क एवं सामूहिक कल्याण को अधिक महत्त्व दिया जाता है।

3. **सकारात्मक और नकारात्मक नियंत्रण (Positive and Negative Control)**–**किम्बल यंग** ने सामाजिक नियंत्रण को सकारात्मक एवं नकारात्मक, दो भागों में बाँटा है। सकारात्मक नियंत्रण में व्यक्ति को पुरस्कार देकर सही व्यवहार करने को प्रेरित किया जाता है। उदाहरणार्थ, अच्छे आचरण वाले छात्र को, श्रेष्ठ छात्र को, श्रेष्ठ खिलाड़ी को, वीर सिपाही को पुरस्कार, प्रशंसा-पत्र, धन्यवाद, शाबाशी आदि देना सकारात्मक नियंत्रण है। बच्चों को अच्छे कार्य के लिए माता-पिता द्वारा प्यार करना एवं चुम्बन देना भी पुरस्कार ही है। सकारात्मक नियंत्रण में पुरस्कार प्रदान कर अन्य लोगों को भी वैसा ही व्यवहार करने को प्रोत्साहित किया जाता है। नकारात्मक नियंत्रण में समाज विरोधी व्यवहार करने वाले व्यक्ति को दंडित किया जाता है। दंड की मात्रा कितनी होगी-यह इस बात पर निर्भर है कि व्यक्ति ने कितना गंभीर अपराध किया है। दंड उपहास, व्यंग्य, आलोचना, बहिष्कार, जेल, जुर्माना और मृत्युदंड आदि कई प्रकार का हो सकता है। आदिम एवं आधुनिक समाजों में नकारात्मक सामाजिक नियंत्रण अधिक प्रभावकारी है।

4. **संगठित, असंगठित तथा सहज नियंत्रण (Organised, Unorganised and Automatic Control)**–**गुरुविच** तथा **मूर** ने सामाजिक नियंत्रण के तीन स्वरूपों-संगठित, असंगठित एवं सहज नियंत्रण का उल्लेख किया है। **संगठित नियंत्रण** का अर्थ उस नियंत्रण से है जो अनेक छोटी-बड़ी एजेन्सियों और व्यापक नियमों द्वारा व्यक्तियों के व्यवहारों को प्रभावित करता है। इसका विकास नियमित रूप से होता है और इसे स्वेच्छाचारी प्रकृति का कहा जा सकता है। इसमें व्यक्ति के अधिकारों एवं कर्तव्यों को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया जाता है। शिक्षण संस्था, परिवार, राज्य, बैंक, आदि द्वारा लागू किये गए नियंत्रण इसी श्रेणी में आते हैं। **असंगठित नियंत्रण** में सांस्कृतिक प्रतीक एवं नियम आते हैं। दैनिक जीवन में इनका प्रभाव सर्वाधिक होता है। संस्कारों, परंपराओं, जनरीतियों व लोकाचारों द्वारा किया जाने वाला नियंत्रण इसी प्रकार का है। **सहज नियंत्रण** का आधार व्यक्तियों के अनुभव, मूल्य, आदर्श, विचार और आवश्यकताएँ हैं। व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु स्वत: ही कार्य करता है और कुछ व्यवहारों को सीखता है। व्यक्ति स्वयं अपने अनुभव एवं आवश्यकता के कारण कुछ नियंत्रणों को स्वीकार करता है। इस प्रकार का नियंत्रण सहज प्रकृति का होता है और उसका प्रभाव भी अधिक होता है। कानून की तरह यह व्यक्ति पर थोपा नहीं जाता है। धार्मिक नियमों को हम सहज नियंत्रण के अंतर्गत रख सकते हैं।

5. **सत्तावादी एवं लोकतांत्रिक/प्रजातांत्रिक नियंत्रण (Autocratic and Democratic Control)**–**लेपियर** ने सामाजिक नियंत्रण को सत्तावादी एवं लोकतांत्रिक दो भागों में बाँटा है। **लेपियर** कहते हैं कि जब कभी कोई प्रशासनिक संस्था अथवा दंड देने वाला व्यक्ति समाज द्वारा स्वीकृत संगठनों के अतिरिक्त किसी दूसरे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उत्पीड़न अथवा शक्ति का प्रयोग करता है, तब इस प्रकार से स्थापित किए गए नियंत्रण को सत्तावादी नियंत्रण कहते हैं। सत्तावादी नियंत्रण में शक्ति का उपयोग जन-सामान्य की इच्छाओं के विरुद्ध होता है। यदि सत्ताधारी शक्ति का उपयोग समाज की परंपराओं, सामाजिक मूल्यों और

स्वीकृत व्यवहारों के विपरीत करते हैं तो इसे सत्तावादी नियंत्रण कहा जायेगा। निरंकुश एवं तानाशाह शासकों द्वारा इसी प्रकार का नियंत्रण रखा जाता है। सत्तावादी नियंत्रण रखने के लिए धमकियों, कूटनीति, अधिकार-प्रदर्शन, गुप्त संगठन, प्रलोभन एवं कूटनीतिक एजेन्सियों, आदि का सहारा लिया जाता है। लोकतांत्रिक नियंत्रण में व्यक्तियों को स्वेच्छा से एक विशेष प्रकार का आचरण करने को प्रेरित किया जाता है। इसमें व्यक्तियों को संतुष्ट करने के लिए आपसी वार्तालाप किया जाता है। सत्तावादी नियंत्रण में धमकी एवं शारीरिक उत्पीड़न का सहारा लिया जाता है। जबकि लोकतांत्रिक नियंत्रण में व्यक्तियों को पुरस्कार एवं भावात्मक प्रेरणाओं के द्वारा नियंत्रण में रखा जाता है। ऐच्छिक आज्ञाकारिता, अनुभव, वार्तालाप, सामाजिक प्रोत्साहन आदि लोकतांत्रिक नियंत्रण के प्रमुख साधन हैं। हिटलर एवं मुसोलिनी का नियंत्रण सत्तावादी था जबकि प्रजातंत्रीय देशों में नियंत्रण लोकतांत्रिक पद्धति से रखा जाता है।

6. **सामाजिक नियंत्रण के कुछ अन्य स्वरूप (Some Other Forms of Social Control)**– कुछ समाजशास्त्रियों ने सामाजिक नियंत्रण के कुछ अन्य स्वरूपों का भी उल्लेख किया है। गिडिंग्स ने सामाजिक नियंत्रण के दो स्वरूपों का उल्लेख किया है–**पुरस्कार एवं दंड।** व्यक्ति को नियंत्रण में रखने के लिए कई बार प्रशंसा, धन्यवाद, पदक और प्रमाण-पत्र आदि के रूप में उसे पुरस्कार दिया जाता है। नियंत्रण का दूसरा तरीका दंड है। जुर्माना, शारीरिक श्रम, फांसी एवं अन्य प्रकार के उत्पीड़न के द्वारा भी व्यक्ति को नियंत्रित किया जाता है। **गिलिट एवं रीनहार्ट** ने सामाजिक नियंत्रण के दो तरीकों का उल्लेख किया है–एक, शिक्षा व समाजीकरण तथा दूसरा, सामाजिक निर्देश, जैसे पुरस्कार एवं दंड का। **ई.सी. हेज** ने सामाजिक नियंत्रण के दो प्रकारों (*i*) पुरस्कार एवं दंड तथा (*ii*) सुझाव और अनुकरण का उल्लेख किया है। **फिचर** ने सामाजिक नियंत्रण के दो प्रकारों–समूह नियंत्रण व संस्थात्मक नियंत्रण का उल्लेख किया है–**समूह नियंत्रण में नियंत्रणकर्ता एवं नियंत्रित** होने वाला दोनों नियंत्रण के प्रति जागरूक होते हैं, वे जान-बूझकर स्वेच्छा से इस नियंत्रण को स्वीकार करते हैं। संस्थात्मक नियंत्रण में व्यक्ति का संस्कृति से अचेतन व अतार्किक प्रत्युत्तर होता है। व्यक्ति जब एक सांस्कृतिक पर्यावरण में लंबे समय तक रहता है तो वह अपनी संस्कृति से संबंधित व्यवहारों को अचेतन रूप से बिना सोचे-विचारे ही अपना लेता है तथा स्वतः ही उनके अनुरूप कार्य करने लगता है।

7. **औपचारिक एवं अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण (Formal and Informal Social Control)**–कुछ समाजशास्त्रियों ने सामाजिक नियंत्रण को औपचारिक एवं अनौपचारिक दो भागों में बाँटा है। **गुरविच** एवं **मूर** का संगठित एवं असंगठित नियंत्रण वास्तव में औपचारिक एवं अनौपचारिक नियंत्रण ही है। औपचारिक नियंत्रण लिखित एवं निश्चित कानूनों तथा नियमों द्वारा किया जाता है। उसके पीछे राज्य एवं सरकार की शक्ति होती है। नियमों का पालन कराने के लिए औपचारिक संस्थाओं एवं न्याय की व्यवस्था होती है तथा नियमों का उल्लंघन करने पर न्यायालय अथवा किसी अन्य संस्था द्वारा दण्ड दिया जाता है। उदाहरण के लिए, चोरी, जालसाजी एवं डकैती करने वाले को औपचारिक प्रक्रिया के माध्यम से दण्डित किया जाता है। इस प्रकार कानून, न्यायालय, पुलिस एवं जेल औपचारिक नियंत्रण के माध्यम हैं। दूसरी ओर **आदिम, सरल और ग्रामीण समाजों में प्रथाओं, परंपराओं, लोकाचारों, विश्वासों, हास्य व्यंग्य, जनमत, आलोचना, संस्कार, धर्म आदि के द्वारा नियंत्रण-रखा जाता है। ये नियंत्रण के अनौपचारिक साधन हैं।** अनौपचारिक नियंत्रण का संबंध राज्य से न होकर समाज से होता है। आज के आधुनिक जटिल समाजों में सामाजिक नियंत्रण के अनौपचारिक साधनों का प्रभाव कमजोर पड़ता जा रहा है। परिणामस्वरूप वहां सामाजिक नियंत्रण के औपचारिक साधनों की उपयोगिता एवं प्रयोग बढ़ता जा रहा है।

## 2.18 औपचारिक सामाजिक नियंत्रण (Formal Social Control)

नोट

### *अर्थ एवं विशेषताएँ (Meaning and Characteristics)*

औपचारिक नियंत्रण सामाजिक नियंत्रण का वह प्रकार है जिसकी स्थापना राज्य सरकार एवं किसी औपचारिक संस्था के द्वारा निश्चित नियमों के माध्यम से व्यक्तियों एवं समूहों के व्यवहारों को नियंत्रित करने के लिए की जाती है। सरकारी तथा औपचारिक संगठनों के द्वारा जानबूझकर कुछ नियम अथवा कानून बनाए जाते हैं जिनका पालन करना उन संगठनों से संबंधित व्यक्तियों एवं समूहों के लिए आवश्यक होता है। इन नियमों में बाध्यता का तत्व पाया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि इनको उल्लंघन करने वालों को दंडित किया जाता है, कुछ सजा दी जाती है। उदाहरण के रूप में, राज्य सरकार या केंद्रीय सरकार द्वारा पारित कानूनों का पालन करना व्यक्तियों के लिए आवश्यक होता है। उन कानूनों को तोड़ने अर्थात् उनके विपरीत आचरण करने वालों पर पुलिस कार्यवाही करती है, अदालत में उनके कानून-विरुद्ध आचरण की जाँच की जाती है और यदि उन्हें दोषी पाया जाता है तो जुर्माने या कैद या दोनों ही रूपों में सजा सुनायी जाती है। इसी प्रकार यदि कोई विद्यार्थी किसी महाविद्यालय या विश्वविद्यालय के नियमों का उल्लंघन करता है तो उस पर जुर्माना या उसे कक्षा से निलम्बित किया जा सकता है और अपराध गंभीर होने पर कॉलेज या विश्वविद्यालय से निकाला भी जा सकता है। इसी प्रकार के नियम आर्थिक संगठनों-औद्योगिक संस्थानों, बैंकों, राजनीतिक दलों, नगरपालिकाओं, कॉरपोरेशनों आदि के होते हैं जिनके माध्यम से इनसे संबंधित व्यक्तियों के व्यवहारों को नियंत्रित किया जाता है।

संक्षिप्त में हम कह सकते हैं कि **औपचारिक सामाजिक नियंत्रण का अर्थ उस नियंत्रण से है जो राज्य, सरकार या किन्हीं औपचारिक संस्थाओं द्वारा अपने सदस्यों के व्यवहारों को नियंत्रित करने हेतु स्पष्टतः परिभाषित नियमों के द्वारा लागू किया जाता है और इन नियमों का सदस्यों पर बाध्यतामूलक प्रभाव होता है।** इन नियमों के पीछे इन्हें पारित करने वाली संस्था या संगठन की शक्ति होती है और साथ ही जो व्यक्ति इनका उल्लंघन करता है, उसे दंडित करने की व्यवस्था पायी जाती है।

**औपचारिक नियंत्रण की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं:**

1. **राज्य, सरकार या किसी अन्य औपचारिक संस्था द्वारा लागू**–औपचारिक नियंत्रण राज्य, सरकार या किसी औपचारिक संस्था के द्वारा लागू किया जाता है। इनके द्वारा सदस्यों के व्यवहारों को नियंत्रित करने के लिए कुछ कानून या नियम बनाये जाते हैं जो सुस्पष्ट या सुपरिभाषित होते हैं।
2. **सोच-विचारकर सचेत प्रयत्नों द्वारा लागू**–औपचारिक नियंत्रण की एक प्रमुख विशेषता यह है कि यह योजनाबद्ध तरीके से लागू किया जाता है। काफी विचार के बाद कानून या नियम बनाये जाते हैं और उन्हें लागू करने और न्याय की व्यवस्था हेतु पुलिस, प्रशासनिक अधिकारियों, न्यायालय तथा जेल आदि की व्यवस्था होती है। औपचारिक नियंत्रण में स्पष्टता विशेषतः देखने को मिलती है।
3. **बाध्यतामूलक प्रभाव**–औपचारिक नियंत्रण के अंतर्गत सभी के लिए कानूनों या नियमों का पालन करना आवश्यक होता है। जो इनका उल्लंघन करता है, उसे दण्डित किया जाता है। राज्य या सरकार के पास विशेषतः ऐसी शक्ति एवं सत्ता पायी जाती है जिसके माध्यम से वह सदस्यों से कानूनों का पालन कराती है।
4. **नियम विरुद्ध आचरण करने पर दण्ड की व्यवस्था**–जो व्यक्ति राज्य, सरकार या किसी औपचारिक संगठन के नियमों को तोड़ता है, उनके विरुद्ध आचरण करता है, उसके लिए दण्ड की निश्चित व्यवस्था पायी जाती है।
5. **औपचारिक संगठन में अनुकूलनशीलता या परिवर्तनशीलता का गुण**–औपचारिक नियंत्रण सामान्यतः रूढ़िवादी नहीं होकर परिवर्तनशील होता है। इसमें समय और आवश्यकतानुसार

नोट

परिवर्तन होता रहता है। जैसे-जैसे परिस्थितियाँ बदलती हैं, उसके साथ-ही-साथ कानूनों और नियमों को भी बदला जाता है।

6. **औपचारिक नियंत्रण व्यवहार के बाहरी पक्ष से संबंधित**–इसमें कानूनों या नियमों के अनुसार व्यवहार करना व्यक्ति के लिए अनिवार्य होता है। ऐसी स्थिति में वह कई बार दण्ड के भय से कानूनों का पालन करता है। परिणामस्वरूप औपचारिक नियंत्रण अधिकांशत: व्यवहार या बाह्य क्रियाओं को भी प्रभावित कर पाता है, व्यक्ति के आंतरिक विचारों या भावनाओं को नहीं।

7. **प्रमुखत: जटिल समस्याओं से संबंधित**–औपचारिक नियंत्रण प्रमुखत: जटिल समाजों की विशेषता है। आज के आधुनिक औद्योगिक जटिल समाजों में जहाँ द्वितीयक समूहों की प्रधानता पायी जाती है। नियंत्रण के अनौपचारिक साधनों–प्रथा, रूढ़ि, धर्म, नैतिकता द्वारा सामाजिक नियंत्रण बनाये रखना बहुत कठिन है। इन समाजों में तो नियम, पुलिस अधिकारियों, न्यायालय, जेल व्यवस्था आदि के माध्यम से नियंत्रण बनाये रखा जा सकता है।

## 2.19 औपचारिक नियंत्रण के साधन एवं प्रविधियाँ (Means and Techniques of Formal Control)

### *औपचारिक नियंत्रण के साधन (Means of Formal Control)*

जटिल समाजों में व्यवस्था बनाये रखने हेतु औपचारिक नियंत्रण का सहारा लिया जाता है। ऐसे समाजों में औपचारिक नियंत्रण हेतु निम्नलिखित साधनों का प्रमुखत: प्रयोग किया जाता है:

1. **कानून**–विभिन्न औपचारिक संगठनों के द्वारा समय-समय पर अनेक कानून बनाये जाते हैं ताकि सदस्यों के व्यवहारों पर नियंत्रण किया जा सके। इन कानूनों की सहायता से व्यक्ति के अधिकारों एवं कर्तव्यों को भी निश्चित किया जाता है।

2. **राज्य**–राज्य या सरकार की अपनी प्रभुसत्ता एवं शासन व्यवस्था होती है। राज्य नौकरशाही व्यवस्था के माध्यम से लोगों से कानूनों का पालन कराता है और इनका उल्लंघन करने वालों के विरुद्ध आवश्यक कार्यवाही करता है। दण्ड के भय से व्यक्ति कानून को तोड़ने का सामान्यत: साहस नहीं करता।

3. **पुलिस व अदालत**–पुलिस भी औपचारिक नियंत्रण का प्रमुख साधन है। पुलिस जिन लोगों को कानून-विरुद्ध कार्य करने पर पकड़ती है, उन पर अदालत में मुकदमा चलता है और दोषी पाये जाने पर उन्हें दण्डित किया जाता है। यह दण्ड जुर्माना, कैद और मृत्युदण्ड तक के रूप में हो सकता है। दण्ड के भय से भी व्यक्ति कानूनों को तोड़ने से घबराता है और इस प्रकार उसके व्यवहार पर नियंत्रण रहता है।

4. **जेल या बंदीगृह**–अदालत द्वारा सुनाये गये दण्ड को व्यक्ति को जेल या बंदीगृह में रहकर काटना पड़ता है। जेल में व्यक्ति को अपने परिवार-जनों, रिश्तेदारों, मित्रों, पड़ोसियों आदि के साथ रहने का अवसर नहीं मिलता। उसे इन सबसे अलग कर दिया जाता है। यह पृथक्करण व्यक्ति के लिए काफी कष्टदायक होता है। यहाँ उसे शारीरिक और मानसिक कष्ट तक झेलने पड़ते हैं। जेल के भय से व्यक्ति कानूनों के विरुद्ध आचरण करने से घबराता है।

5. **स्कूल, कॉलेज तथा विश्वविद्यालय**–ये सब औपचारिक नियंत्रण के साधन हैं। शिक्षण संस्था से संबंधित कुछ नियम होते हैं जिनका पालन करना विद्यार्थियों के लिए आवश्यक होता है। इनके विरुद्ध आचरण करने पर उन्हें शिक्षण-संस्था के प्रधान द्वारा दण्डित किया जाता है। एक ओर वह दण्ड के भय से नियमों के विरुद्ध कार्य नहीं करता है और दूसरी ओर शिक्षण संस्था उसे कर्तव्यों एवं अधिकारों का बोध कराती है, अनुशासन में रहने के लिए प्रोत्साहित और आवश्यकतानुसार बाध्य भी करती है।

### *औपचारिक नियंत्रण की प्रविधियाँ (Techniques of Formal Control)*

यहाँ हम कुछ ऐसी प्रविधियों का उल्लेख करेंगे जो औपचारिक नियंत्रण को सफल एवं प्रभावपूर्ण बनाने में विशेष भूमिका अदा करती हैं, ये प्रविधियाँ निम्नांकित हैं:

1. **चेतावनी**–यह एक बहुत ही पुरानी और प्रारंभिक प्रविधि है। जहाँ कानून का मामूली उल्लंघन किया जाता है, वहाँ दोषी व्यक्ति को विशेष दण्ड नहीं देकर माफी मांगने और भविष्य में ऐसा न करने की चेतावनी देकर छोड़ दिया जाता है।
2. **जुर्माना**–जुर्माना या आर्थिक दण्ड भी औपचारिक नियंत्रण की एक प्रमुख प्रविधि है। यह पहले से निश्चित होता है कि कौन-से कानून या नियम का उल्लंघन करने पर व्यक्ति को कितनी रकम जुर्माने के रूप में चुकानी होगी।
3. **बंदीगृह या कारावास**–इसमें व्यक्ति को कारावास में रहना पड़ता है व्यक्ति को सश्रम कारावास की और बिना श्रम के कारावास की सजा दी जा सकती है। सश्रम कारावास की सजा में व्यक्ति को जेल में कठिन शारीरिक परिश्रम करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। बिना श्रम के कारावास की स्थिति में भी व्यक्ति को मानसिक पीड़ा तो भुगतनी ही पड़ती है।
4. **गुप्तचर व्यवस्था**–यह व्यवस्था सरकारी और गैर-सरकारी दोनों ही प्रकार की हो सकती है। इसके अंतर्गत गुप्तचर या सी.आई.डी सादी पोशाक में रहते हैं तथा समाज विरोधी व्यक्तियों, कार्यों, अपराधों, षड्यंत्रों तथा कुछ विशिष्ट लोगों की गतिविधियों पर निगरानी रखते हैं। ये अपराधियों और अन्य समाज विरोधी व्यक्तियों को पकड़ने में पुलिस की मदद करते हैं। गुप्तचर विभाग के डर से व्यक्तियों के व्यवहार पर नियंत्रण रहता है।
5. **पुरस्कार**–विभिन्न संगठनों के द्वारा अच्छे कार्यों के लिए व्यक्तियों को समय-समय पर अनेक पुरस्कार भी दिये जाते हैं। इन पुरस्कारों से व्यक्ति को अच्छे कार्य करने की प्रेरणा मिलती है और साथ ही समाज-विरोधी कार्यों से बचने का प्रोत्साहन। पुरस्कार पाने की इच्छा व्यक्ति को गलत कार्य करने से रोकती है और अनुशासन में रहने के लिए प्रेरित करती है।

## 2.20 अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण (Informal Social Control)

### *अर्थ एवं विशेषताएँ (Meaning and Characteristics)*

अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण औपचारिक नियंत्रण का विपरीत प्रकार है। इसमें व्यक्तियों एवं समूहों के व्यवहारों को नियंत्रित करने के लिए राज्य, सरकार या किसी संस्था अथवा संगठन के द्वारा कानून एवं नियम नहीं बनाये जाते। साथ ही अनौपचारिक नियंत्रण के पीछे राज्य या सरकार की शक्ति या सत्ता नहीं पायी जाती। यदि कोई व्यक्ति किसी जनरीति, प्रथा, रूढ़ि या परंपरा के विपरीत आचरण करता है तो सरकार के द्वारा उसे दण्डित नहीं किया जाता है। इस प्रकार के नियंत्रण को **ओल्सन** ने आत्म-नियंत्रण (Self-control) के नाम से पुकारा है। औपचारिक नियंत्रण का समय के साथ-साथ सामाजिक अंत:क्रियाओं के परिणामस्वरूप अपने आप ही विकास होता है। यह सोच-विचारकर या जान-बूझकर विकसित या निर्मित नहीं किया जाता। सामाजिक नियंत्रण का यह प्रकार सामाजिक नियमों के रूप में व्यक्तियों के व्यवहार को नियंत्रित करता है। जनरीतियाँ, रूढ़ियाँ, प्रथाएँ, विश्वास, धर्म और नैतिकता आदि अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण के विभिन्न साधनों के अंतर्गत आते हैं। सामाजिक नियंत्रण के इस प्रकार में व्यक्तियों के व्यवहारों को नियंत्रित करने के लिए कोई कानूनी या विधिवत् व्यवस्था नहीं पायी जाती है। व्यक्ति सामाजिक नियमों को समूह-कल्याण की दृष्टि से उपयोगी एवं आवश्यक मानता है, अत: उनके अनुरूप आचरण करता है। इन सामाजिक नियमों का आधार सामाजिक मूल्य एवं आदर्श होते हैं। अनौपचारिक नियंत्रण के साधन सामान्यत: रूढिवादी होते हैं। सरल और परंपरागत प्रकार के समाजों में **अनौपचारिक नियंत्रण अधिक प्रभावी होता है**। यद्यपि अनौपचारिक नियंत्रण के पीछे राज्य या सरकार की शक्ति नहीं होती परंतु इसका नियंत्रणकारी प्रभाव औपचारिक नियंत्रण से भी अधिक होता है। इस प्रकार के नियंत्रण में समूह का प्रत्येक सदस्य सजग प्रहरी होता है जो यह देखता रहता है कि कोई सामाजिक नियमों का उल्लंघन तो नहीं कर रहा है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि **अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण, नियंत्रण का वह प्रकार है। जिसमें जनरीतियों, प्रथाओं, परंपराओं, रूढ़ियों, आदर्शों, विश्वासों, धर्म एवं नैतिकता, आदि के माध्यम से व्यक्तियों एवं समूहों के व्यवहारों को नियंत्रित किया जाता है। इन सामाजिक नियमों का पालन समूह-कल्याण को ध्यान में रखकर नैतिक कर्तव्य के रूप में किया जाता है।**

**अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:**

1. **स्रोत स्वयं समाज**–इस प्रकार के सामाजिक नियंत्रण का स्रोत राज्य अथवा सरकार या कोई अन्य सामाजिक संगठन नहीं होता, बल्कि स्वयं समाज होता है। अनौपचारिक नियंत्रण के विभिन्न साधनों या सामाजिक नियमों का विकास सामाजिक अंत:क्रिया के दौरान अपने आप ही होता है। जनरीति, प्रथा, रूढ़ि, परंपरा आदि का विकास होता है और इनका स्रोत कोई औपचारिक संगठन नहीं होकर समूह या समाज ही होता है।
2. **स्वत: विकास**–इस प्रकार के नियंत्रण के विभिन्न साधनों का समय के साथ-साथ स्वत: ही विकास होता है। इनको जान-बूझकर या चेतन प्रयत्नों द्वारा सामान्यत: विकसित नहीं किया जाता। जैसे-जैसे लोग एक-दूसरे के संपर्क में आते हैं, उनमें सामाजिक अंत:क्रिया होती है, इसके साथ-ही-साथ इस प्रकार के सामाजिक नियंत्रण से जनरीति, प्रथा, रूढ़ि आदि का विकास होता जाता है।
3. **अलिखित**–सामाजिक नियंत्रण के ये साधन अलिखित रूप में पाये जाते हैं: जनरीति, प्रथा, परंपरा, रूढ़ि आदि राज्य के कानूनों के समान लिखित रूप में नहीं पाये जाते। ये तो अलिखित रूप में ही पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होते और लोगों के व्यवहारों को नियंत्रित करते रहते हैं।
4. **आंतरिक पक्ष से संबंधित**–सामाजिक नियंत्रण के अनौपचारिक साधनों का संबंध प्रमुखत: व्यक्तित्व के आंतरिक पक्ष से होता है। यहाँ तो व्यक्ति से यह आशा की जाती है कि वह समाज की परंपराओं, प्रथाओं, रूढ़ियों विश्वासों आदि को अपने व्यक्तित्व का अंग बना ले और उन्हीं के अनुरूप आचरण करना उसकी आदत बन जाए।
5. **समूह-कल्याण की भावना की प्रधानता**–अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण समूह-कल्याण की दृढ़ भावना पर टिका होता है। सभी लोग अर्थात् संपूर्ण समूह जनरीतियों, प्रथाओं, आदर्शों, रूढ़ियों, नैतिकता आदि को अपने हित या कल्याण की दृष्टि से आवश्यक समझते हैं। समूह-कल्याण की इसी बलवती भावना के कारण लोग प्रथाओं एवं परंपराओं को तोड़ते नहीं देखना चाहते।
6. **सामाजिक मूल्यों एवं आदर्शों पर आधारित**–प्रत्येक समाज के अपने कुछ सामाजिक मूल्य और आदर्श होते हैं। इनकी रक्षा करना समाज के सदस्यों का परम कर्तव्य समझा जाता है। सामाजिक नियंत्रण के अनौपचारिक साधन इन्हीं सामाजिक मूल्यों एवं आदर्शों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अत: सामाजिक नियंत्रण के इन साधनों के अनुसार आचरण करना लोग अपना नैतिक दायित्व मानते हैं।
7. **रूढ़िवादिता अथवा अपरिवर्तनशीलता**–अनौपचारिक नियंत्रण के अंतर्गत पाये जाने वाले सामाजिक नियम–प्रथा, रूढ़ि आदि अपनी प्रकृति से ही रूढ़िवादी होते हैं। ये समय की आवश्यकता के अनुसार शीघ्र परिवर्तित नहीं होते। ये मान्य व्यवहार के विपरीत आचरण की किसी भी रूप में स्वीकृति नहीं देते।

## *अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण के साधन एवं प्रविधियाँ*

अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण के साधनों में जनरीतियाँ, प्रथाएँ, रूढ़ियाँ, विश्वास, धर्म और नैतिकता आदि आते हैं। परिवार अनौपचारिक नियंत्रण का एक प्रमुख माध्यम है जो अपने सदस्यों के व्यवहारों को विभिन्न रूपों में नियंत्रित करता है।

अनौपचारिक नियंत्रण की प्रविधियों में प्रमुख सामाजिक सीख, सुझाव, पुरस्कार, सामाजिक दण्ड, भाषा, हास्य-व्यंग्य एवं कला, फैशन आदि हैं।

## 2.21 औपचारिक तथा अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण में अंतर (Distinction between Formal and Informal Social Control)

नोट

औपचारिक तथा अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण में हम अग्रलिखित अंतरों का उल्लेख कर सकते हैं:

1. औपचारिक सामाजिक नियंत्रण में दण्ड देने का कार्य राज्य अथवा सरकार द्वारा किया जाता है, जबकि अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण में दण्ड का स्रोत स्वयं समाज, समुदाय या समूह होता है।
2. औपचारिक सामाजिक नियंत्रण में नियमों के जानबूझकर बनाये जाने के कारण वे सुपरिभाषित व लिखित होते हैं जबकि अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण में नियम पूर्णरूप से लिखित नहीं होते अपितु सामाजिक अंत:क्रियाओं के दौरान अपने आप स्पष्ट होते हैं।
3. औपचारिक सामाजिक नियंत्रण में नियमों को न मानने पर राज्य या अन्य किसी प्रशासनिक संगठन द्वारा व्यक्ति को निश्चित दण्ड देने की व्यवस्था होती है अर्थात् व्यक्तियों के लिए नियमों का पालन करना अनिवार्य होता है, इसके विपरीत अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण में इस प्रकार दण्ड देने की कोई व्यवस्था नहीं होती है।
4. औपचारिक सामाजिक नियंत्रण मानव व्यवहार के बाह्य पक्ष को अधिक प्रभावित करता है। दूसरी ओर, अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण का विशेष संबंध व्यक्तित्व के आंतरिक पक्ष से होने के कारण इसे व्यक्ति स्वयं स्वीकार कर लेता है।
5. औपचारिक सामाजिक नियंत्रण आधुनिक विशाल एवं जटिल समाजों की विशेषता है क्योंकि ऐसे समाजों में व्यक्ति के अधिकांश व्यवहारों पर नियंत्रण औपचारिक सामाजिक नियंत्रण के साधनों जैसे, दण्ड, भय, उत्पीड़न व शक्ति प्रदर्शन द्वारा संभव है। इसके विपरीत, अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण का विशेष महत्त्व छोटे एवं सरल समाजों में अधिक होता है क्योंकि इन समाजों के सदस्य अधिकांशत: प्रथा, परंपरा, धार्मिक नियमों एवं रूढ़ियों द्वारा नियंत्रित एवं निर्देशित होते हैं।
6. औपचारिक सामाजिक नियंत्रण में परिवर्तनशीलता का गुण पाया जाता है अर्थात् इसमें आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों के बदलने पर परिवर्तन होता रहता है, जबकि अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण में परंपरागत व्यवहारों को बदलना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य होता है।
7. औपचारिक सामाजिक नियंत्रण सामाजिक मूल्यों के विपरीत भी हो सकता है जबकि अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण सदैव परंपरागत सामाजिक मूल्यों के अनुरूप ही होता है।
8. औपचारिक सामाजिक नियंत्रण से संबंधित व्यवहार संहिताओं (Codes) या नियमों को राज्य या अन्य प्रशासनिक संगठनों द्वारा बनाया जाता है। इसके विपरीत, अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण में इन नियमों को समाज द्वारा निर्मित किया जाता है।
9. औपचारिक सामाजिक नियंत्रण का स्वरूप पूर्ण निर्धारित योजनाबद्ध रूप में होता है जबकि अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण का विकास लंबी अवधि में धीरे-धीरे स्वत: होता है।
10. औपचारिक सामाजिक नियंत्रण के प्रभावशाली साधन कानून, न्यायालय व पुलिस हैं जिनके द्वारा नियमों का उल्लंघन करने पर व्यक्ति को निश्चित दण्ड देने की व्यवस्था की जाती है। दूसरी ओर, अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण के प्रभावशाली साधन परंपराएँ, धार्मिक नियम इत्यादि होते हैं जिनके द्वारा निश्चित दण्ड न देकर अधिक-से-अधिक व्यक्ति की सामाजिक निन्दा की जा सकती है अथवा जाति से निष्कासित किया जा सकता है।

सामाजिक नियंत्रण की प्रकृति एवं साधनों के आधार पर दोनों में कुछ मूलभूत भिन्नताओं के होते हुए भी दोनों एक-दूसरे के सहयोगी एवं पूरक हैं। आदिम व परंपरागत समाजों में भी किसी-न-किसी रूप में सरकार व कानून का अस्तित्व होता है। इसी प्रकार आधुनिक जटिल समाजों में व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित करने के लिए अनेक कानून बनाये गये हैं फिर भी इस वैज्ञानिक युग में आज भी धर्म, प्रथा, परंपरा आदि का अपना विशिष्ट महत्त्व है।

## 2.22 सारांश (Summary)

- साहित्यकारों के लिए संस्कृति जीवन का प्रकाश और कोमलता है। शाब्दिक अर्थ में, 'संस्कृति' शब्द 'संस्कार' का रूपांतरण है।
- **श्री टायलर** के अनुसार संस्कृति से हमारा तात्पर्य उस सब कुछ से होता है जिसे मानव अपने सामाजिक जीवन में सीखता है या समाज से पाता है। संस्कृति प्रकृति की देन नहीं, बल्कि समाज की देन है; यह समाज का मानव को श्रेष्ठतम वरदान है।
- प्रत्येक समाज की अपनी एक विशिष्ट संस्कृति होती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि प्रत्येक समाज की भौगोलिक तथा सामाजिक परिस्थितियाँ भी अलग-अलग होती हैं। संस्कृति पूर्णतया सामाजिक आविष्कार का परिणाम होती हैं।
- संस्कृति एक अखंड व्यवस्था नहीं है। संस्कृति के अंतर्गत अनेक खंड या इकाइयाँ होती हैं; परंतु ये सब आकस्मिक और अव्यवस्थित (random and haphazard) नहीं होतीं। संस्कृति के इन खंडों या इकाइयों में एक पारस्परिक संबंध तथा अंत:निर्भरता होती है जिसके कारण संस्कृति में एक प्रकार का संतुलन तथा संगठन पाया जाता है।
- अमरीकन समाजशास्त्री **ऑगबर्न** ने संस्कृति को भौतिक और अभौतिक दो भागों में बाँटा है। उनके इस वर्गीकरण को अन्य वैज्ञानिकों ने भी स्वीकार किया है।
- जन्म के समय मानव-शिशु में किसी भी मानवोचित गुण के दर्शन नहीं होते हैं, पर बाद में वह शिशु धीरे-धीरे अपने में कुछ मानवोचित गुणों, आदतों, व्यवहार के ढंग, सोचने-विचारने की विशेषता आदि को विकसित करता है। इसी प्रक्रिया को समाजीकरण कहते हैं।
- **डॉ. मुकर्जी** के मतानुसार, जिस प्रक्रिया के द्वारा प्राणिशास्त्रीय व्यक्ति के सामाजिक व्यक्तित्व का निर्माण और विकास होता है, उसे समाजीकरण कहते हैं।"
- समाजीकरण की प्रक्रिया एक जटिल प्रक्रिया है। जिसमें अनेक संस्थाओं का योगदान होता है। वास्तव में चूँकि समाजीकरण एक सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया है, इस कारण इसकी सफलता या विफलता किसी एक कारण या संस्था पर निर्भर नहीं होती, बल्कि एकाधिक संस्थाओं पर आधारित होती है।
- समाजीकरण की एक संस्था के रूप में परिवार का अत्यधिक महत्त्व है। इसीलिए परिवार के बिना सामाजिक प्राणी का जीवन या समाजीकरण की प्रक्रिया अधूरी ही है।
- समाजीकरण के साथ-साथ व्यक्ति में सामाजिक-सांस्कृतिक गुण प्रकट होते रहते हैं और इन्हीं गुणों के कारण उसके व्यक्तित्व को एक विशिष्ट रूप प्राप्त होता है।
- सामाजिक नियंत्रण की अवधारणा का समाजशास्त्रीय साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। सामाजिक संरचना में दृढ़ता एवं समन्वय रखने वाली शक्तियों के संदर्भ में जितना साहित्य रचा गया उसे 'सामाजिक नियंत्रण' शीर्षक के अंतर्गत रखा गया है।
- **पी. एच. लैण्डिस** के अनुसार, "सामाजिक नियंत्रण एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा सामाजिक व्यवस्था स्थापित की जाती है और बनाए रखी जाती है।"

## 2.23 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. समाजीकरण से आप क्या समझते हैं? समाजीकरण के प्रमुख साधनों या अभिकरणों की व्याख्या कीजिए।
2. समाजीकरण की संपूर्ण प्रक्रिया को समझाइए। व्यक्तित्व के विकास में समाजीकरण के महत्त्व को स्पष्ट कीजिए।
3. समाजीकरण क्या है? व्यक्ति के विकास में परिवार एवं स्कूल के महत्त्व की विवेचना कीजिए।
4. "समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।

## 2.24 संदर्भ पुस्तकें (Further readings)


- समाजशास्त्र के सिद्धांत–रामनाथ शर्मा एवं राजेंद्र कुमार शर्मा, एटलांटिक पब्लिशर्स।
- समाजशास्त्र के मूल तत्व–गिसबर्ट पैसकल, ओरिएंट लोंगमैन्स।
- समाजशास्त्र–सैफर, रिचर्ड टी. एवं रॉबर्ट पी. लैम, एलाइड पब्लिशर्स।
- सामाजशास्त्र–धर्मेन्द्र कुमार, टाटा मैकाग्रॉ हिल।

नोट

इकाई-3
(Unit-3)

# सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया : आधुनिकीकरण, लौकिकीकरण एवं वैश्वीकरण

# (Process of Social Change : Modernisation, Secularisation and Globalisation)

## रूपरेखा

3.1 उद्देश्य (Objectives)
3.2 प्रस्तावना (Introduction)
3.3 सामाजिक परिवर्तन (Social Change)
3.4 आधुनिकीकरण (Modernisation)
3.5 लौकिकीकरण (Secularisation)
3.6 लौकिकीकरण की विशेषताएँ (Characteristics of Secularisation)
3.7 लौकिकीकरण के आवश्यक तत्व (Essential Elements of Secularisation)
3.8 लौकिकीकरण के उद्देश्य (Objects of Secularisation)
3.9 वैश्वीकरण का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Globalisation)
3.10 वैश्वीकरण सिद्धांत (Globalisation Theory)
3.11 वैश्वीकरण के प्रभाव (Impact of Globalisation)
3.12 सारांश (Summary)
3.13 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
3.14 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

## 3.1 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- सामाजिक परिवर्तन या औद्योगीकरण को समझने में,
- आधुनिकीकरण को समझने में,
- लौकिकीकरण की अवधारणा की जानकारी प्राप्त करने में,
- वैश्वीकरण की अवधारणा को समझने में,
- विश्व अर्थव्यवस्था तथा समाज पर वैश्वीकरण के प्रभाव की जानकारी प्राप्त करने में।

## 3.2 प्रस्तावना (Introduction)

परिवर्तन प्रकृति का एक शाश्वत एवं अटल नियम है। मानव समाज भी उसी प्रकृति का अंग होने के कारण परिवर्तनशील है। समाज की इस परिवर्तनशील प्रकृति को स्वीकार करते हुए मैकाइवर लिखते हैं, "समाज परिवर्तनशील एवं गत्यात्मक है।" बहुत समय पूर्व ग्रीक विद्वान हेरेक्लिटिस ने भी कहा था, "सभी वस्तुएँ परिवर्तन के बहाव में हैं।" उसके बाद भी इस बात पर बहुत विचार किया जाता रहा है कि मानव की

क्रियाएँ क्यों और कैसे परिवर्तित होती हैं? समाज के वे क्या विशिष्ट स्वरूप हैं जो व्यवहार में परिवर्तन को प्रेरित करते हैं? समाज में आविष्कार परिवर्तन कैसे लाते हैं एवं आविष्कार करने वाले की शारीरिक विशेषताएँ क्या होती हैं? परिवर्तन को शीघ्र ग्रहण करने एवं ग्रहण न करने वालों की शरीर रचना में क्या भिन्नता होती है? क्या परिवर्तन किसी निश्चित दिशा में गुजरता है? यह दिशा रेखीय है या चक्रीय? परिवर्तन के संदर्भ में इस प्रकार के अनेक प्रश्न उठाये गये तथा उनका उत्तर देने का प्रयास किया गया। मानव में परिवर्तन को समझने के प्रति जिज्ञासा पैदा हुई। उसने परिवर्तनों के कारणों को ढूँढ़ने, उनकी दिशा का पता लगाने और परिवर्तनों पर नियन्त्रण पाने का प्रयास किया। परिवर्तन क्यों और कैसे होते हैं, ये प्रश्न आज भी पूरी तरह हल नहीं हो पाये हैं।

अंग्रेज कवि **लॉर्ड टेनिसन** का मत है कि 'प्राचीन क्रम में नये को स्थान देने के लिए परिवर्तन होता है।' **प्रो. ग्रीन** लिखते हैं, "सामाजिक परिवर्तन इसलिए होता है क्योंकि प्रत्येक समाज सन्तुलन के निरन्तर दौर से गुजर रहा है। कुछ व्यक्ति एक सम्पूर्ण संतुलन की इच्छा रख सकते हैं तथा कुछ इसके लिए प्रयास भी करते हैं।" सामाजिक परिवर्तन एक अवश्यम्भावी तथ्य है। इसकी निश्चितता को प्रकट करते हुए **प्रो. डेविस** कहते हैं, "हम स्थायित्व एवं सुरक्षा के लिए निरन्तर प्रयत्नशील हो सकते हैं, समाज के स्थायित्व का भ्रम चारों ओर फैलाया जा सकता है, निश्चयात्मक के प्रति खोज निरन्तर बनी रह सकती है। और विश्व के अन्य तत्व अनन्त हैं–इस विषय में हमारा विश्वास दृढ़ हो सकता है, लेकिन यह तथ्य सदैव विद्यमान रहने वाला है कि विश्व के अन्य तत्त्वों की तरह समाज अपरिहार्य रूप से और बिना किसी छूट के सदैव परिवर्तित होता रहता है।"

## 3.3 सामाजिक परिवर्तन (Social Change)

परिवर्तन का सामान्य तात्पर्य है–किसी क्रिया अथवा वस्तु की पहले की स्थिति में बदलाव आ जाना। परिवर्तन को स्पष्ट करते हुए **फिचर** लिखते हैं, "संक्षेप में, परिवर्तन पहले की अवस्था या अस्तित्व के प्रकार में अन्तर को कहते हैं। परिवर्तन का सम्बन्ध प्रमुख रूप से तीन बातों से है–(1) वस्तु, (2) समय एवं (3) भिन्नता।"

1. **वस्तु** (Object)–परिवर्तन का सम्बन्ध किसी-न-किसी विषय अथवा वस्तु से होता है। जब हम कहते हैं कि परिवर्तन आ रहा है तब हमें यह भी स्पष्ट करना होता है कि परिवर्तन किस वस्तु अथवा विषय में आ रहा है। बिना वस्तु को बताये हम परिवर्तन का अध्ययन नहीं कर सकते।
2. **समय** (Time)–परिवर्तन का समय से घनिष्ठ सम्बन्ध है। परिवर्तन को प्रकट करने के लिए हमारे पास कम-से-कम दो समय होने चाहिए। एक ही समय में परिवर्तन की चर्चा नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए, हम कह सकते हैं कि भारत में वैदिक-काल की तुलना में वर्तमान समय में बहुत कुछ बदल गया है। समय के संदर्भ में ही परिवर्तन ज्ञात होता है। समय की अवधारणा को सम्मिलित किये बिना कोई भी परिवर्तन के बारे में सोच भी नहीं सकता।
3. **भिन्नता** (Variation)–विभिन्न समयों में यदि वस्तु में भिन्नता नहीं आये तो परिवर्तन नहीं कहलायेगा। वस्तु के स्वरूप में यदि समय के साथ अन्तर न आये तो हम यही कहेंगे कि परिवर्तन नहीं हुआ है, अतः वस्तु के रंग-रूप, आकार-प्रकार, संरचना, कार्य अथवा अन्य पक्षों में भिन्नता प्रकट होने पर ही हम परिवर्तन का अध्ययन कर सकते हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि किसी वस्तु में दो समय में दिखायी देने वाली भिन्नता ही परिवर्तन है। परिवर्तन एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है जो सभी कालों एवं स्थानों में घटित होती रहती है। परिवर्तन के कारण किसी वस्तु के समस्त ढांचे में बदलाव आ सकता है। अथवा उसका कोई एक पक्ष ही बदल सकता है। परिवर्तन किसी भी दिशा में हो सकता है। परिवर्तन स्वतः आ सकता है अथवा जान-बूझकर योजनाबद्ध रूप से भी लाया जा सकता है। यह अच्छाई एवं बुराई की तरफ तथा तीव्र एवं मन्द किसी भी गति से हो सकता है।

## सामाजिक परिवर्तन का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Social Change)

सामान्यत: सामाजिक परिवर्तन का तात्पर्य समाज में होने वाले परिवर्तनों से है। प्रारम्भ में समाज-वैज्ञानिकों ने उद्विकास, प्रगति एवं सामाजिक परिवर्तनों में कोई भेद नहीं किया था और वे इन तीनों अवधारणाओं का प्रयोग एक ही अर्थ में करते थे। पहली बार सन् 1922 में ऑगबर्न ने अपनी पुस्तक 'Social Change' में इनमें पाये जाने वाले भेद को स्पष्ट किया। उनके बाद से समाजशास्त्रीय साहित्य में इन शब्दों का काफी प्रयोग हुआ है। कुछ विद्वानों ने सामाजिक ढांचे में होने वाले परिवर्तनों को सामाजिक परिवर्तन कहा है तो कुछ ने सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तनों को। सम्पूर्ण समाज अथवा उसके किसी भी पक्ष में होने वाले परिवर्तनों को हम सामाजिक परिवर्तन कहेंगे। सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा को स्पष्टत: समझने के लिए हम विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गयी कुछ परिभाषाओं का यहाँ उल्लेख करेंगे:

**मैकाइवर एवं पेज** के अनुसार, "समाजशास्त्री होने के नाते हमारी विशेष रुचि प्रत्यक्ष से सामाजिक सम्बन्धों में है। केवल इन सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तनों को ही हम सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।" इस प्रकार मैकाइवर और पेज सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या शुद्ध समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से करते हैं और सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तनों को सामाजिक परिवर्तन की संज्ञा देते हैं क्योंकि समाज का ताना-बाना सामाजिक सम्बन्धों से ही तो बुना हुआ है।

**किंग्सले डेविस** ने भी सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या पूर्णत: समाजशास्त्रीय ढंग से की है। वे लिखते हैं, "सामाजिक परिवर्तन से हम केवल उन्हीं परिवर्तनों को समझते हैं जो सामाजिक संगठन अर्थात् समाज के ढांचे और प्रकार्यों में घटित होते हैं।" समाज की विभिन्न इकाइयों जैसे, संस्थाएँ, समुदाय, समितियाँ, समूह एवं प्रस्थितियाँ, आदि मिलकर सामाजिक ढांचे का निर्माण करती हैं, इन इकाइयों के अलग-अलग प्रकार्य हैं। सामाजिक ढांचा और उसकी इकाइयों के प्रकार्यों से सामाजिक संगठन का निर्माण होता है। इस सामाजिक संगठन में होने वाले परिवर्तन अर्थात् सामाजिक ढांचे और प्रकार्य अथवा इन दोनों में से किसी एक में होने वाले परिवर्तन को ही प्रो. डेविस सामाजिक परिवर्तन मानते हैं।

**जेन्सन** सामाजिक परिवर्तन की विस्तृत व्याख्या करते हैं। वे इसके अन्तर्गत मानव के व्यवहार एवं विचारों में होने वाले परिवर्तनों को भी सम्मिलित करते है। उन्हीं के शब्दों में, "सामाजिक परिवर्तन को लोगों के कार्य करने तथा विचार करने के तरीकों में होने वाले रूपान्तर के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।"

**गिन्सबर्ग, जॉनसन, रेमण्ड फर्थ** आदि विद्वानों ने सामाजिक ढांचे में परिवर्तन को ही सामाजिक परिवर्तन कहा है। **गिन्सबर्ग** लिखते हैं, "सामाजिक परिवर्तन से मेरा तात्पर्य सामाजिक ढांचे में परिवर्तन से है। उदाहरण के रूप में, समाज के आकार, उसके विभिन्न अंगों की बनावट या सन्तुलन अथवा उसके संगठन के प्रकारों में होने वाले परिवर्तन से है।"

**जॉनसन** के अनुसार, "अपने मूल अर्थ में सामाजिक परिवर्तन का अर्थ सामाजिक ढांचे में परिवर्तन है।" जॉनसन ने सामाजिक परिवर्तन को और अधिक स्पष्ट करते हुए सामाजिक मूल्यों, संस्थाओं और पुरस्कारों, व्यक्तियों तथा उनकी अभिवृत्तियों एवं योग्यताओं में होने वाले परिवर्तन को भी सामाजिक परिवर्तन कहा है।

**बोटोमोर** सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्गत उन परिवर्तनों को भी सम्मिलित करते हैं जो सामाजिक संरचना, सामाजिक संस्थाओं अथवा उनके पारस्परिक सम्बन्धों में घटित होते हैं।

**गिलिन एवं गिलिन** का मत है कि लोग जीवन जीने के लिए कुछ रीतियाँ अथवा विधियाँ अपनाते हैं जो समाज द्वारा मान्य होती हैं। यदि इन विधियों में परिवर्तन आता है तो उसे सामाजिक परिवर्तन कहा जायेगा। गिलिन ने उन कारकों का भी उल्लेख किया है जो सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं। उन्होंने सामाजिक परिवर्तन की अपनी परिभाषा सांस्कृतिक आधार पर की है। उन्हीं के शब्दों में, "सामाजिक परिवर्तन जीवन की स्वीकृत विधियों में होने वाले परिवर्तन को कहते हैं, चाहे ये परिवर्तन भौगोलिक दशाओं के परिवर्तन से हुए हों या सांस्कृतिक साधनों, जनसंख्या की रचना या विचारधारा के परिवर्तन से या प्रसार से अथवा समूह के भीतर ही आविष्कारों के फलस्वरूप हुए हों।"

**जोन्स** ने सामाजिक परिवर्तन और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है, "सामाजिक परिवर्तन वह शब्द है जो सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिमानों सामाजिक अन्त:क्रियाओं अथवा सामाजिक संगठन के किसी भाग में घटित होने वाले हेर फेर या संशोधन के लिए प्रयुक्त किया जाता है।"

**मैरिल** तथा **एल्ड्रिज** का मत है कि मानव क्रियाओं (Human Actions) में होने वाले परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन हैं। मानवीय क्रियाएँ सदैव एक जैसी नहीं रहती हैं। हमारी क्रियाएँ हमारे पूर्वजों की क्रियाओं से भिन्न हैं, यही नहीं बल्कि बचपन, युवा अवस्था एवं वृद्धावस्था की क्रियाओं में भी भिन्नता पायी जाती है। वे लिखते हैं, "जब मानव व्यवहार बदलाव की प्रक्रिया मे होता है तब हम उसी को दूसरे रूप में इस प्रकार कहते हैं कि सामाजिक परिवर्तन हो रहा है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं में स्पष्ट है कि सामाजिक परिवर्तन उन परिवर्तनों को कहते हैं जो मानवीय सम्बन्धों, व्यवहारों, संस्थाओं, प्रथाओं, प्रस्थितियों, कार्यविधियों, मूल्यों, सामाजिक संरचनाओं एवं प्रकार्यों में होते हैं। **सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्गत निम्नांकित तथ्यों को सम्मिलित किया जाता है:**

(*i*) सामाजिक ढांचे एवं प्रकार्य में होने वाले परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।

(*ii*) सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियों के व्यवहारों, विश्वासों एवं मूल्यों में परिवर्न से न होकर समाज के सभी अथवा अधिकांश लोगों की जीवन-विधि में परिवर्तन से है।

(*iii*) सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध मानव के सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन से है।

### *सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएँ (Characteristics of Social Change)*

1. **सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति सामाजिक होती है**—इसका अर्थ यह है कि सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध किसी व्यक्ति के विशेष संस्था, जाति एवं प्रजाति तथा समिति में होने वाले परिवर्तन से नहीं है। इस प्रकार का परिवर्तन तो व्यक्तिवादी प्रकृति का होता है जबकि सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध सम्पूर्ण समुदाय एवं समाज में होने वाले परिवर्तनों से है। इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति सामाजिक है न कि वैयक्तिक। समाज की किसी एक इकाई में होने वाले परिवर्तनों को सामाजिक परिवर्तन नहीं कहा जा सकता।

2. **सामाजिक परिवर्तन एक सार्वभौमिक घटना है**—इसका तात्पर्य यह है कि सामाजिक परिवर्तन एक सर्वव्यापी घटना है, यह भी समाजों एवं सभी कालों में होता रहता है। मानव समाज के उत्पत्ति काल से लेकर आज तक इसमें अनेक परिवर्तन हुए हैं और आगे भी होते रहेंगे। मानव इतिहास में कोई भी ऐसा समाज नहीं रहा जो परिवर्तन के दौर से गुजरा न हो और पूर्णत: स्थिर व स्थायी हो। कोई भी समाज परिवर्तन का अपवाद नहीं है। यह अवश्य सम्भव है कि विभिन्न कालों एवं समाजों में परिवर्तन की प्रकृति, गति एवं स्वरूप में अन्तर हो। परिवर्तन की सार्वभौमिकता को प्रकट करते हुए **बीरस्टीड** कहते हैं, "कोई भी दो समाज पूर्णत: समान नहीं हैं। उनके इतिहास और संस्कृति में इतनी भिन्नता पायी जाती है कि किसी को भी दूसरे का प्रतिरूप (replica) नहीं कह सकते।" कुछ आदिम समाजों में परिवर्तन की गति इतनी धीमी रही है कि कई विद्वान तो यह तक कहने की भूल कर बैठे कि उनमें परिवर्तन नहीं होता है। पश्चिमी देशों के लोग पूर्व के देशों को परिवर्तनशील समाज की संज्ञा देते हैं, किन्तु यह उनका भ्रम है। परिवर्तन तो एक शाश्वत नियम है जिससे कोई समाज अछूता नहीं रहा है।

3. **सामाजिक परिवर्तन अवश्यम्भावी एवं स्वाभाविक है**—प्रत्येक समाज में हमें अनिवार्य रूप से परिवर्तन दिखायी देता है और यह एक स्वाभाविक घटना है। परिवर्तन प्रकृति का नियम है और समाज भी प्रकृति का एक अंग होने के कारण परिवर्तन से कैसे बच सकता है। कई बार हम परिवर्तन का विरोध करते हैं, परिवर्तन के प्रति अनिच्छा प्रकट करते हैं, फिर भी

नोट

परिवर्तन को रोक नहीं सकते। कभी ये परिवर्तन जान-बूझकर नियोजित रूप में लाये जाते हैं तो कभी स्वत: ही उत्पन्न होते हैं। मानव की आवश्यकताओं, इच्छाओं एवं परिस्थितियों में परिवर्तन होने पर समाज में भी परिवर्तन होता है। मानव बदली हुई स्थिति में अनुकूलन करने के लिए कभी-कभी तो परिवर्तन का इन्तजार तक करता है।

4. **सामाजिक परिवर्तन की गति असमान तथा तुलनात्मक**–यद्यपि सामाजिक परिवर्तन सभी समाजों में पाया जाता है फिर भी सभी समाजों मे इसकी गति असमान होती है। आदिम एवं पूर्वी देशों के समाजों की तुलना में आधुनिक एवं पश्चिमी समाजों में परिवर्तन तीव्र गति से होता है। यही नहीं, बल्कि एक ही समाज के विभिन्न अंगों में भी परिवर्तन की गति में असमानता पायी जाती है। भारत में ग्रामीण समाजों की तुलना में नगरों में परिवर्तन शीघ्र आते हैं। परिवर्तन की असमान गति होने का कारण यह है कि प्रत्येक समाज में परिवर्तन लाने वाले कारक अन्य समाजों में परिवर्तन उत्पन्न करने वाले कारकों से भिन्न होते हैं। हम सामाजिक परिवर्तन की गति का अनुमान विभिन्न समाजों की परस्पर तुलना करके ही लगा सकते हैं। परिवर्तन का देश, काल एवं परिस्थितियों से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक की तुलना में दूसरे देश में, एक समय की तुलना में दूसरे समय में तथा एक परिस्थिति की तुलना में दूसरी परिस्थितियों में परिवर्तन की गति भिन्न होती है। भारत में वैदिक काल, अंग्रेजों के काल एवं आधुनिक काल में परिवर्तन समान गति से नहीं हुए हैं क्योंकि इन युगों की परिस्थितियों एवं परिवर्तनों के कारणों में बहुत अन्तर पाया जाता है।

5. **सामाजिक परिवर्तन एक जटिल तथ्य है**–चूँकि सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध गुणात्मक परिवर्तनों से है, जिनकी माप-तौल सम्भव नहीं है, अत: यह एक जटिल तथ्य है। हम किसी भौतिक वस्तु अथवा भौतिक संस्कृति में होने वाले परिवर्तनों को मीटर, गज या किलोग्राम की भाषा में माप नहीं सकते। अत: सरलता में ऐसे परिवर्तन का रूप भी समझ नहीं आता। सामाजिक परिवर्तन में वृद्धि के साथ-साथ उसकी जटिलता में भी वृद्धि होती जाती है।

6. **सामाजिक परिवर्तन की भविष्यवाणी नहीं की जा सकती**–सामाजिक परिवर्तन के बारे में निश्चित रूप से पूर्वानुमान लगाना कठिन है। अत: उसके बारे में भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। यह कहना कठिन है कि औद्योगिक एवं नगरीकरण के कारण भारत में जाति-प्रथा, संयुक्त परिवार प्रणाली एवं विवाह में कौन-कौन से परिवर्तन आयेंगे। यह बताना भी कठिन है कि आगे चलकर लोगों के विचारों, विश्वासों, मूल्यों आदर्शों आदि में किस प्रकार के परिवर्तन आयेंगे। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हम सामाजिक परिवर्तन के बारे में बिल्कुल ही अनुमान नहीं लगा सकते अथवा सामाजिक परिवर्तन का कोई नियम ही नहीं है। इसका सिर्फ यही अर्थ है कि कई बार आकस्मिक कारणों से भी परिवर्तन होते हैं जिनके बारे में सोचा भी नहीं जा सकता। उदाहरणार्थ, हम जानते हैं कि औद्योगीकरण एवं नगरीकरण भविष्य में जाति-प्रथा एवं संयुक्त परिवार को विघटित कर देंगे, अपराधों में वृद्धि होगी तथा शिक्षा एवं नवीन कानूनों के प्रभाव के कारण भारत में अस्पृश्यता कम और धीरे-धीरे समाप्त हो जायेगी। फिर भी किस प्रकार के परिवर्तन आयेंगे और उनका स्वरूप क्या होगा–इसके बारे में निश्चितता से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

**विलबर्ट मूर ने आधुनिक** समाजों में सामाजिक परिवर्तन की निम्नांकित विशेषताओं का उल्लेख किया है:

1. सामाजिक परिवर्तन एक अपवाद नहीं वरन् अनिवार्य नियम है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्गत सामाजिक संरचना के सभी तत्व पूर्ण रूप से बदल जाते हैं अपितु इसका अर्थ यह है कि सामाजिक संरचना के किसी-न-किसी अंग में परिवर्तन अवश्य होता है। सामाजिक पुनर्निर्माण की अवधि में इसकी गति सबसे अधिक रहती है।
2. पहले के समाजों की तुलना में आधुनिक समाजों में परिवर्तन होते हैं और उन परिवर्तनों को आज हम अधिक स्पष्ट रूप में देख भी सकते हैं।

3. यद्यपि परिवर्तन का फैलाव सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में देखा जा सकता है, फिर भी विचारों और संस्थाओं में परिवर्तन की जो गति है, उससे कहीं तेज गति भौतिक वस्तुओं के क्षेत्र में देखने को मिलती है।
4. स्वाभाविक ढंग से एवं सामान्य गति से जो परिवर्तन होते हैं, उनका प्रभाव हमारे विचारों तथा सामाजिक संरचना पर अधिक पड़ता है।
5. सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध में अनुमान लगाया जा सकता है, किन्तु उसके बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।
6. सामाजिक परिवर्तन गुणात्मक होता है अर्थात् सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्गत एक स्थिति दूसरी स्थिति को परिवर्तित करती है और यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक इसके अच्छे या बुरे प्रभावों से सम्पूर्ण समाज परिचित नहीं हो जाता।
7. आधुनिक समाजों में सामाजिक परिवर्तन न तो मनमाने ढंग से किया जाता है और न ही उसे प्राकृतिक नियमों पर स्वतन्त्र व असंगठित छोड़ दिया जाता है। साधारणतः प्रत्येक समाज में सामाजिक नियोजन के द्वारा इसे नियन्त्रित कर इच्छित उद्देश्यों की पूर्ति की दिशा में क्रियाशील बनाया जाता है।

### *सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न प्रतिमान (Patterns of Social Change)*

सामाजिक परिवर्तन निरन्तर पूर्व कथन करने में इतना कठिन और अनेक मुखी है कि यदि हम इसे ठीक से समझना चाहते हैं तो हमें उसकी व्यवस्था का पता लगाना होगा। विभिन्न क्षेत्रों में एक विशिष्ट ढंग का परिवर्तन देखने को मिलता है। **मैकाइवर** तथा **पेज** ने इस दृष्टि से सामाजिक परिवर्तन के तीन प्रमुख प्रतिमानों का उल्लेख किया है:

**प्रथम प्रतिमान**—परिवर्तन का एक प्रतिमान यह है कि कई बार परिवर्तन यकायक हमारे सामने प्रकट होते हैं। इस श्रेणी में हम आविष्कारों से उत्पन्न परिवर्तनों को रख सकते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन एक बार उत्पन्न होते हैं, फिर वे आगे और भी परितर्वन उत्पन्न करते रहते हैं क्योंकि इन आविष्कारों में समय-समय पर कई लोगों द्वारा सुधार किये जाते हैं। रेडियो, टेलीफोन, वायुयान और मोटर आदि के आविष्कारों के कारण उत्पन्न परिवर्तन केवल आकस्मिक नहीं वरन गुणात्मक रूप से अनेक परिवर्तनों को जन्म देने वाले भी हैं। ये परिवर्तन तब तक होते रहते हैं जब तक कि किसी अच्छे एवं नवीन उपकरण का आविष्कार नहीं हो जाता। इस प्रकार के परिवर्तन को रेखीय परिवर्तन (Linear change) कहते हैं क्योंकि ऐसे परिवर्तन की दिशा एक सीधी रेखा के रूप में होती है। प्रौद्योगिकी में परिवर्तन इसी प्रकार के परिवर्तन का स्पष्ट उदाहरण है। यही बात ज्ञान एवं विज्ञान के क्षेत्र में होने वाले परिवर्तनों के लिए भी सही है। इस प्रकार के परिवर्तन को यदि हम एक रेखा चित्र द्वारा प्रकट करें तो इसकी प्रकृति सदैव एक दिशा में ऊपर जाती हुई प्रकट होती है।

**द्वितीय प्रतिमान**—परिवर्तन का दूसरा प्रतिमान वह है जिसमें कुछ समय तक तो परिवर्तन ऊपर की ओर अथवा प्रगति की ओर होता है, किन्तु थोड़े समय बाद वह पुनः ह्रास की ओर अथवा नीचे की ओर हो सकता है। अन्य शब्दों में, परिवर्तन का दूसरा प्रतिमान वह है जिसमें परिवर्तन पहले ऊपर की ओर होता है और फिर नीचे की ओर। इसे हम उतार-चढ़ाव वाला अथवा तरंगीय (wave-like) परिवर्तन कह सकते हैं। इस प्रकार के परितर्वन के कई उदाहरण दिये जा सकते हैं, जैसे, जनसंख्या सम्बन्धी परिवर्तन एवं आर्थिक क्रियाओं में होने वाले परिवर्तन। हम देखते हैं कि राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उन्नत और अवनत होते रहते हैं। व्यापारिक क्रियाएँ अन्ततः विकसित और अवनत होती रहती हैं। इस प्रकार प्रथम प्रकार के परिवर्तन में जहाँ इस बात की निश्चितता होती है कि परिवर्तन की दिशा एक होगी, वहीं दूसरे प्रकार के परिवर्तन में इस प्रकार की निश्चितता नहीं होती। सोरोकिन की मान्यता है कि सामाजिक परिवर्तन संस्कृति में उतार-चढ़ाव आने के कारण होता है।

**तृतीय प्रतिमान**—दूसरे प्रकार के परिवर्तन के कुछ समान ही तृतीय प्रकार का परिवर्तन है। इस प्रकार के परिवर्तन को हम **चक्रीय परिवर्तन** (cycle change) कह सकते हैं। कई विद्वान की यह मान्यता है कि

परिवर्तन का एक चक्र चलता है। इसे स्पष्ट करने के लिए वे प्रकृति से उदाहरण देते हैं। ऋतु चक्र में हम देखते हैं कि सर्दी, गर्मी एवं वर्षा का एक चक्रीय क्रम पाया जाता है। मनुष्य में भी जन्म, बाल्यावस्था, यौवन एवं मृत्यु का चक्र देखने को मिलता है। कई विद्वानों की मान्यता है कि समाज एवं सभ्यताएँ भी इसी प्रतिमान का अनुगमन करती है। मानव क्रियाओं, व्यवहारों, राजनीतिक आन्दोलनों एवं जनसंख्या के सुविस्तृत परिवर्तनों में भी यही प्रतिमान देखने को मिलता है। फैशन, सांस्कृतिक आन्दोलन, अलंकरण, सज्जा, सामाजिक मूल्य, लोकाचार, नियन्त्रण एवं स्वतन्त्रता, आदि के क्षेत्र में भी परिवर्तन का यही प्रतिमान पाया जाता है। हम फैशन, प्रथा व लोकाचार को अपनाते हैं, कभी उसे छोड़ देते हैं तो कभी फिर अपना लेते हैं। कभी कठोर नियन्त्रण पर जोर देते हैं, फिर स्वतन्त्रता पर, तो फिर नियन्त्रण पर। इस प्रकार समाज में परिवर्तन एक चक्र की तरह घटित होते रहते हैं, किन्तु आज कई विद्वान चक्रीय परिवर्तन की बात को स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि चक्रीय का तात्पर्य यह है कि हम जहाँ से प्रारम्भ होते हैं, घूम-फिरकर पुनः वहीं लौट आते हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि पुनः हम उसी स्थिति में कभी नहीं लौटते, उसमें संशोधन अवश्य हो जाता है। सामाजिक परिवर्तन के इन प्रतिमानों को हम पिछले पृष्ठ पर दिये गये चित्र द्वारा प्रकट कर सकते हैं।

### *सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ अथवा ढंग (Processes or Modes of Social Change)*

सामाजिक परिवर्तन एक तटस्थ शब्द है जो समाज में आने वाले बदलाव को विभिन्न कालों के संदर्भ में सूचित करता है। जब हम कहते हैं कि समाज में परिवर्तन हो रहा है तो इससे परिवर्तन की दिशा, नियम, सिद्धान्त या निरन्तरता प्रकट नहीं होती। मैकाइवर एवं पेज, हरबर्ट स्पेन्सर, हॉबहाउस एवं सोरोकिन आदि ने सामाजिक परिवर्तन की विभिन्न प्रक्रियाओं एवं ढंगों का उल्लेख किया है और विभिन्न समाजशास्त्रीय अवधारणाओं को जन्म दिया है। इन अवधारणाओं में प्रक्रिया (Process), आन्दोलन (Movement), वृद्धि (Growth), उद्विकास (Evolution), विकास (Development), अवनति (Regress), प्रगति (Progress), क्रान्ति (Revolution), अनुकूलन (Adaptation), आदि प्रमुख हैं। इनका उल्लेख 'सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ, ढंग एवं कारक' में किया गया है।

### *सामाजिक परिवर्तन एवं सांस्कृतिक परिवर्तन (Social Change and Cultural Change)*

सामाजिक परितर्वन की अवधारणा को स्पष्टतः समझने के लिए इसका सांस्कृतिक परिवर्तन से अन्तर समझना आवश्यक है। अनेक विद्वानों ने सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में कोई भेद नहीं किया है, वे इन्हें समान अर्थों में ही प्रयुक्त करते हैं, इसलिए ही इन दोनों अवधारणाओं में भ्रम पैदा हो जाता है, जबकि वास्तव में ये दोनों दो पृथक्-पृथक् अवधारणाएँ हैं। चूँकि 'समाज' और 'संस्कृति' दो भिन्न अवधारणाएँ हैं, अतः सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में भी अन्तर है।

### *भ्रान्ति के कारण (Causes of Confusion)*

सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में स्पष्ट अन्तर होते हुए भी इन्हें एक ही समझने का भ्रम इसलिए पैदा हो जाता है क्योंकि कई विद्वानों ने अपनी सामाजिक परिवर्तन की परिभाषा इतनी विस्तृत रूप में की है कि उन्होंने उसमें सांस्कृतिक परिवर्तन की अवधारणा को भी सम्मिलित कर लिया है। इन विद्वानों में मैरिल व एल्ड्रज, गिलिन व गिलिन तथा डासन व गेटिस आदि प्रमुख हैं। हम इन परिभाषाओं का उल्लेख कर इस तथ्य को स्पष्ट करेंगे:

1. **मैरिल तथा एल्ड्रिज की परिभाषा**–मैरिल एवं एल्ड्रिज ने अपनी परिभाषा में मानवीय क्रियाओं और व्यवहारों में परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहा है, जबकि मानव की क्रियाएँ एवं व्यवहार संस्कृति का एक भाग है। अतः यह परिभाषा सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन के भेद को स्पष्ट करने के बजाय उसे उलझा देती है।
2. **गिलिन एवं गिलिन की परिभाषा**–गिलिन एवं गिलिन ने जीवन के स्वीकृत तौर तरीकों में परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहा है। सामाजिक व सांस्कृतिक परिवर्तन में भ्रम इसलिए

पैदा होता है कि हर्सकोविट्स तथा मैलिनोवस्की जैसे मानवशास्त्रियों ने 'जीवन पद्धतियों एवं मानव क्रियाओं' को संस्कृति माना है। मजूमदार एवं मदान ने भी लोगों के जीने के ढंग को ही संस्कृति कहा है। (Mode of life of a people is their culture)। अत: हमारे सामने यह समस्या है कि 'जीवन पद्धतियों एवं मानव क्रियाओं में परिवर्तन' को सामाजिक परितर्वन कहें या सांस्कृतिक परिवर्तन।



3. **डासन एवं गेटिस की परिभाषा**–डासन एवं गेटिस ने भी सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में कोई भेद नहीं किया है। वे लिखते हैं, "सांस्कृतिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन ही है क्योंकि समस्त संस्कृति अपनी उत्पत्ति, अर्थ एवं प्रयोग में सामाजिक होती है।" इस परिभाषा के दो अर्थ हो सकते हैं।

   (*i*) सांस्कृतिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन का ही एक अंग है और उसका पृथक् से कोई अस्तित्व नहीं है:

   (*ii*) सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन समानार्थक एवं पर्यायवाची है, अत: इन दोनों में कोई अंतर नहीं है और एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग किया जा सकता है। ये दोनों ही अर्थ त्रुटिपूर्ण हैं।

   लेकिन सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में पर्याप्त अन्तर है। समाज में होने वाले परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहते हैं जबकि संस्कृति में होने वाले परिवर्तन को सांस्कृतिक परिवर्तन। इन दोनों के अन्तर को समझने के लिए हमें समाज एवं संस्कृति के बीच पाये जाने वाले अन्तर को समझना होगा। समाज का निर्माण सामाजिक सम्बन्धों से होता है जिनका निर्धारण व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति एवं भूमिका द्वारा होता है। संस्कृति की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए ऑगबर्न कहते हैं कि संस्कृति का निर्माण मानव निर्मित भौतिक एवं अभौतिक वस्तुओं एव तथ्यों से होता है। इस प्रकार संस्कृति के भौतिक एवं अभौतिक दो पक्ष हैं। भौतिक संस्कृति में वे सारी वस्तुएँ आती हैं। जो मूर्त हैं, जिनका आकार-प्रकार होता है, जिन्हें हम देख और छू सकते हैं। घड़ी, पेन, रेडियो, मोटर, रेल, मशीनें, पुस्तक, टेबल, बर्तन, आदि हजारों वस्तुएँ हैं जिनका निर्माण मानव ने किया है।

   अभौतिक संस्कृति वह है जिसे हम न देख सकते हैं और न छू सकते हैं और न ही माप-तौल सकते हैं, वरन् महसूस मात्र कर सकते हैं, जैसे, कला, ज्ञान, विज्ञान, धर्म, दर्शन, प्रथाएँ, जनरीतियाँ, लोकाचार, कानून आदि ये सभी अभौतिक संस्कृति के भाग हैं। सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध संस्कृति के अभौतिक पक्ष से है जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन का सम्बन्ध संस्कृति के भौतिक एवं अभौतिक दोनों पक्षों से है। इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तन का एक अंग है तथा सांस्कृतिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन से अधिक व्यापक है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन को हम एक उदाहरण द्वारा प्रकट कर सकते हैं। औद्योगीकरण एवं यातायात के नवीन साधनों के प्रभाव के कारण भारत में संयुक्त परिवार विघटित हो रहे हैं, उनके स्थान पर छोटे-छोटे परिवार बन रहे हैं, स्त्रियों की सामाजिक प्रस्थिति ऊँची उठी है, प्राचीन जाति-प्रथा के नियमों एवं छुआछुत में शिथिलता आयी है, श्रम संगठनों के कारण मालिक व मजदूरों के सम्बन्धों में परिवर्तन हुआ है। ये सभी सामाजिक परिवर्तन हैं। दूसरी ओर सांस्कृतिक परिवर्तनों का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। यातायात के लिए बैलगाड़ी के स्थान पर रेल, वायुयान और जहाज का प्रयोग, मकान की नयी डिजाइन, कपड़े का नया फैशन, केश-विन्यास के नये रूप, गृह-सज्जा के नये तरीके, हथकरघों के स्थान पर मशीनों द्वारा कपड़े का उत्पादन, हिप्पीवाद का उदय, श्रम-कल्याण के कानूनों का निर्माण, सड़क के नियम आदि सभी सांस्कृतिक परिवर्तन के उदाहरण हैं।

   सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन के बीच पाये जाने वाले भेद कई विद्वानों द्वारा स्पष्ट किये गया हैं। इस सन्दर्भ में डेविस लिखते हैं, सामाजिक परिवर्तन से हमारा अभिप्राय केवल उन परिवर्तनों से है जो सामाजिक संगठन में होते हैं अर्थात् समाज की संरचना एवं समाज के

कार्यों में होने वाले परिवर्तन से है। सांस्कृतिक परिवर्तन में वे सब परिवर्तन शामिल होते हैं जो संस्कृति की किसी शाखा में होते हैं, जैसे कला, विज्ञान, साहित्य, दर्शन, फैशन, कानून आदि में तथा सामाजिक संगठन के रूपों और नियमों में होने वाले परिवर्तन। इस प्रकार सांस्कृतिक परिवर्तन की परिधि सामाजिक परिवर्तन की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत होती है। पारसन्स ने सामाजिक व सांस्कृतिक परिवर्तन के भेद को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि सांस्कृतिक परिवर्तन का सम्बन्ध केवल विभिन्न मूल्यों, विचारों और प्रतीकात्मक अर्थपूर्ण व्यवस्थाओं में परिवर्तन से है जबकि सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध व्यक्ति और समाज के बीच होने वाली अन्त: क्रियाओं के परिवर्तन से है। इसमें भेद स्पष्ट करते हुए मैकाइवर एवं पेज लिखते हैं, "सामाजिक परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तन से भिन्न है...एक समाजशास्त्री होने के नाते हमारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धों से ही है। केवल सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तनों को ही सामाजिक परिवर्तन कहेंगे। विचारधारा, शासन पद्धति, प्रौद्योगिकी आदि में परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तन है। कला, धर्म, साहित्य, केश-विन्यास, कपड़े का फैशन, फर्नीचर एवं मकान की डिजाइनों में परिवर्तन, का नया मॉडल आदि सभी सांस्कृतिक परिवर्तन के उदाहरण हैं। सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक ढांचे एवं प्रकार्यों में होने वाला परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन है। सांस्कृतिक परिवर्तन विशेष रूप से भौतिक संस्कृति में परिवर्तन की गति, सामाजिक परिवर्तन की अपेक्षा तीव्र होती है; जैसे--टेबल, कुर्सी, वस्त्रों की डिजाइन आदि में मानव के विचारों, प्रथाओं, मूल्यों एवं आदर्शों की तुलना में शीघ्र परिवर्तन आते हैं। सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन के बीच पाये जाने वाले इस अन्तर का अर्थ यह नहीं लिया जाना चाहिए कि दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं है, वरन् वास्तविकता यह है कि दोनों ही एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। संस्कृति में परिवर्तन होने पर सामाजिक परिवर्तन भी होते हैं। उदाहरणार्थ, औद्योगीकरण के कारण जाति-प्रथा एवं संयुक्त परिवार प्रथा में परिवर्तन आया है। इसी प्रकार सामाजिक परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तन को भी जन्म देते हैं।" सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन के बीच पाये जाने वाले अन्तर को हम इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं:

1. सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तनों से है, जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन का संबंध संस्कृति के भौतिक एवं अभौतिक पक्षों में होने वाले परिवर्तनों से।
2. सामाजिक परिवर्तन की अपेक्षा सांस्कृतिक परिवर्तन की परिधि कहीं अधिक विस्तृत है।
3. सामाजिक परिवर्तन की अपेक्षा सांस्कृतिक कारणों तथा जान-बूझकर किये गये प्रयत्नों-दोनों के कारण उत्पन्न हो सकते हैं, जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन नियोजित एवं सचेत प्रयत्नों के कारण उत्पन्न होते हैं।
4. सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में सम्बन्ध अंग और सम्पूर्णता का है। सामाजिक परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तन का ही एक अंग है।
5. सामाजिक परिवर्तन के कारण सामाजिक ढांचे में परिवर्तन आता है, जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन में संस्कृति के विभिन्न पक्षों में।
6. सामाजिक परिवर्तन की गति सांस्कृतिक परिवर्तन की अपेक्षा कुछ तेज होती है क्योंकि नये आविष्कारों के कारण सामाजिक सम्बन्धों, समाज-व्यवस्था एवं सामाजिक ढांचे में परिवर्तन शीघ्र उत्पन्न हो जाते हैं, जबकि संस्कृति के विभिन्न अंगों और विशेष रूप से अभौतिक संस्कृति जैसे, धर्म, नैतिकता, प्रथाओं, मूल्यों एवं विश्वासों में परिवर्तन धीमी गति से आते हैं।
7. सामाजिक परिवर्तन के फलस्वरूप सांस्कृतिक परिवर्तन आवश्यक रूप से उत्पन्न होता है, परन्तु सांस्कृतिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप सामाजिक परिवर्तन का उत्पन्न होना अनिवार्य नहीं है, यद्यपि ऐसा हो सकता है। स्पष्ट है कि सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन दोनों ही भिन्न प्रकार के परिवर्तन हैं फिर भी इन दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध हैं और दोनों ही प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं।

### यथार्थ और मूल्य के रूप में निरन्तरता और परिवर्तन (Continuity and Change in the form of Reality and Value)

निरन्तरता और परिवर्तन सामान्यत: प्रत्येक समाज की वास्तविकता है। किसी भी समाज या सामाजिक संरचना को हम स्थिर रूप में नहीं देख सकते क्योंकि स्थिरता तो जड़ता की सूचक है और परिवर्तन प्रगति या विकास का सूचक है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि परिवर्तन के परिणाम सदैव लाभप्रद ही होते हों, हानिप्रद परिणाम भी कभी-कभी सामने आते हैं। किसी भी समाज के इतिहास को यदि हम लम्बे काल-क्रम की दृष्टि से उठाकर देखें तो पाएंगे कि उसमें एक निरन्तरता पाई जाती है। उदाहरण के रूप में हम भारतीय समाज और संस्कृति को ले सकते हैं। यहाँ किसी समय वर्णाश्रम व्यवस्था पाई जाती थी। यहाँ धार्मिक दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि यहाँ वेदों, उपनिषदों, पुराणों, रामायण, महाभारत, गीता और अनेक अन्य धर्म-ग्रन्थों का महत्त्व पाया जाता है। इन्होंने धार्मिक परम्पराओं की निरन्तरता को बनाए रखने में योग दिया। आज भी ये ग्रंथ लाखों-करोड़ों भारतीयों के जीवन को प्रभावित करते हैं और किसी न किसी रूप में समाज को व्यवस्थित बनाए रखने एवं सामाजिक नियन्त्रण को स्थापित करने में योग देते हैं। जाति-व्यवस्था ने भी सदियों से समाज में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है और यही बात संयुक्त परिवार के सम्बन्ध में सही है। यद्यपि भारत एक विभिन्नता युक्त समाज है, लेकिन उसके बावजूद भी यहाँ एकरूपता के दर्शन होते हैं। भारतीय संस्कृति की यह प्रमुख विशेषता है कि यहाँ धार्मिक सहिष्णुता पाई जाती है। अलग-अलग मत-मतान्तरों को यहाँ सहन किया जाता है। हम कह सकते हैं कि निरन्तरता यहाँ यथार्थ रूप में दिखाई पड़ती है। एक मूल्य के रूप में भी इसका महत्त्व बराबर बना हुआ है। यही बात सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से भी सही है। परिवर्तन सृष्टि का सामान्य नियम है जिसको कोई रोक नहीं सकता और इसके अभाव में प्रगति व विकास की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

यदि भारतीय समाज व्यवस्था पर हम ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें तो यह स्पष्टत: ज्ञात होगा कि यहाँ के सामाजिक विचारकों, चिन्तकों और मनीषियों ने निरन्तर और परिवर्तन दोनों की वास्तविकता को स्वीकार किया। काल और देश के अनुसार परिस्थितियाँ बदलती हैं और उन परिस्थितियों के बदलने पर समाज-व्यवस्था के विभिन्न घटकों में परिवर्तन लाना आवश्यक होता है। यदि ये परिवर्तन समय पर नहीं लाए जाते तो समाज के लोगों की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति करना सम्भव नहीं होता। यहाँ हमें इस बात को भी ध्यान में रखना है कि प्रत्येक समाज-व्यवस्था या सामाजिक संरचना अपने आप में स्थायित्व की भी कुछ प्रवृत्ति लेकर चलती है। यदि किसी भी रूप में स्थायित्व नहीं होगा और समाज-व्यवस्था तेज़ी के साथ बदलती जाएगी तो लोग शीघ्रता से अनुकूलन नहीं पर पाएंगे। ऐसी दशा में विघटन की भी सम्भावना रहेगी। अत: यह आवश्यक है कि समाज-व्यवस्था में नवीन परिस्थितियों के अनुरूप अपने आप को ढालने का गुण हो। परन्तु परिवर्तन इतने शीघ्रगामी भी नहीं होने चाहिए अथवा समाज-व्यवस्था ऐसी नहीं होनी चाहिए कि वह परिवर्तन को हर समय स्वीकार करने के लिए तैयार हो। कहने का तात्पर्य यह है कि समाज-व्यवस्था की निरन्तरता भी बनी रहनी चाहिए और उसमें अन्तर्जात और बाह्य कारणों से होने वाले परिवर्तनों को स्वीकार करने की क्षमता भी होनी चाहिए। भारतीय समाज की यह विशेषता है कि इसने परिस्थितियों के बदलने के साथ-साथ अपने आपको परिवर्तित किया है और आज हम नियोजित परिवर्तन की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं। यद्यपि कहीं-कहीं प्रशासन सम्बन्धी कुछ कमियों तथा लोगों के रीति-रिवाजों को ध्यान में नहीं रखने के कारण विरोध भी हुआ है।

## 3.4 आधुनिकीकरण (Modernisation)

परम्परात्मक समाजों में होने वाले परिवर्तनों या औद्योगीकरण के कारण पश्चिमी समाजों में आये परिवर्तनों को समझने तथा दोनों में भिन्नता प्रकट करने के लिए विद्वानों ने आधुनिकीकरण की अवधारणा को जन्म दिया। एक तरफ उन्होंने परम्परात्मक समाज को रखा और दूसरी तरफ आधुनिक समाज को। इस प्रकार उन्होंने परम्परात्मक बनाम आधुनिकता को जन्म दिया। इसके साथ ही जब पाश्चात्य विद्वान उपनिवेशों एवं विकासशील देशों में होने वाले परिवर्तनों की चर्चा करते हैं तो वे आधुनिकीकरण की अवधारणा का सहारा

लेते हैं। कुछ लोगों ने आधुनिकीकरण को एक प्रक्रिया के रूप में माना है, तो कुछ ने एक प्रतिफल के रूप में। **आइजनस्टैंड** ने इसे एक प्रक्रिया मानते हुए लिखा है, "ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिकीकरण उस प्रकार की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं की ओर परिवर्तन की प्रक्रिया है जो सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक पश्चिमी यूरोप तथा उत्तरी अमेरिकी में और बीसवीं शताब्दी तक दक्षिणी अमेरिका, एशियाई व अफ्रीकी देशों में विकसित हुई।" आधुनिकीकरण की प्रक्रिया किसी एक ही दिशा या क्षेत्र में होने वाले परिवर्तन को प्रकट नहीं करती वरन् यह एक बहु-दिशा वाली प्रक्रिया है। साथ ही यह किसी भी प्रकार के मूल्यों से भी बंधी हुई नहीं है। परन्तु कभी-कभी इसका अर्थ अच्छाई और इच्छित परिवर्तन से लिया जाता है। उदाहरण के लिए, जब कोई यह कहता है कि सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक संस्थाओं का आधुनिकीकरण हो रहा है; तब उसका उद्देश्य आलोचना करना नहीं वरन् अच्छाई बताना है।

आधुनिकीकरण की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए अब तक कई पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने समय-समय पर अपने विचार प्रकट किए हैं और इस अवधारणा को अनेक नामों से सम्बोधित किया है। आधुनिकीकरण पर अपने विचार प्रकट करने वाले विद्वानों में कुछ प्रमुख ये हैं: **वाईनर, एपटर, लर्नर, ब्लैक, एलेक्स, इन्कलेक्स, ए.आर. देसाई, वाई सिंह, एम.एन. श्रीनिवासन्, एडवर्ड शिल, डब्ल्यू. सी. स्मिथ आदि।** आधुनिकीकरण शब्द के पर्यायवाची रूप में अंग्रेजीकरण, यूरोपीकरण, पाश्चात्यकरण, शहरीकरण, उद्विकास, प्रगति आदि शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। औद्योगीकरण, नगरीकरण एवं पश्चिमीकरण की तरह आधुनिकीकरण भी एक जटिल प्रक्रिया है।

**बैनडिक्स** के अनुसार, "आधुनिकीकरण से मेरा तात्पर्य उस किस्म के सामाजिक परिवर्तनों से है जो 1760-1830 में इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति तथा 1789-1794 में फ्रांस की राजनैतिक क्रान्ति के दौरान उत्पन्न हुए।" वर्तमान प्रजातन्त्र, शिक्षा-प्रणाली और औद्योगिक क्रान्ति का प्रारम्भ अधिकांश पश्चिमी देशों में ही हुआ। अत: यदि उन परिवर्तनों का जो सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और अन्य क्षेत्रों में पश्चिमी देशों में हुए, दूसरे देशों में अनुकरण होता है तो वह आधुनिकीकरण के नाम से जाना जायेगा। अत: इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि प्रारम्भ में आधुनिकीकरण का प्रारूप पश्चिमी देश ही रहे हैं, अब चाहे रूस, चीन, जापान या अन्य देश आधुनिकीकरण के आदर्श के रूप में हों। **रूडोल्फ** एवं **रूडोल्फ** ने भी इस बात की पुष्टि की है। **लर्नर** का मत है कि पश्चिमी मॉडल केवल ऐतिहासिक दृष्टि से पश्चिमी है, समाजशास्त्री दृष्टि से विश्वव्यापी।

**मैरियन जे.लेवी** ने आधुनिकीकरण को प्रौद्योगिक वृद्धि के रूप में परिभाषित किया है, "मेरी आधुनिकीकरण की परिभाषा शक्ति के जड़ स्रोतों और प्रयत्न के प्रभाव को बढ़ाने के लिए उपकरणों के प्रयोग पर आधारित है। इन दो तत्वों में से प्रत्येक को सातत्य का आधार मानता हूँ।" उपरोक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि लेवी ने शक्ति के जड़ स्रोत जैसे, पैट्रोल, डीजल, कोयला जल-विद्युत और अणु-शक्ति और यन्त्रों के प्रयोग को आधुनिकीरण के आधार के रूप में माना है। किसी समाज विशेष को कितना आधुनिक कहा जायेगा; यह इस बात पर निर्भर करता है कि वहाँ जड़ शक्ति तथा यन्त्रों का कितना प्रयोग हुआ है।

**डॉ. योगेन्द्र सिंह** ने बताया है कि साधारणत: आधुनिक होने का अर्थ 'फैशनेबल' से लिया जाता है। वे आधुनिकीकरण को एक सांस्कृतिक प्रयत्न मानते हैं जिसमें तार्किक अभिवृत्ति, सार्वभौम, दृष्टिकोण, परानुभूति, वैज्ञानिक विश्व दृष्टि, मानवता, प्रौद्योगिक प्रगति आदि सम्मिलित हैं। डॉ. सिंह आधुनिकीकरण पर किसी एक ही जातीय समूह या सांस्कृतिक समूह का स्वामित्व नहीं मानते वरन् सम्पूर्ण मानव का अधिकार मानते हैं।

**डेनियल लर्नर** ने अपनी पुस्तक 'दी पासिंग ऑफ ट्रेडिशनल सोसायटी : मॉडर्नाईजिंग दा मीडिल ईस्ट' में आधुनिकीकरण का पश्चिमी मॉडल स्वीकार किया है। वे आधुनिकीकरण में निहित निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख करते हैं।

(क) बढ़ता हुआ नगरीकरण

(ख) बढ़ती हुई साक्षरता

(स) बढ़ती हुई साक्षरता विभिन्न साधनों जैसे समाचारपत्रों, पुस्तकों, रेडियो आदि के प्रयोग द्वारा शिक्षित लोगों के अर्थपूर्ण विचार-विनिमय में सहभागिता को बढ़ाती है।

(द) इन सभी से मनुष्य की क्षमता में वृद्धि होती है, राष्ट्र का आर्थिक लाभ होता है जो प्रति व्यक्ति आय को बढ़ाने में योग देता है।

(य) यह राजनैतिक जीवन की विशेषताओं को उन्नत करने में सहायता देता है।

**लर्नर** उपर्युक्त विशेषताओं को शक्ति, तरुणाई, निपुणता तथा तार्किकता के रूप में व्यक्त करते हैं। वे आधुनिकीकरण को प्रमुखत: मस्तिष्क की एक स्थिति के रूप में स्वीकार करते हैं, प्रगति की अपेक्षा, वृद्धि की ओर झुकाव तथा परिवर्तन के अनुरूप अपने को ढालने की तत्परता के रूप में मानते हैं। परानुभूति भी आधुनिकीकरण का एक मुख्य तत्व है जिसमें अन्य लोगों के सुख-दु:ख में भाग लेने और संकट के समय उनको सहायता देने की प्रवृत्ति बढ़ती है।

**आइजनस्टेंड** ने अपनी पुस्तक आधुनिकीकरण : विरोध एवं परिवर्तन में विभिन्न क्षेत्रों में आधुनिकीकरण को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है–

(अ) आर्थिक क्षेत्र में–प्रौद्योगिकी का उच्च स्तर।

(ब) राजनीतिक क्षेत्र में–समूह में शक्ति का प्रसार तथा सभी वयस्कों को शक्ति प्रदान करना (मताधिकार द्वारा) एवं संचार के साधनों द्वारा प्रजातन्त्रों में भाग लेना।

(स) सांस्कृतिक क्षेत्र में–विभिन्न समाजों के साथ अनुकूलन की क्षमता में वृद्धि तथा दूसरे लोगों की परिस्थितियों के प्रति परानुभूति में वृद्धि।

(द) संरचना के क्षेत्र में–सभी संगठनों के आकार का बढ़ना, उनमें जटिलता एवं विभेदीकरण की दृष्टि से वृद्धि।

(य) परिस्थितिकीय क्षेत्र में–नगरीकरण में वृद्धि।

**सी. ई. ब्लेक** ने आधुनिकीकरण को ऐतिहासिक रूप में स्वीकार किया है और इसे परिवर्तन की एक ऐसी प्रक्रिया माना है जो पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमेरिका में सत्रहवीं सदी में विकसित, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक व्यवस्थाओं से बीसवीं सदी के अमेरिका तथा यूरोप आदि देशों की ओर अग्रसर हो चुकी है। आधुनिकीकरण एक ऐसी मनोवृत्ति का परिणाम है जिसमें ये विश्वास किया जाता है कि समाज को बदला जा सकता है और बदला जाना चाहिए तथा परिवर्तन वांछनीय है। आधुनिकीकरण में व्यक्ति को संस्थाओं के बदलते हुए कार्यों के अनुरूप समायोजन करना होता है, इससे व्यक्ति के ज्ञान में वृद्धि होती है जिसके परिणामस्वरूप वह पर्यावरण पर नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है। ब्लेक के अनुसार, आधुनिकीकरण का प्रारम्भ तो यूरोप व अमेरिका से हुआ परन्तु बीसवीं सदी तक इसका प्रसार सम्पूर्ण विश्व में हो गया और इसने मानवीय सम्बन्धों के स्वरूप को ही परिवर्तित कर दिया। **डॉ. एम.एन. श्रीनिवास** ने 'सोशल चेन्ज इन मॉडर्न इन्डिया (1966) तक मॉडर्नाईजेशन : ए "फ्यू क्यूरीज' (1969) में आधुनिकीकरण के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। आप आधुनिकीकरण को एक तटस्थ शब्द नहीं मानते। आपके अनुसार आधुनिकीकरण का अर्थ अधिकांशत: 'अच्छाई' से लिया जाता है। किसी भी पश्चिमी देश के प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्पर्क के कारण किसी गैर-पश्चिमी देशों में होने वाले परिवर्तनों के लिए प्रचलित शब्द आधुनिकीकरण है। आप आधुनिकीकरण में निम्नलिखित बातों को सम्मिलित करते हैं: बढ़ा हुआ नगरीकरण, साक्षरता का प्रसार, प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि, वयस्क मताधिकार तथा तर्क का विकास।

**डॉ. श्रीनिवास** ने आधुनिकीकरण के तीन प्रमुख क्षेत्र बताये हैं:

1. भौतिक संस्कृति का क्षेत्र (इसमें तकनीक भी सम्मिलित की जाती है);
2. सामाजिक संस्थाओं का क्षेत्र; और
3. ज्ञान, मूल्य एवं मनोवृत्तियों का क्षेत्र।

ऊपरी तौर पर तो ये तीनों क्षेत्र भिन्न-भिन्न मालूम पड़ते हैं, परन्तु ये परस्पर सम्बन्धित हैं। एक क्षेत्र में होने वाले परिवर्तन दूसरे क्षेत्र को भी प्रभावित करते हैं।

**वी. वी. शाह** ने 'प्रोबलम आफ मॉडर्नाईजेशन आफ एजुकेशन इन इंडिया,' (1969) नामक लेख में आधुनिकता पर अपने विचार प्रकट किये हैं। शाह आधुनिकीकरण को बहु-प्रक्रिया मानते हैं जो आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि सभी क्षेत्रों में व्याप्त है।

(अ) आर्थिक क्षेत्र में आधुनिकीकरण का अर्थ है—औद्योगीकरण का बढ़ना, अधिक उत्पादन, मशीनीकरण, मुद्रीकरण व शहरीकरण में वृद्धि। व्यक्ति व सामूहिक सम्पत्ति में भेद किया जाता है। रहने और काम करने के स्थान अलग-अलग होते हैं। लोगों को व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता होती है। उनमें तर्क और गतिशीलता की वृद्धि होती है। आय, खरीद, बचत तथा पूंजी लगाने के क्षेत्र में नये दृष्टिकोण का विकास होता है।

(ब) राजनैतिक क्षेत्र में धर्म-निरपेक्ष व कल्याण राज्य की स्थापना होती है जो शिक्षा, स्वास्थ्य, मकान एवं रोजगार की व्यवस्था करता है। कानून के समक्ष सभी को समानता प्रदान की जाती है तथा सरकार को चुनने अथवा बदलने में स्वतन्त्रता व्यक्त करने की छूट होती है।

(स) सामाजिक क्षेत्र में संस्तरण की खुली व्यवस्था होती है। प्रदत्त पद के स्थान पर अर्जित पदों का महत्त्व होता है तथा सभी को अवसर की समानता दी जाती है। विवाह, धर्म, परिवार तथा व्यवसाय के क्षेत्र में वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर बल दिया जाता है।

(द) वैयक्तिक क्षेत्र में सामाजिक परिवर्तन के लिए मानव प्रयत्नों में विश्वास किया जाता है। धर्म-निरपेक्ष, तार्किक, वैज्ञानिक और विश्वव्यापी दृष्टिकोण का विकास होता है। सामाजिक समस्याओं के प्रति समानतावादी और स्वतन्त्रतात्मक दृष्टिकोण अपनाया जाता है।

**ए. आर. देसाई** आधुनिकीकरण का प्रयोग केवल सामाजिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं बल्कि जीवन के सभी पहलुओं तक विस्तृत मानते हैं।

बौद्धिक क्षेत्र में आधुनिकीकरण का अर्थ तर्क-शक्ति का बढ़ना है। भौतिक व सामाजिक घटनाओं की तार्किक-व्याख्या की जाती है। ईश्वर को आधार मानकर किसी भी घटना को स्वीकार नहीं किया जाता। धर्मनिरपेक्ष तार्किकता का ही परिणाम है जिसके फलस्वरूप अलौकिक जाति के स्थान पर इस दुनिया का दृष्टिकोण पनपता है।

**सामाजिक क्षेत्र में–**

(अ) सामाजिक गतिशीलता बढ़ती है। पुरानी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा मनोवैज्ञानिक धारणाओं को तोड़ कर व्यक्ति नये-प्रकार के व्यवहार को अपनाने को प्रस्तुत होता है।

(ब) सामाजिक संरचना में परिवर्तन–व्यक्ति के व्यावसायिक एवं राजनैतिक कार्यों में परिवर्तन आता है, प्रदत्त के स्थान पर अर्जित पदों का महत्त्व बढ़ता है।

(स) समाज की केंद्रीय कानूनी, प्रशासकीय तथा राजनैतिक संस्थाओं का विस्तार एवं प्रसार।

(द) प्रशासकों द्वारा जनता की भलाई की नीति अपनाना।

**सांस्कृतिक क्षेत्र में–**

(अ) शिक्षा का विस्तार तथा विशेष प्रकार की शिक्षा देने वाली संस्थाओं में वृद्धि।

(ब) नये सांस्कृतिक दृष्टिकोण का विकास जो उन्नति व सुधार, योग्यता सुख अनुभव व क्षमता पर जोर दे।

(स) सभी प्रकार के समाजों के साथ समायोजन करने की धारणा का विकास, रुचि का बढ़ना, दूसरे लोगों के प्रति परानुभूति का बढ़ना, दूसरों का सम्मान करना, ज्ञान व तकनीकी में विश्वास पैदा होना तथा व्यक्ति को उसके कार्य का प्रतिफल मिलना और मानवतावाद में विश्वास।

(द) समाज द्वारा ऐसी संस्थाओं और योग्यताओं का विकास करना जिससे कि लगातार बदलती हुई मांगों और समस्याओं से समायोजन किया जा सके।

इस प्रकार **श्री देसाई** ने आधुनिकीकरण को एक विस्तृत क्षेत्र के संदर्भ में देखा है जिसमें समाज व संस्कृति के सभी पहलू आ जाते हैं।

आधुनिकीकरण पर भारतीय और पश्चिमी विद्वानों के उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि उन्होंने इस अवधारणा का प्रयोग परम्परात्मक, पिछड़े तथा उपनिवेश वाले देशों की पश्चिमी, पूंजीवादी एवं औद्योगीकरण व शहरीकरण कर रहे देशों के साथ तुलना करने के लिए किया है जो कि उनमें हो रहे नवीन परिवर्तनों की ओर इंगित करती है। बौद्धिक क्षेत्र में आधुनिकीकरण का अर्थ भौतिक एवं सामाजिक घटनाओं की तार्किक व्याख्या करना तथा उन्हें कार्य-कारण के आधार पर स्वीकार करना है। सामाजिक क्षेत्र में आधुनिकीकरण होने पर गतिशीलता बढ़ती है, पुरानी प्रथाओं के स्थान पर नवीन मूल्य पनपते हैं, जटिल संस्थाओं का जन्म होता है, परिवार, रक्त-सम्बन्ध आदि में शिथिलता आती है। राजनैतिक क्षेत्र में सत्ता को अलौकिक शक्ति की देन नहीं माना जाता, सत्ता का लोगों में विकेन्द्रीकरण और वयस्क मताधिकार द्वारा सरकार का चयन होता है। आर्थिक क्षेत्र में मशीनों का उपयोग बढ़ता है तथा उत्पादन जड़-शक्ति के प्रयोग द्वारा होता है। यातायात के साधनों का विकास होता है और औद्योगीकरण बढ़ता है। परिस्थिति जन्य क्षेत्र में नगरीकरण बढ़ता है। सांस्कृतिक क्षेत्र में आधुनिकीकरण का तात्पर्य नये सांस्कृतिक दृष्टिकोण का विकास और व्यक्ति में नवीन गुणों के प्रादुर्भाव से है।

विभिन्न विद्वानों के उपर्युक्त विचारों से आधुनिकीकरण की निम्नलिखित विशेषताओं का पता चलता है: घटनाओं की विवेकपूर्ण व्याख्या, सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि, धर्म-निरपेक्षता व लौकिककीकरण, वयस्क मताधिकार द्वारा राजनैतिक सत्ता का लोगों में हस्तांतरण, बढ़ता हुआ नगरीकरण, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, औद्योगीकरण, प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि, शिक्षा का प्रसार, परानुभूति, जड़ शक्ति का प्रयोग, नवीन व्यक्तित्व का विकास, प्रदत्त के स्थान पर अर्जित पदों का महत्त्व, वस्तु-विनिमय के स्थान पर द्रव्य-विनिमय, व्यवसायों में विशिष्टता, यातायात एवं संचार व्यवस्था का विकास, चिकित्सा एवं स्वास्थ्य में वृद्धि तथा प्राचीन कृषि विधि के स्थान पर नवीन विधियों का प्रयोग। इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिकीकरण एक जटिल प्रक्रिया है जिसमें अनेक तत्वों का समावेश है तथा जो जीवन के भौतिक, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं बौद्धिक सभी पहलुओं से सम्बन्धित है। यह अवधारणा हमें परम्परात्मक समाजों में होने वाले परिवर्तनों को समझने में योगदान देती है। आज विश्व में कहीं परम्परात्मक समाज दिखलाई पड़ता है, तो कहीं आधुनिक समाज। इनकी तुलना करने तथा परिवर्तन की प्रकृति और दिशा को समझने में यह अवधारणा उपयोगी है।

## 3.5 लौकिकीकरण (Secularisation)

लौकिकीकरण वह प्रक्रिया है जिसके परिणामस्वरूप किसी समाज में धर्म के आधार पर सामाजिक व्यवहार में भेदभाव समाप्त किया जाता है। धर्मनिरपेक्षीकरण जो बुद्धिवाद पर आधारित है, आधुनिकीकरण के लिए आवश्यक है। चूंकि प्रत्येक समाज अब आधुनिकृत होना चाहता है, इसलिए वह धर्मनिरपेक्षीकरण को आश्रय दे रहा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में जो भी राज्य धर्म निरपेक्ष राज्य नहीं था, आज वहाँ भी धर्म निरपेक्षीकरण की बात की जा रही है।

लौकिकीकरण में धर्म की पुनर्व्याख्या, बुद्धिवाद और उदारवाद का सीधा सम्बन्ध है। **डॉ. श्रीनिवास** ने इस प्रक्रिया का विस्तृत विश्लेषण किया है। धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया प्रत्येक समाज की एक मूलभूत विशेषता हो गयी है। आज से कुछ शताब्दी पूर्व भारत में जिन कृत्यों को धार्मिक तथा पवित्र समझा जाता था आज उन्हें व्यर्थ के रूढ़िवादी अतार्किक व्यवहार के रूप में देखा जाता है, एक धर्म तथा जाति का जो विशेष प्रभाव स्वीकार किया जाता है, अब वह उस प्रकार से प्रभावी नहीं रहा है। विभिन्न विचारकों का मत है कि भारत में धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया को गति देने का श्रेय अंग्रेजी शासन को है।

अंग्रेजी शासन अपने साथ भारतीय सामाजिक जीवन और संस्कृति के लौकिकीकरण की प्रक्रिया भी लाया। यह प्रवृत्ति संचार साधनों के विकास और नगरों की बढ़ती हुई स्थान मूलक गतिशीलता और शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ क्रमशः और भी प्रबल हो गई दोनों महायुद्धों और महात्मा गांधी के नागरिक अवज्ञा

आन्दोलनों ने जन-साधारण को राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से सक्रिय तो किया ही, लौकिकीकरण की वृद्धि में भी योग दिया। सन् 1947 के बाद भारत में धर्मनिरपेक्षीकरण की प्राप्ति का जो प्रयत्न किया है, वह वास्तव में उल्लेखनीय है। स्वतंत्र भारत के संविधान में यह लिखा हुआ है कि 'भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य होगा।' कानून की दृष्टि में भी नागरिकों में धर्म, जाति, लिंग आदि के आधार पर कोई भेद-भाव नहीं होगा। संसद सभा विधानसभाओं के लिए चुनाव बालिग मताधिकार के आधार पर होगा और भारतीय भू-भागों का विकास निष्पक्ष योजनाबद्ध कार्यक्रमों के आधार पर सम्पादित होगा।

शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से यह वह प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति के अस्तित्व, महत्त्व, पहचान या विकास का धर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं जोड़ा जाता है। धर्मनिरपेक्षीकरण का प्रत्यक्ष सम्बन्ध तार्किक दृष्टिकोण से है। इसके अन्तर्गत विश्व की व्याख्या विशुद्ध चिन्तन के रूप में प्रस्तुत की जाती है। धर्मनिरपेक्षीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा परम्परागत विश्वासों तथा धारणाओं के स्थान पर तार्किक ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। **प्रो. श्रीनिवास** ने स्पष्ट लिखा है कि 'धर्मनिरपेक्षीकरण' में यह बात निहित है कि जिसे पहले धार्मिक माना जाता था, अब वैसा नहीं माना जाता है।" उन्होंने इसका स्पष्टीकरण देते हुए लिखा है कि, उसमें विभेदीकरण की एक प्रक्रिया भी निहित है जिसके परिणामस्वरूप समाज के विभिन्न आर्थिक, राजनीतिक, कानूनी तथा नैतिक पक्ष एक दूसरे के मामले में अधिकाधिक सावधान होते जा रहे हैं इस प्रकार **श्रीनिवास** ने लौकिकीकरण को मात्र धर्मनिरपेक्षता के अर्थ में नहीं समझा। इसके अनुसार लौकिकीकरण की दो विशेषताएँ प्रमुख हैं:

1. प्रथम तो यह प्रक्रिया इस भावना से सम्बन्धित है कि हम पहले जिसे धार्मिक मानते थे उसे अब धर्म की श्रेणी में नहीं रखते।
2. दूसरी विशेषता यह है कि इस प्रक्रिया के अन्तर्गत हम प्रत्येक तथ्य को तर्क बुद्धि से देखने और समझने का प्रयत्न करते हैं। परम्परागत रूप से हमारे सामाजिक जीवन में इन दोनों विशेषताओं का नितान्त अभाव था। कोई व्यक्ति सामाजिक व्यवस्था की सार्थकता के बारे में तर्क नहीं कर सकता था क्योंकि सम्पूर्ण व्यवस्था को धर्म से मिला दिया गया था।

कन्साईज आक्सफोर्ड शब्दकोष में लौकिकीरण की कई परिभाषाएँ दी गई हैं। इन परिभाषाओं को लोकवाद, धार्मिक विश्वासों के प्रति सन्देहवाद तथा धार्मिक शिक्षा के प्रति विरोधाभास के रूप में बतलाया गया है, तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय शब्दकोश में लौकिकवाद की निम्न परिभाषा दी गई है–

"(लौकिकवाद) सामाजिक आचारों की एक ऐसी व्यवस्था है जो इस सिद्धान्त पर आधारित है कि आचार सम्बन्धी मापदण्ड तथा व्यवहार विशेष रूप से धर्म से हटकर वर्तमान जीवन तथा सामाजिक कल्याण पर आधारित होने चाहिए।" **वाटर हाऊस** ने "लौकिकीकरण की परिभाषा एक ऐसी वैचारिकी के रूप में की है जो जीवन तथा आचार व्यवहार का एक सिद्धान्त प्रस्तुत करती है, जो धर्म द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के विरुद्ध है। इसका सार भौतिकवादी है। इसकी मान्यता यह है कि मानवीय कल्याण को केवल राष्ट्रीय प्रयासों के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।" लेकिन **बेकर** ने यह मानने से इन्कार किया है कि लौकिकवाद एक धर्मविरोधी अवधारणा है। इनका कहना है कि "लौकिक" "अपवित्र" या इसी प्रकार के अन्य शब्दों का पर्यायवाची नहीं है।" **ब्लेडशील्ड** ने बेकर के इस विचार का समर्थन किया है। इन्होंने बतालाया है कि "लौकिकवाद धार्मिक संस्थाओं का विरोध नहीं करता। न ही यह विधि, राजनीतिक तथा शिक्षा सम्बन्धी प्रक्रियाओं में धार्मिक उत्प्रेरणाओं का विरोधी है। इसमें तो केवल मनोवृत्तियों के प्रकार्यात्मक विभाजन पर बल दिया जाता है अर्थात् विभिन्न प्रकार की सामाजिक क्रियाओं में शक्तियों का सामाजिक विभाजन।" **ब्लेकशील्ड** का कहना है कि धर्म, शिक्षा तथा विधि को एक दूसरे के क्षेत्र में प्रवेश नहीं करना चाहिए और न ही अपने क्षेत्र की सीमाओं से बाहर जाना चाहिए। जिस सीमा तक धर्म अपनी ही सीमाओं के अन्दर रहता है वहाँ तक लौकिकवाद की अवधारणा धार्मिक निरपेक्ष मानी जा सकती है। यह न तो धार्मिकता का समर्थन करता हैं और न ही विरोधी।

इस प्रकार लौकिकवाद सामाजिक समस्याओं के क्षेत्र में वह स्थिति है जिसमें विधि तथा शिक्षा धार्मिक संस्थाओं तथा धार्मिक उत्प्रेरणाओं से स्वतन्त्र होते हैं। लौकिकवाद तो एक ऐतिहासिक विकास की अवस्था है जिसमें विधि तथा शिक्षा का धर्म पर आधारित न होना स्थापित हो जाता है।

इस प्रकार यदि लौकिकवाद की विभिन्न परिभाषाओं पर विचार किया जाए तो ऐसे अनेक विषयों की सूची बनाई जा सकती है जिनको इसके अन्तर्गत माना जाता है। जैसे–वैज्ञानिक मानववाद, प्रकृतिवाद और भौतिकवाद, अज्ञेयवाद और प्रत्यक्षवाद, बौद्धिकवाद प्रजातन्त्रवाद तथा साम्यवाद, आशावाद तथा प्रगतिवाद, नैतिक सापेक्षवाद व शून्यवाद आदि।

## 3.6 लौकिकीकरण की विशेषताएँ (Characteristics of Secularisaton)

1. **बुद्धिवाद का विकास**–धर्मनिरपेक्षीकरण के कारण प्रत्येक घटना के लिये धर्म पर आश्रित रहने की बात समाप्त हो जाती है। आदिम व्यक्ति प्रत्येक सामाजिक घटना को धर्म तथा अलौकिक शक्ति की देन मानता था लेकिन जैसे-जैसे बुद्धिवाद का विकास हुआ कार्य-कारण सम्बन्धों की व्याख्या बढ़ी और वास्तविक कारणों की जानकारी के कारण धर्म का महत्त्व कुछ कम हुआ। अब प्रत्येक व्यक्ति तार्किक व्यवहार को उचित मानता है।
2. **धार्मिकता में ह्रास**–धर्मनिरपेक्षीकरण के कारण धार्मिक संस्थाओं का महत्त्व अब कम हुआ है। इसका कारण यह है कि धर्म के नाम पर अब उच्च या निम्न प्रस्थिति का निर्धारण नहीं होता। पहले जो व्यक्ति जितने अधिक धार्मिक कर्मकाण्ड करता था उसे उतना ही अधिक सम्मान दिया जाता था। लेकिन अब उसी व्यक्ति को पिछड़ा हुआ व्यक्ति कहा जाता है जो अपने कार्यों की सफलता को धर्म में ढूँढ़ता है। अत: स्पष्ट है कि जैसे-जैसे धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया आगे बढ़ती है धर्म का महत्त्व कम होता है, और इस प्रकार धार्मिकता में ह्रास होता है।
3. **बढ़ता हुआ विभिन्नीकरण**–पहले प्रत्येक घटना के पीछे धर्म को प्रभावी कारक मान लिया जाता था और प्रत्येक घटना की व्याख्या धर्म के ही आधार पर की जाती थी चाहे वह अपराध हो या बीमारी, मृत्यु हो या प्राकृतिक प्रकोप। लेकिन अब प्रत्येक घटना के अलग-अलग और वास्तविक कारणों की खोज की जाती है जिसमें सामान्यत: धार्मिक और आध्यात्मिक शक्ति के प्रभाव को कम से कम स्वीकारा जाता है। इस स्थिति के कारण विभिन्नीकरण की मात्रा बढ़ जाती है। विशिष्ट प्रकार के कार्य करने वाले अलग-अलग लोग होते हैं। अत: उनमें दूरी स्वाभाविक है।
4. **आधुनिकीकरण की प्राप्ति में सहायक**–वर्तमान में आधुनीकरण की लहर बड़े जोरों पर है। प्रत्येक समाज अब अपने को आधुनिक कहलाना चाहता है। जिसके लिए आवश्यक हो जाता है कि परम्परागत व्यवहारों में परिवर्तन लाया जाए। धर्मनिरपेक्षीकरण भी परम्परागत व्यवहारों को बदलता है। यथा–स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व भारत में विभिन्न धर्म और धर्मवाद की भावना खूब फलफूल रही थी। किन्तु स्वतन्त्रता संग्राम से ही जो धर्म धर्मनिरपेक्षीकरण की स्वाभाविक लहर उठी उसने इस प्रयास को बहुत कम कर दिया। स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर ज्यों ही भारत ने अपने को धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया; यहाँ के परम्परागत व्यवहार प्रतिमानों में अमूल परिवर्तन आए। वर्तमान में देश में ऐसे परिवर्तन हो रहे हैं जो सामाजिक विकास और आधुनिकीकरण के लिए आवश्यक हैं। अत: कहा जाता है कि धर्मनिरपेक्षीकरण आधुनिकीकरण में सहायक है।
5. **समानता का विकास**–प्राचीन काल में भारतवर्ष में अनेक प्रकार की सामाजिक विभिन्नताएँ पाई जाती थीं। भारत में धर्म, जाति, लिंग आदि के आधार पर विस्तृत विभेद किया जाता था। एक ही प्रकार के अपराध करने पर भिन्न-भिन्न धर्मों में भिन्न-भिन्न दण्ड का प्रावधान था। लेकिन धर्मनिरपेक्षीकरण के कारण इस प्रकार का भेदभाव स्वत: समाप्त हो जाता है और सभी लोगों को समान अवसर सुलभ हो पाते हैं।
6. **एक वैज्ञानिक अवधारणा**–धर्मनिरपेक्षीकरण एक वैज्ञानिक अवधारणा है। धर्म के प्रभाव के कारण कार्य सम्बन्ध का प्रदर्शन उचित नहीं। अत: लोग अतार्किक हो जाते हैं। धर्मनिरपेक्षीकरण

तार्किकता पर प्रबल जोर देता है और उसी चीज को सही कहता है जिसमें कार्य-कारण सम्बन्धों का प्रदर्शन हो।

7. **मानवतावादी और तटस्थ अवधारणा**–धर्मनिरपेक्षीकरण एक ऐसी अवधारणा है जिसमें मानव को मानव मानते हुए व्यवहार की बात कही गई है। ऐसा नहीं कि किसी भी काल्पनिक जैसे जाति के आधार पर मानव के साथ अमानवीय व्यवहार की बात करती हो। यह प्रक्रिया मानवतावादी व्यवहार को प्रोत्साहित करती है। साथ ही यह एक तटस्थ अवधारणा है जिसमें एक तरफ धर्म के आधार पर कोई भेदभाव नहीं पाया जाता तो साथ ही किसी भी धर्म को स्वीकारने की पूर्ण स्वतन्त्रता भी दी गई है।

## 3.7 लौकिकीकरण के आवश्यक तत्व (Essential Elements of Secularisation)

1. **तार्किकता**–धर्मनिरपेक्षीकरण का प्रत्यक्ष सम्बन्ध तार्किक दृष्टिकोण से है। इसके अन्तर्गत प्रघटना की व्याख्या विशुद्ध रूप में की जाती है। समाज में जितने भी व्यवहार तर्कहीन हैं, उन्हें इस प्रक्रिया द्वारा नकारा जाता है। इसी कारण इस प्रक्रिया में रूढ़िवादी, अतार्किक, परम्परागत विश्वासों तथा धारणाओं के स्थान पर तार्किक ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है इसमें विभेदीकरण की एक प्रक्रिया भी निहित है जिसके परिणामस्वरूप समाज के विभिन्न आर्थिक, राजनैतिक, कानूनी, नैतिक और सामाजिक आदि अंग एक दूसरे से अधिकाधिक स्वतंत्र होते जाते हैं।

2. **कार्य-कारण सम्बन्ध**–धर्मनिरपेक्षीकरण में एक अन्य आवश्यक तत्व 'कार्य कारण' सम्बन्धों का प्रदर्शन है जिसे बुद्धिवाद से भी सम्बोधित किया जाता है। **प्रो. श्रीनिवास** के अनुसार इसके अन्तर्गत पारस्परिक विश्वासों और धारणाओं के स्थान पर आधुनिक ज्ञान की स्थापना निहित है। धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया की यह विशेषता है कि यह पारस्परिक विश्वासों तथा तर्कहीन धारणाओं को यथा सम्भव नष्ट करने का प्रयत्न करती है। ऐसे विचार जो पारस्परिक हैं व जिन्हें कार्यकारण सम्बन्ध की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता, वे अपने आप इस प्रक्रिया द्वारा समाप्त हो जाते हैं। यदि उनका अस्तित्व किसी प्रकार बना भी रहता है तो उन्हें उचित जनमत का समर्थन नहीं मिल पाता है।

3. **पवित्रता-अपवित्रता की धारणा**–हिन्दू धार्मिक आचरण में पवित्रता और अपवित्रता की धारणा प्रमुख रही है। इसी आधार पर विभिन्न जातियों की दूरी निश्चित होती है। इसी आधार पर जातियों में स्पर्श, विवाह और भोजन निषेध रहे हैं प्रत्येक हिन्दू के सामान्य जीवन में पवित्रता और अपवित्रता की धारणाएँ और कार्य जुड़े हुए हैं। जैसे–दाढ़ी बनाना ब्राह्मणों के लिए अपवित्र कार्य था। पिछले वर्षों में ये धारणाएँ क्षीण हुई हैं पवित्रता के नियमों का स्थान स्वास्थ्य और स्वच्छता के नियमों ने ले लिया। शिक्षित ब्राह्मणों और कट्टरपंथियों ने धीरे-धीरे कट्टर नियमों के स्थान पर बुद्धि संगत व्याख्या को महत्त्व दिया है और पवित्रता को स्वास्थ्य नियमों का दूसरा रूप कहा है। **श्री निवास** ने मैसूर की ब्राह्मण स्त्रियों का उदाहरण दिया है और कहा है कि शिक्षित स्त्रियाँ अपवित्रता के बारे में बहुत अधिक चिंतित नहीं हैं, परन्तु स्वास्थ्य के नियमों को महत्त्व दे रही हैं। संयुक्त परिवार से अलग होने पर कर्मकाण्डों के इस रूढ़ रूप को छोड़ देती हैं।

लौकिकीकरण की प्रक्रिया के कारण अनेक कर्मकाण्डों को त्याग दिया गया है। नामकरण और अन्य कर्मकाण्ड जैसे–विधवा का मुण्डन अब प्रचलित नहीं है। संस्कारों को छोड़ने व संक्षिप्त करने की प्रक्रिया के साथ-साथ संस्कारों को मिला भी दिया जाता है जिससे व्यस्त जिन्दगी में समयाभाव को कम किया जा सके। यथा-विवाह के साथ दो दिन पूर्व उपयन संस्कार भी हो जाता है। विवाह संस्कार भी संक्षिप्त होता जा रहा है। सर्वसंस्कार युक्त ब्राह्मण-विवाह जिसमें पहले 5 से 7 दिन लगते थे अब एक दिन या कुछ घण्टों में ही निपटा देते हैं।

## 3.8 लौकिकीकरण के उद्देश्य (Object of Secularisation)

1. धर्मनिरपेक्षीकरण का उद्देश्य धर्मनिरपेक्षता की प्राप्ति है। धर्मनिरपेक्षता से तात्पर्य एक निश्चित प्रकार के व्यवहार से है जबकि धर्मनिरपेक्षीकरण एक प्रक्रिया है जो उस व्यवहार प्रतिमान को प्राप्त करने में मदद देती है। धर्मनिरपेक्षता व्यवहार की उस दशा को कहेंगे जहाँ राज्य, नैतिकता तथा शिक्षा आदि के ऊपर धर्म का अनावश्यक प्रभाव नहीं होता। अमेरिका में धर्मनिरपेक्षता का अर्थ होता है कि समाज में राज्य तथा चर्च बिना एक दूसरे को प्रभावित किए हुए अपने-अपने अस्तित्व को बनाए रखें। यही कारण है कि जो शिक्षण-संस्थाएँ वहाँ चर्च द्वारा चलाई जाती हैं राज्य सरकार उसे अनुदान नहीं देती हैं।

   भारतवर्ष में धर्मनिरपेक्षता का अर्थ पश्चिम में लिए गए अर्थ से कुछ भिन्न है। यहाँ धर्म निरपेक्षता का अर्थ होता है कि राज्य किसी भी धर्म को आश्रय नहीं देता। लेकिन इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि यदि कोई धार्मिक संस्था किसी शिक्षण संस्था को चलाती है तो राज्य सरकार उसे अनुदान नहीं देगी। सांस्कृतिक विकास के लिए तथा विभिन्न सम्प्रदायों के सह अस्तित्व के लिए यदि आवश्यक हुआ तो राज्य सरकार विभिन्न धार्मिक संस्थाओं को निर्देशित कर सकती है।

2. धर्मनिरपेक्षीकरण का दूसरा उद्देश्य धर्मनिरपेक्ष राज्य की प्राप्ति है। धर्मनिरपेक्ष राज्य वह है जहाँ प्रत्येक नागरिक को समान अवसर समानता के आधार पर प्राप्त हैं और जहाँ समाज नागरिकों के कार्य-कलापों में धर्म के आधार पर व्यवधान नहीं डालता। **डी.ई. स्मिथ** ने धर्मनिरपेक्ष राज्य की व्याख्या करते हुए लिखा है कि वह राज्य जो लोगों को धर्म की स्वन्त्रता की गारण्टी देता है, प्रत्येक धर्म अनुयायी को नागरिक की मान्यता देता है वह मात्र संवैधानिक रूप से किसी विशेष धर्म से सम्बन्धित नहीं होना चाहिए और न ही वह किसी धर्म विशेष की प्रगति और अवनति से सम्बन्धित हो। धर्मनिरपेक्ष राज्य का शाब्दिक अर्थ है कि वह राज्य जो किसी धर्म विशेष में आस्था नहीं रखता है। अत: धर्मनिरपेक्ष राज्य एक व्यक्ति को एक नागरिक के रूप में देखता है न कि किसी विशेष धार्मिक समूह के सदस्य के रूप में। धर्मनिरपेक्ष राज्य में धर्म के आधार पर लोगों के अधिकार तथा कर्तव्य की व्याख्या नहीं होती। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 15 की धारा एक में यह घोषणा की गई है कि राज्य धर्म, प्रजाति, जाति, लिंग तथा जन्म-स्थान के आधार पर लोगों में भेदभाव नहीं करेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्मनिरपेक्षीकरण के कारण भारत एक ऐसे धर्मनिरपेक्ष राज्य के रूप में प्रवर्तित हुआ है जहाँ धार्मिक भेदभाव है वैसे अब धर्म का समाज में वह स्थान नहीं रहा जो पाँच शताब्दी पूर्व था।

## 3.9 वैश्वीकरण का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Globalisation)

वैश्वीकरण वह प्रक्रिया है जिसके जरिये विश्वस्तर पर संकुचन हो रहा है। जो राष्ट्र-स्तर पर था, वह आज विश्व-स्तर पर हो गया है। वैश्वीकरण के नाम पर जो चल रहा है उसमें कभी-कभी विश्वग्राम की बात कही जाती है। यह धोखा है। वैश्वीकरण के पीछे विश्व बाज़ार एवं संचार क्रान्ति की भूमिका है। विश्व बाज़ार पर कब्जा करने की होड़ लगी हुई है। विश्व बाज़ार पर कब्जा करने के लिए जो कुछ किया जा सकता है इसमें उनका योगदान है। यहाँ "उनका" का आशय उन देशों से है जो अपने बाज़ार का विस्तार कर रहे हैं।

समाजशास्त्र में वैश्वीकरण की अवधारणा हाल के कुछ दशकों में विकसित हुई है। भूमण्डलीकरण अथवा वैश्वीकरण के समर्थक विद्वान पारम्परिक समाजशास्त्र की आलोचना करते हैं। उनका कहना है कि पारम्परिक समाजशास्त्र अभी तक विश्व को समाजों की एक व्यवस्था मानने के बजाय राष्ट्र-राज्य की पुरानी अवधारणा से बंधा हुआ है। यद्यपि, वैश्वीकरण का सिद्धान्त भी पूर्णतया निरापद नहीं है। इसकी अपनी

कमजोरियाँ हैं। यथा कुछ विद्वान प्रश्न खड़ा करते हैं कि वैश्वीकरण वास्तव में साम्राज्यवाद का आधुनिक स्वरूप है। इन दोनों के बीच आखिर अन्तर क्या है? भारत तथा अन्य विकासशील देशों में नयी वैश्विक संचार व्यवस्था विशेष रूप से विभिन्न टेलीविजन चैनलों द्वारा फैलायी जा रही एक विशिष्ट प्रकार की अत्याधुनिक संस्कृति के प्रति विरोध के स्वर मुखर होने लगे हैं। कुछ विद्वान वैश्वीकरण और आधुनिकीकरण के बीच के सम्बन्धों में व्याप्त भ्रांतियों पर भी प्रश्न खड़ा करते हैं।

वैश्वीकरण पूर्णतया एक नयी प्रक्रिया नहीं, तथापि इसे उपनिवेशवाद और आधुनिकीकरण के सदृश्य भी नहीं माना जा सकता है। इसके अनुसार वैश्वीकरण की अवधारणा नई है। 1980 के दशक से द्विआयामी विश्व का परिदृश्य बदलने लगा। संयुक्त सोवियत संघ के विघटन के बाद से ऐसे अनियंत्रित पूँजीवाद का विकास हुआ, जिसे कोई चुनौती देने वाला नहीं रहा। इससे एक आयामी विश्व प्रभावी हो गया। पूँजीवाद ने विश्व के मानचित्र पर अभूतपूर्व सामाजिक, राजनीतिक परिवर्तनों को प्रस्तुत किया। इस नवीन परिवर्तित व्यवस्था के साथ अपने को पुनर्समायोजित करने का दुनिया ने प्रयास किया।

ब्रेटन उड्स सम्मेलन (Bretton Woods Conference) द्वारा नयी आर्थिक नीति का परिचय (NEP) तथा उदारीकरण कार्यक्रमों (Liberalisation Programmes) का परिचय देने वाला चतुर्थ संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम (SAP) किया गया। इस दौरान सूचना प्रौद्योगिकी (I.T.) विशेष रूप से इण्टरनेट ने वैश्विक सम्बन्धों तथा सम्पर्कों की तीव्रता को और अधिक बढ़ा दिया। विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में बेहतर सम्भावना की तलाश में लोग उत्प्रवासित होने लगे। इस सबके चलते एक नवीन आर्थिक और राजनीतिक बुनियादी पुनर्संरचना के निर्माण की वैश्विक परिस्थिति उत्पन्न हुई। औद्योगिक क्रान्ति के समय से ही एक प्रकार के वैश्विक एकीकरण का विकास हुआ। यह विकास राष्ट्र-राज्य की सीमाओं से ऊपर उठकर हुआ है। फ्रीडमैन के अनुसार वैश्वीकरण वास्तव में बाजारों, वित्त और प्रौद्योगिकियों का एकीकरण है। इस एकीकरण में दुनिया मध्य आकार से सूक्ष्म आकार में सिकुड़ रही है, जिससे दुनिया के एक कोने से दूसरे कोने में तत्काल तथा कम से कम लागत में हम सभी पहुँच सकें। पूर्व की समस्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाओं की भाँति यह प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से घरेलू राजनीतियों, आर्थिक नीतियों तथा सभी राष्ट्रों की विदेश नीतियों को स्वरूप प्रदान कर रही है।

अत: वैश्वीकरण एक बहुआयामी जटिल प्रक्रिया है। इसके अन्तर्गत बाजारों, वित्त और प्रौद्योगिकियों का एकीकरण हो रहा है। विश्व का ऐसा संकुचन हो रहा है कि जिसके प्रत्येक कोने में हम इतनी जल्दी और सस्ते में पहुँच जायें जितने में पहले कभी सम्भव नहीं था। पूर्व की सभी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाओं की भाँति यह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में घरेलू राजनीतियों, आर्थिक नीतियों तथा सभी देशों के विदेशी सम्बन्धों को स्वरूप प्रदान कर रहा है।

आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आदि वैश्वीकरण के विविध पक्षों का मानव-जीवन में अत्यधिक महत्त्व है।

आर्थिक वैश्वीकरण के अर्थ को इस प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है: अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक बाजारों में चलने वाले आन्दोलनों द्वारा किसी देश की राष्ट्रीय सरकार की आर्थिक नीतियों का निर्धारण होता है। इसमें राष्ट्र-राज्य की आर्थिक स्वायत्तता में कमी आती है। वैश्वीकरण सम्पूर्ण विश्व को एक समग्र आर्थिक इकाई के रूप में तथा बाजार को इसके एक उपकरण के रूप में स्वीकार करता है। एक वैश्वीकृत दुनिया में अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषतायें इस प्रकार हैं; खुला, उदार, मुक्त बाजार तथा मुक्त व्यापार। इसे अन्तर्राष्ट्रीय निवेश और तात्कालिक पूँजी के प्रवाहों द्वारा चिह्नित किया जाता है। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाएँ श्रेष्ठ आर्थिक परिधियों में आ रही हैं और उनका अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय तथा वित्तीय बाजारों की दुनिया से एकीकरण हो रहा है; जो तत्काल कम्प्यूटर के माध्यम से सम्पन्न हो रहा है। विदेशी सीधा निवेश की गति तथा इसके विस्तार तथा दुनिया के विभिन्न हिस्सों में तात्कालिक पूँजी के प्रवाह को आर्थिक वैश्वीकरण के रूप में देखा जा सकता है।

परिणामस्वरूप, अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियाँ उस देश और क्षेत्र में पहुँचने के लिए प्रयासरत हैं जहाँ सस्ता श्रम उपलब्ध है। विभिन्न राष्ट्र-राज्य की सीमाओं से लोग बाहर निकल रहे हैं और अपना कार्य-क्षेत्र और निवास परिवर्तित कर रहे हैं तथा अपने आपको एक नये सांस्कृतिक परिवेश में समायोजित कर रहे हैं।

वैश्विक वित्तीय संस्थाओं द्वारा अमीर और गरीब के बीच की खाई को बढ़ाया जाता है। वैश्वीकरण द्वारा संस्कृति, राष्ट्रीयता, पर्यावरणीय सम्बन्धों तथा सामाजिक जीवन के अन्य विभिन्न क्षेत्रों के प्रति एक नई समझ को विकसित किया जाता है, जो हमारे जीवन के परम्परागत तरीकों और दुनिया से जुड़े विविध मुद्दों को प्रभावित करता है। सांस्कृतिक संदर्भ में वैश्वीकरण सम्पूर्ण विश्व में बढ़ी हुई सांस्कृतिक अन्तर्सम्बन्धता का द्योतक है।

लोगों के उत्प्रवास, पर्यटन, वैश्विक अर्थव्यवस्था और राजनीतिक संस्थाओं के कारण दुनिया के विभिन्न भागों में सादृश्य जीवन-पद्धति के रूप में उसे देखा जा सकता है। वैश्वीकरण क्षेत्रीय संस्कृति के लिए विकल्प उपलब्ध कराता है। मानव अधिकारों, जनतंत्र, बाजार अर्थव्यवस्था, उत्पादन के नये तरीकों, उपभोग हेतु नये उत्पादों तथा विश्राम की आदतों आदि के विचारों को क्षेत्रीय संस्कृति के नवीन दृष्टिकोण द्वारा उपस्थित किया जाता है। इससे आविर्भाव होता है नई संस्कृति की समझ, राष्ट्रीयता, दुनिया, 'स्व', एक विदेशी हेतु क्या है? एक नागरिक हेतु क्या है? कैसे लोगों की राजनीतिक भागीदारी हो? तथा अन्य सामाजिक जीवन के विविध पक्षों आदि का।

### *वैश्वीकरण की परिभाषा (Definition of Globalisation)*

वैश्वीकरण एक नयी अवधारणा है। इसके विविध पक्षों का गम्भीर विश्लेषण अभी जारी है। अभी तक इसकी सर्वमान्य परिभाषा नहीं बन पायी है। इसे परिभाषित करने के कतिपय सार्थक प्रयास हुए हैं। इसी क्रम में इसकी कुछ परिभाषायें निम्नलिखित हैं:

**मैककोल्म वाटर्स के अनुसार**–वैश्वीकरण एक सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें भूगोल द्वारा सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्थाओं को दबाया जाता है जिससे लोग इस बात के लिए जागरूक होने लगते हैं कि उनका पश्चप्रवण हो रहा है।

**फ्राइडमैन के अनुसार**–वैश्वीकरण वास्तव में बाजारों, अर्थव्यवस्थाओं और प्रौद्योगिकियों का एकीकरण है। इसमें विश्व का मध्यम से छोटे रूप में एक संकुचन हो रहा है जिससे हम सभी दुनिया के हर कोने में इतनी जल्दी और सस्ते में पहुँच जायें जितने में पहले कभी सम्भव नहीं था। पूर्व की सभी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाओं की भाँति यह प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में घरेलू राजनीतियों, आर्थिक नीतियों तथा सभी देशों के विदेशी सम्बन्धों का स्वरूप प्रदान कर रहा है।

## 3.10 वैश्वीकरण सिद्धान्त (Globalisation Theory)

वैश्वीकरण का सिद्धान्त एक वैश्विक सांस्कृतिक व्यवस्था के प्रादुर्भाव का परीक्षण करता है। वैश्वीकरण सिद्धान्त के अनुसार सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के एक प्रकार द्वारा वैश्विक संस्कृति उत्पन्न की जाती है। एक विश्व सेटेलाइट सूचना व्यवस्था का अस्तित्व, उपभोग और उपभोक्तावाद का एक वैश्विक स्वरूप, सार्वभौम जीवन-पद्धति का संवर्धन, ओलम्पिक खेल, विश्वफुटबाल प्रतियोगिता, अन्तर्राष्ट्रीय टेनिस मैच जैसे सार्वभौमिक खेलों का विकास, विश्व पर्यटन का विस्तार, राष्ट्र-राज्य की प्रभुसत्ता का ह्रास, वैश्विक मिलिटरी व्यवस्था का विकास, विश्वस्तरीय परिस्थितिकीय-संकट की पहचान, विश्वस्तरीय स्वास्थ्य समस्याओं के प्रति जागरूकता का विकास, लीग ऑफ नेशन्स तथा संयुक्त राष्ट्र संघ (यू.एन.ओ.) जैसी विश्व राजनीतिक व्यवस्था का विकास, वैश्विक राजनीतिक आन्दोलनों का विकास, मानव अधिकारों की अवधारणा का विस्तार, दुनिया के धर्मों के बीच जटिल अन्तरपरिवर्तन। मुख्य रूप से वैश्विकता द्वारा दुनिया को एक स्थान के रूप में देखने की चेतना को बढ़ाया जाता है।

वैश्वीकरण द्वारा दुनिया को एक समग्र के रूप में देखने की दृष्टि पर बल दिया जा रहा है जिसमें दुनिया को एक अनवरत निर्मित होते रहने वाले पर्यावरण के स्तर पर देखा जाता है।

वैश्वीकरण एक प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का समाजशास्त्र है। वैश्वीकरण को विश्व-व्यवस्था सिद्धान्त के रूप में देखा जा सकता है। वैश्विक आर्थिक अन्योन्याश्रय के विकास को विश्लेषित करने वाला विश्व-व्यवस्था सिद्धान्त यह दावा करता है कि सांस्कृतिक वैश्वीकरण महज आर्थिक वैश्वीकरण का

परिणाम है। पहले यह दलील दी जाती थी कि राष्ट्र-राज्य का अभिसरण (Convergence) सुसंगत तथा एकरूपता वाले एक औद्योगिक समाज में हो रहा है। यह अवधारणा वास्तव में वैश्वीकरण की अवधारणा से नितान्त भिन्न है। समकालीन वैश्वीकरण सिद्धान्त की दलील है कि वैश्वीकरण वास्तव में विभेदीकरण और सजातीयताकरण जैसी दो परस्पर विरोधाभासी प्रक्रियाओं को एक साथ समेटे हुये है। जहाँ एक ओर क्षेत्रीयता की वैश्विकता के साथ जटिल अन्तर्क्रियाएँ चल रही हैं वहीं दूसरी ओर वैश्वीकरण के प्रक्रिया के खिलाफ जोरदार आन्दोलन भी चल रहे हैं। यह दलील देने वाले परम्परागत समाजशास्त्र के आलोचक हैं। ये अपनी आलोचन में कहते हैं कि "दुनिया, समाजों की एक व्यवस्था है", इस बात पर बल देने के बजाए परम्परागत समाज़शास्त्र 'राष्ट्र-राज्य' पर जोर देता है।

वैश्वीकरण-सिद्धान्त के साथ अनेकों समस्यायें हैं। कतिपय उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है। जैसे-वैश्वीकरण को किस प्रकार साम्राज्यवाद के नये प्रतिमान से पृथक किया जा सकता है? किस प्रकार से आर्थिक और सांस्कृतिक वैश्वीकरण के बीच विभाजक-रेखा खींची जाये? वैश्वीकरण और आधुनिकता के बीच के अन्तर को कैसे स्पष्ट किया जाये?

सन् 1990 से, वैश्वीकरण समाजशास्त्रियों के परम्परागत ज्ञान का हिस्सा बन चुका है। समकालीन समाजशास्त्र (Contemporary Sociology) नामक जर्नल ने सितम्बर 1996 के अपने अंक में पुस्तकों की विषय-वस्तु पर आधारित एक सर्वेक्षण प्रकाशित किया था। जिसका निष्कर्ष इस प्रकार है: नारी आन्दोलन, अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था, जीवन-प्रजनन, आव्रजनन (Immigration), प्रजाति-पार्थक्य (Apartheid), प्रजातिवाद, जंगल उत्पादित उद्योग, महासागरपारीय कम्पनियाँ (Transnational Corporations), खाद्य उत्पादन एवं वितरण, केंद्रीय बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्थायें, अमेरिकी विदेशी-नीति, तीसरी दुनिया के नगरों का विकास, आधुनिक समाजों के मूल्यों में परिवर्तन आदि इन सभी के शीर्षकों में वैश्विक, वैश्वीकरण जैसे शब्द अवश्य पाये गऐ हैं। यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि आज की दुनिया एक ऐसा ग्रह (Planet) बन चुकी है जिस पर देशों की सीमाओं से ऊपर उठकर फैशन के सभी सामान बनाये और बेचे जाते हैं। दुनिया के एक कोने से दूसरे कोने तक इलेक्ट्रानिक मेल भेजा और प्राप्त किया जा सकता है। दुनिया के एक कोने पर बैठा कोई व्यक्ति दुनिया के दूसरे कोने के सामान को ई-कामर्स द्वारा खरीद सकता है तथा ई-बैंकिंग सेवा के अन्तर्गत मास्टर कार्ड द्वारा कहीं से उसका भुगतान कर सकता है। उपयोगी वस्तुओं की शृंखला (Commodity Chains), साइबर समाज का विकास, पर्यावरण का समाजशास्त्र, लचर रोजगार (Flexible Employment), लचर कार्य (Flexible work), अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन, इण्टरनेट, बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ, नव उपनिवेशवाद आदि के रूप में रेखांकित किया जा सकता है।

## 3.11 वैश्वीकरण के प्रभाव (Impact of Globalisation)

वैश्वीकरण में सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रकार की ऊर्जा है। वैश्वीकरण एक दोधारी तलवार है। वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप विविध क्षेत्रों में सकारात्मक परिवर्तन हो रहे हैं। जबकि, इसके परिणामस्वरूप विविध क्षेत्रों में नकारात्मक परिवर्तन भी हो रहे हैं। इससे हानि तथा विनाश की स्थिति भी सामने आ रही है। इन दोनों पक्षों की विवेचना द्वारा ही वैश्वीकरण के परिणामों को समझना तार्किक और वैज्ञानिक मूल्यांकन होगा।

वैज्ञानिक, चिकित्सकीय तथा इसी प्रकार के अन्य आविष्कार सभी के लिए उपलब्ध हुये हैं। आज अधिकांश क्षेत्रों में गैरदेशीय (Transational) संगठनों का तेजी से निर्माण हो रहा है। हरित शांति (Green Peace), नारीवादी आन्दोलन (Women's Movements), स्थानीय समुदायों तथा देशीय लोगों के सशक्तीकरण से सम्बन्धित (Concern for Empowerment of Local Communities and Indigenous People) आदि आन्दोलनों के माध्यमों से दुनिया भर के लोग आपस में एकता का अनुभव कर रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सरकारी संगठनों के व्यापक जाल से एन.जी.ओ. (NGO's) के माध्यम से आज दुनिया के साथ जुड़ रहे हैं तथा एक अन्तर्राष्ट्रीय शासन व्यवस्था को विकसित करने का मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं।

वैश्वीकरण के नकारात्मक परिणाम भी बहुत अधिक हैं। बेरोजगारी को बढ़ावा मिल रहा है। दलील दी जाती है कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ उत्तर उपनिवेशवादी श्रम के विभाजन को बरकरार रखे हुए हैं, जो

मुख्यतया विकसित देशों द्वारा संचालित होते हैं तथा दुनिया के अविकसित देशों के सस्ते श्रम और कच्चे माल का भरपूर उपभोग करते हैं। विकसित राष्ट्रों के पास आंकड़ों का संकलन तथा सूचना प्रौद्योगिकी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। इसका विकसित राष्ट्रों द्वारा उत्पादन और वित्तीय विनियोग में इस्तेमाल किया जाता है। लम्बी दूरी तक तत्काल सम्प्रेषण स्थापित करने, समुद्रपार के देशों की कम्पनियों की वित्तीय व्यवस्थाओं को संचालित करने तथा बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के प्रबंधन को अंजाम देने में इस्तेमाल किया जाता है।

सेटेलाइट, टेलीविजन, इण्टरनेट, ई-मेल जैसे दूरसंचार के माध्यमों द्वारा पर्दे पर हरपल एक नई प्रतिमा परोसी जा रही है। फैशन की एक नई दुनिया प्रस्तुत की जा रही है। इसके माध्यम से एक नई वैश्विक प्रस्थिति निर्मित की जा रही है। सांस्कृतिक वस्तुओं, खान-पान, वेष-भूषा, संगीत, स्थापत्य, कला फिल्म आदि के माध्यम से एक नया स्वाद उत्पन्न किया जा रहा है जो नये वैश्विक व्यवहार को बढ़ावा दे रहा है। तथा स्थानीय पहचान को नष्ट कर रहा है।

**वैश्वीकरण के प्रभावों को मुख्य रूप से निम्नलिखित बिन्दुओं पर स्पष्ट किया जा सकता है–**

**विश्व अर्थव्यवस्था का एकीकरण (Integration of world Economy)**–आज दुनिया में उदारीकरण, खुली अर्थव्यवस्था एवं मुक्त बाजार प्रणाली लागू है। इसका सीधा अर्थ है विश्व अर्थव्यवस्था का एकीकरण। विश्व बैंक, डब्ल्यू.टी.ओ. (विश्व व्यापार संगठन) सहित विभिन्न आर्थिक तथा वाणिज्यिक संगठनों द्वारा विकासशील तथा अविकसित राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था को नियंत्रित किया जा रहा है। इसमें विकसित राष्ट्रों की अर्थनीति प्रभावी भूमिका निभा रही है।

**सामान्य मुद्रा (Common Currency)**–वैश्वीकरण के दौरान मुद्रा का एकीकरण हो रहा है। वर्ष 2001 में यूरोप के सभी देशों की एक सामान्य मुद्रा (A Common Currency) हो गयी है। 'इसका नाम है यूरो'। इससे सम्पूर्ण यूरोप के देशों को मुद्रा-विनिमय में सहजता हो गयी है। मुद्रा के विनिमय (Exchange of Currency) की समस्या से छुटकारा मिल गया।

नवम्बर 2003 में शार्क देशों का सम्मेलन सम्पन्न हुआ। इसमें एशियाई देशों की एक सामान्य मुद्रा (Common Currency) बनाने की आवाज उठी। यदि भविष्य में ऐसा सम्भव हुआ तो विकासशील देशों के लिए एक नई आशा की किरण दिखाई पड़ेगी।

विकासशील और अविकसित राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था मुख्य रूप से कृषि क्षेत्र पर निर्भर होती है। विशाल मानव पूँजी इसी पर निर्भर है। विश्व हेतु कृषि क्षेत्र को मुक्त करना इन देशों के लिए आत्मघाती होगा। जबकि, ऐसा करने के लिए दबाव पड़ रहा है। यह अर्थव्यवस्था के एकीकरण का नकारात्मक पक्ष है। इस संदर्भ में तथ्य इस प्रकार हैं। दिसम्बर 2003 में दक्षिण एशियाई देशों के सम्पन्न कानकुन सम्मेलन में विकासशील तथा अविकसित राष्ट्रों पर अपने कृषि क्षेत्रों को भी मुक्त करने हेतु दबाव पड़ा। दलील दी गयी कि इससे सकल घरेलू उत्पादन (जी.डी.पी.) में बढ़ोत्तरी होगी। कृषि क्षेत्र औद्योगिक क्षेत्र तथा रोजगार के क्षेत्र, ये तीनों क्षेत्रों के योगदान से सकल घरेलू उत्पादन (जी.डी.पी.) की दर निर्धारित की जाती है। औद्योगिक तथा रोजगार के क्षेत्र में अधिकांश देशों ने उदारीकरण तथा खुली अर्थव्यवस्था स्वीकार कर ली है। किन्तु, भारत जैसे कृषि प्रधान देश ने अभी तक कृषि क्षेत्र को विश्व हेतु नहीं खोला है। इसके लिए लगातार आर्थिक दबाव पड़ रहे हैं।

**विश्व बाजार का एकीकरण (Integration of World Market)**–20वीं शताब्दी दुनिया में औपनिवेशिक शासनतंत्रों की समाप्ति की शताब्दी रही। इसमें अनेकों राष्ट्र-राज्य से औपनिवेशिक शासनतंत्र समाप्त हुये। इसके लिए स्वतंत्रता संग्राम चले। इसी शताब्दी ने प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध भी झेले। अतः 20वीं शताब्दी को राष्ट्र-राज्य के राष्ट्रीय संघर्षों की शताब्दी के रूप में देखा जा सकता है। राष्ट्रीय संघर्षों के गर्भ से तीव्र राष्ट्रीयता ने जन्म लिया। राष्ट्रीयता, राष्ट्र-निर्माण की पूर्वगामिनी होती है। राष्ट्र-निर्माण के क्रम में तीव्र राष्ट्रीयता ने राष्ट्रीय बाजारों की पुनर्स्थापना की।

1980 के दशक में राजनीतिक उपनिवेशवाद ने आर्थिक उपनिवेशवाद के रूप में पुनर्जन्म ले लिया। इसे वैश्विक व्यवस्था का नाम दिया गया है। मुक्त बाजार व्यवस्था, मुक्त अर्थव्यवस्था, उदारीकरण की नीति, नवीन सूचना प्रौद्योगिकी आदि ने इसे पुष्पित पल्लवित होने के लिए उर्वरा भूमि उपलब्ध करायी। आज

विश्वबाजार का एकीकरण हो रहा है। अधिकांश देशों के माल की खपत हेतु अधिकांश देशों के बाजार खुले हैं। इसके सकारात्मक और नकारात्मक दोनों परिणाम सामने आ रहे हैं। विश्व बाजार के एकीकरण से सबके लिए सभी बाजारों के द्वार खुले हैं। इससे व्यापार और वाणिज्य की पर्याप्त सम्भावनायें उपलब्ध हुई हैं। अविकसित और विकासशील देशों की मानव पूँजी को कार्य के नये अवसर उपलब्ध हुये हैं तथा विदेशी मुद्रा के भंडार में वृद्धि हुई है।

इसके नकारात्मक परिणाम भी हैं। बाजार के दबाव से राष्ट्र-राज्य की नीतियाँ निर्धारित हो रही हैं। राष्ट्रीय मुद्दों में बाजार का सीधा दखल बढ़ रहा है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों तथा ट्रांसनेशनल कम्पनियों के मजबूत आर्थिक शिकंजे में बाज़ार फँस चुका है। बाज़ार द्वारा लघु तथा कुटीर उद्योग को हाशिये पर किया जा रहा है। आर्थिक दृष्टि से कमजोर लोगों की बाज़ार में भागीदारी महत्त्वहीन हो रही है। इससे शोषण तथा बेकारी जैसी सामाजिक समस्याओं को बढ़ावा मिल रहा है। बाज़ारवाद हावी हो रहा है। विज्ञापन आदि के माध्यम से उत्पादन के अनुरूप बाज़ार पैदा किया जा रहा है। इससे उपभोक्तावाद में तेजी से वृद्धि हो रही है। परिणामस्वरूप मानवीय चेतना सुसुप्त हो रही है। भारत सरकार ने दिनांक 26 मई, 2004 को विनिवेश मंत्रालय समाप्त कर दिया। फिर दिनांक 8 जुलाई, 2004 की संसद में बजट पेश करते हुए वित्तमंत्री ने अधिक विदेशी निवेश का प्रावधान किया। इससे बाजार के एकीकरण का एक नया स्वरूप सामने आ रहा है।

**राष्ट्रवाद बनाम वैश्वीकरण (Nationalism Versus Globalisation)**—अन्य सामाजिक तथ्यों की तरह राष्ट्रवाद भी ऐतिहासिक तथ्य है। लोक जीवन के विकास-क्रम में वस्तुनिष्ठ और भावनिष्ठ दोनों प्रकार के ऐतिहासिक तत्त्वों की परिपक्वता के पश्चात् राष्ट्रवाद का उद्भव हुआ। जैसा ई.एच. कार ने लिखा है, 'सही अर्थों में राष्ट्र का उदय मध्य युग की समाप्ति पर ही हुआ।' ए. आर. देसाई मानते हैं कि सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास के खास दौर में राष्ट्रों का जन्म हुआ। सामाजिक अस्तित्व के पूर्ववर्ती कालों के अराष्ट्रिक जनसमुदायों से आधुनिक युग के राष्ट्र अपने निम्नलिखित गुणों के कारण भिन्न हैं: राष्ट्र के सारे सदस्य किसी निश्चित भू-भाग में एक ही अर्थतंत्र के अन्तर्गत परस्पर जैविक रूप से संपृक्त होते हैं, जिसके फलस्वरूप उनमें सम्मिलित आर्थिक अस्तित्व का अभाव होता है, वे प्राय: एक ही भाषा का प्रयोग करते हैं, उनकी एक-सी मनोवैज्ञानिक टेलीफोन टेलेक्स, टेलीप्रिन्टर, टेलीविजन, रेडियो, डिजिटल माइक्रोसाफ्ट, आप्टिकल फाइवर, केबल, डाटकाम, इन्टरनेट, साफ्टवेयर, हार्डवेयर अर्थात नवीनतम संचार उपकरण पुरानी तकनीकों से कहीं अधिक प्रभावकारी हैं। इसका प्रभाव क्षेत्र भी कई गुना अधिक विस्तृत है। आधुनिक संचार तकनीक का मूल आधार है—कम्प्यूटर। इंटरनेट विश्व का सबसे बड़ा कम्प्यूटर नेटवर्क है, जो पूरी दुनिया के कोने-कोने में फैला है। इससे दुनिया के दृष्टिकोण में बुनियादी परिवर्तन आ रहा है। ई-बैंकिंग, ई-लर्निंग का प्रयोग धड़ल्ले से हो रहा है। कोई व्यक्ति दुनिया के किसी कोने में बैठकर हजारों मील दूर दूसरे कोने से धनराशि जमा कर सकता है और निकाल सकता है। इसी प्रकार से कोई व्यक्ति एक स्थान पर बैठे-बैठे हजारों मील दूर से प्रशिक्षण प्राप्त कर सकता है।

विभिन्न टी.वी. चैनल्स द्वारा प्रतिफल हमारे घर के अन्दर दुनिया के सभी कोने के समाचारों का सजीव प्रसारण किया जा रहा है। इसके माध्यम से विश्व एक परिवार में सिमट-सा गया है।

**सेटेलाइट ने दुनिया के तार को एक में पिरो दिया है। आई. टी. अर्थात सूचना प्रौद्योगिकी** (Information Technology) के अधिकांश उपकरण विकास का मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं तथा ज्ञान का वर्धन कर रहे हैं। आई. टी. (Information Technology) के सूचकों के प्रयोग सम्बन्धी आंकड़ों से वैश्वीकरण के बारे में एक प्रस्थापना निर्मित की जा सकती है। यह निम्नलिखित हैं—

वैश्वीकरण और सूचना प्रौद्योगिकी के बीच सह-सम्बन्ध है। जिन देशों में वैश्वीकरण की तीव्रता की दर उच्च है उसमें सूचना प्रौद्योगिकी के सूचकों के प्रयोग की दर भी उच्च है।

**ई-जर्नलिज्म**—संचार क्रान्ति ने वैश्वीकरण को गति और ऊर्जा प्रदान की है। मीडिया विशेषज्ञ मार्शल मैक्लूहन की पुस्तक 'द मीडियम इज मैसेज' (The Medium is Massage), माध्यम ही संदेश है द्वारा स्पष्ट होता है कि सूचना की तुलना में सूचनातंत्र का विशेष महत्व है। सूचना आज निर्णायक ताकत के रूप में उभरी है। इसका तंत्र आज न केवल विचारधारा के नियंत्रण से मुक्त है अपितु विचारधारा ही सूचना तंत्र

के जरिए नियंत्रित हो रही है। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि हर क्षेत्र में सूचना तंत्र की निर्णायक भूमिका है। शेयर बाजार का मिजाज तीव्र सूचना माध्यम तय करते हैं, न कि गतिशील विकास-दर। सूचना तथा सूचना तंत्रों का आज वैश्विक स्तर पर एकीकरण हो रहा है।

सूचना के प्रसारक, टेलीफोन, टेलीग्राफ और टेलेक्स अब पुराने पड़ते जा रहे हैं। ई-मेल (इलेक्ट्रानिक डाक), ई-फैक्स, सेल्यूलर फोन, पेजर, टेलीटेक्स्ट तथा कम्प्यूटर डेटा बैंक आगे बढ़ रहे हैं। माइक्रोचिप्स, उपग्रहों, माइक्रो तरंगों, रोबेट शोध प्रचलित हैं। कम्प्यूटर नेटवर्किंग ने पैर जमाना प्रारम्भ कर दिया है। विदेश संचार निगम लिमिटेड, नेशनल इन्फार्मेटिक्स सेंटर, सी-डॉट (सेंसर फार डेवलपमेंट ऑफ टेलीकम्युनिकेशन्स) द्वारा सूचना का प्रवाह अत्यन्त द्रुत गति से चल रहा है। इंटरनेट की बहुआयामी सक्रियता और तकनीकी कौशल को समाचारों की विशाल दुनिया से जोड़कर सूचना जगत में उस क्रान्ति का रास्ता आसान किया जा रहा है जहाँ खबर देने और लेने वाले एक दूसरे को अच्छी तरह समझते हैं, जहाँ उपभोक्ता को महज कूड़ापात्र नहीं समझा जाता बल्कि उसे उसकी रुचि के मुताबिक ठोस-सूचनाएँ पेश की जाती हैं।

सम्प्रति, ई-जर्नलिज्म जीवन और जगत का एक अनिवार्य अंग बन चुका है। इसने अपनी उपयोगिता तथा गुणवत्ता सिद्ध कर दी है। दुनिया के लिए यह एक वरदान सिद्ध हो रहा है। किन्तु इसका एक दूसरा पक्ष भी है। संचार क्रांति ने जिस वैश्वीकरण के शिशु को युवा बनाया है उस पर बहुत सारे आरोप भी लग रहे हैं।

प्रोफेसर **हर्बर्ट शिलर** के अनुसार मीडिया का राजनीतिक और आर्थिक सत्ता के साथ गहरा सम्बन्ध है। 'मास कम्युनिकेशन एण्ड अमेरिकन एम्पायर' (1969) और 'दि माइण्ड मैनेजर्स' (1973) नामक पुस्तक में शिलर ने भूमंडलीय वर्चस्व की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए मीडिया की भूमिका को रेखांकित किया है। वे मानते हैं कि 'सुपर हाइवे' के नाम से जितने भी परिवर्तन आ रहे हैं वे सब जनता की सम्पत्ति की कीमत पर आ रहे हैं। 'रेडियो स्पैक्ट्रम फ्रीक्वेंसी' का कारपोरेट हितों के विस्तार के लिए इस्तेमाल हो रहा है। इस पर कोई बहस या चर्चा नहीं हो रही है। 'रेडियो स्पैक्ट्रम फ्रीक्वेंसी' राष्ट्रीय सम्पत्ति है। प्राकृतिक संसाधन है। रेडियो का आरम्भ में जनता के संसाधन के रूप में इस्तेमाल शुरू हुआ था। किन्तु, बाद में इसका दुरुपयोग हुआ है। जिन्हें रेडियो प्रसारण के लिए लाइसेंस दिए गये वे जनता को दिए गये वायदों को भूल गये। वे मुनाफे के विस्तार के लिए रेडियो का इस्तेमाल करने लगे। 'रेडियो स्पैक्ट्रम फ्रीक्वेंसी' का जनता का स्वीकृति के बगैर व्यापारिक उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल किया जा रहा है। यही स्थिति आर्थिक उदारीकरण के कारण हमारे देश में भी है। रेडियो स्पैक्ट्रम फ्रीक्वेंसी का निजी व्यापारिक हितों के लिए इस्तेमाल हो रहा है। खासकर मीडिया और दूरसंचार के क्षेत्र में। मीडिया और दूरसंचार के विभिन्न माध्यमों द्वारा जनता को उपभोक्ता बनाया जा रहा है। जनता के चित्त और मनोविज्ञान को बदला जा रहा है। आधुनिक उपभोग के साधनों के प्रति भूख पैदा की जा रही है। उपभोक्तावादी संस्कृति का प्रचार-प्रसार जमकर किया जा रहा है। शिलर के विचारों के क्रम में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है। संचार क्रांति ने दुनिया के फायदे के लिए अपार सम्भावनायें उपस्थित की हैं। जबकि, संचार के अत्याधुनिक साधनों का अपने स्वार्थ-पूर्ति हेतु व्यापक दुरुपयोग भी किया जा रहा है। अतः प्रश्न यह खड़ा होता है कि आखिर दोष किसका है क्रान्ति का अथवा इसका दुरुपयोग करने वालों का? यह विचार-मंथन का विषय है।

**सांस्कृतिक बहुलवाद (Cultural Pluralism)**—जब किसी समाज में अधिकाधिक संस्कृतियों के लोग साथ-साथ रहते हैं तथा उनके इस प्रकार के सह-अस्तित्व का समर्थन भी किया जाता है, तब यह स्थिति सांस्कृतिक बहुलवाद के नाम से जानी जाती है। इसका उत्कृष्ट उदाहरण भारत है। यहाँ विभिन्न मत-मतान्तर वाले समुदायों को भारतीय समाज की महत् परम्पराओं में सहभागी रहते हुए अपनी-अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं के पालन की स्वच्छंदता रहती है।

वैश्वीकरण के दौर में एक संस्कृति के व्यक्ति की दूसरे संस्कृति वाले व्यक्ति के साथ अन्तर्क्रियाएँ अपरिहार्य हैं। इन अन्तर्क्रियाओं को विश्व समुदाय की स्वीकृति होती है। इसी के साथ-साथ एक देश के व्यक्ति का दूसरे देश में आवागमन भी बढ़ा है। व्यवसाय, वाणिज्य, राजनीतिक, सामाजिक अथवा अन्यान्य कारणों से आवागमन बढ़ा है। इसके परिणामस्वरूप सांस्कृतिक बहुलवाद को बढ़ावा मिल रहा है।

आज सांस्कृतिक आन्तरिक सम्बन्धता को बढ़ावा मिल रहा है। इसका मुख्य कारण है जनसंचार, उत्प्रवास, पर्यटन, विदेशी कम्पनियाँ; आदि। वैश्वीकरण के कारण विकसित और विकासशील देशों के बड़े नगरों की ओर उत्प्रवास तेजी से बढ़ रहा है। इससे लोगों के समक्ष यह समस्या खड़ी हो रही है कि वे अपने ही मूल निवास स्थान पर अपनी परम्परागत तथा लोकसंस्कृति, राष्ट्रीयता, नागरिकता तथा सामाजिक जीवन के अन्य पक्षों के साथ समायोजन करके किस प्रकार से जीवन व्यतीत करें।

कुछ समाजवैज्ञानिक यह मानते हैं कि वैश्वीकरण के फलस्वरूप बहुसंस्कृतिवाद (Multiculturism) को बढ़ावा मिल रहा है। खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा सहित जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं की सामग्री तथा एक देश के उत्पादन की दूसरे देश में आज खपत हो रही है। इसके माध्यम से भी एक देश की संस्कृति दूसरे देश में पहुँच रही है। आकाशीय मार्ग से विदेशी संस्कृति हमारे घरों में प्रवेश कर रही है। विभिन्न टी.बी. चैनल्स विदेशी संस्कृति के वाहक हैं। कुछ लोग इसे सांस्कृतिक आक्रमण की संज्ञा भी प्रदान करते हैं।

**भाषाई वर्चस्व (Linguistic Dominance)**—वैश्वीकरण का एक दुष्परिणाम यह हुआ कि कमजोर देशों की भाषाएँ मार खा गयीं। हिन्दी उतनी मार नहीं खायेगी। क्योंकि, हिन्दी देश की अपनी आन्तरिक शक्ति है। लेकिन जो कमजोर देश हैं, गरीब देश हैं, जिनकी आबादी कम है, उनकी भाषाएँ यदि निश्चिन्ह न भी हों तो भी बहुत दुर्बल हो जायेंगी। यदि उनको दुनिया के मुकाबले में आना है तो इण्टरनेट में आना होगा। इण्टरनेट में आने के लिए अंग्रेजी सीखनी पड़ेगी। सारा का सारा आधुनिकतम ज्ञान अगर हमको किसी एक भाषा से जल्दी मिल सकता है तो वह अंग्रेजी है। वैश्वीकरण का सबसे प्रभावी और उदीयमान उपकरण इण्टरनेट अंग्रेजी का सबसे बड़ा वाहक बन गयी है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ तथा ट्रांसनेशनल कम्पनियाँ भी अंग्रेजी की वाहक हैं। अंग्रेजी का आक्रमण आकाशीय मार्ग अर्थात् विदेशी टी.वी. चैनलों द्वारा भी हो रहा है।

आज भूमण्डलीकरण के कारण राष्ट्रीयता और भाषा निरपेक्षता, राष्ट्र निरपेक्षता और भाषा निरपेक्षता दोनों के आगे एक भविष्य बन रहा है। हम वैश्वीकरण के सांस्कृतिक पक्ष से ही सरोकार रखें तो साम्राज्यवादी संस्कृति या साम्राज्यवाद के सांस्कृतिक मोर्चे सम्बन्धी विवाद तत्काल ध्यान आकर्षित करते हैं। इस संदर्भ में भाषाओं के विलोपीकरण का मुद्दा, जिससे यूनेस्को भी चिन्तित है, नए रूप में आ खड़ा होता है। क्या वैश्वीकरण के कारण कुछ का या अंतत: अंग्रेजी का वर्चस्व कायम हो जायेगा और अन्य भाषाएँ गौण से गौणतर होती हुई विलुप्त हो जायेंगी? यह प्रश्न विशेषकर अविकसित और विकासशील देशों की भाषाओं के बारे में खास तौर पर प्रासंगिक होता जा रहा है।

अंतर्राष्ट्रीय उद्योग-व्यवसाय की भाषा अधिकाधिक अंग्रेजी होती जा रही है।

**आउट सोर्सिंग (Out Sourcing)**—वैश्वीकरण का एक प्रमुख एजेंट है आउट सोर्सिंग। अमेरिका तथा यूरोप के देशों में आज आउट सोर्सिंग पर गर्मागर्म बहस चल रही है। इसकी शुरुआत अमेरिका ने ही की थी। किन्तु, आज वही इसे बंद करने के लिए प्रयासरत है क्योंकि, इससे विकासशील राष्ट्रों को फायदा पहुँच रहा है। अमेरिकी खुफिया विभाग की एक महत्वपूर्ण शाखा है एन.टी.सी. (नेशनल इंटेलिजेंस काउंसिल)। यह अमेरिकी सरकार को खुफिया जानकारियाँ तथा सलाह उपलब्ध कराती है। एन.टी.सी. प्रमुख श्री राबर्ट एल. हिकिक्स ने मार्च 2004 में अमेरिकी सरकार को एक रिपोर्ट सौंपी है। दिनांक 21 मार्च, 2004 को यह रिपोर्ट दुनिया के अखबारों में छपी। रिपोर्ट के अनुसार व्यवसाय संबंधी आउट सोर्सिंग एक नवीन रुझान है। यह कम्पनियों को अपनी उत्पादन दर को घटाने में मदद करता है। इसके द्वारा भविष्य में आने वाले खतरों से अमेरिकियों को आगाह करते हुए रिपोर्ट में कहा गया कि बड़े पैमाने पर विदेशी कम्पनियाँ आउट सोर्सिंग द्वारा अमेरिकी सूचनाएँ और प्रौद्योगिकी चुरा रही हैं। इससे विदेशों से कम्प्यूटर कोड्स और हार्डवेयर के आयात सम्बन्धी सुरक्षा का गम्भीर संकट आने वाला है।

रिपोर्ट में खुफिया प्रमुख ने आर्थिक तथा अन्य गोपनीयताओं की आउट सोर्सिंग द्वारा की जा रही चोरी से सावधान करते हुए कहा है कि आने वाले पन्द्रह वर्षों में सिर्फ सॉफ्टवेयर के क्षेत्र में तीस लाख रोजगार अमेरिका से बाहर चले जायेंगे। इसमें से 70 प्रतिशत भारत में, 20 प्रतिशत फिलीपीन्स में तथा 10 प्रतिशत चीन में रोजगार चले जायेंगे। **"वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप आउट सोर्सिंग तेजी से। आउट सोर्सिंग के माध्यम से विकासशील देशों में लाखों रोजगार का आगमन।"** यह समाचार विकासशील

देशों के लिए उत्साहजनक है तथा विकसित देशों के लिए निराशाजनक है। इसीलिए आज अमेरिका में विदेशियों के लिए आउट सोर्सिंग पर प्रतिबंध लगाने की पहल जारी है।

**प्रव्रजन अथवा देशान्तर (Migration)**–किसी एक भौगोलक/राष्ट्रीय क्षेत्र से दूसरे भौगोलिक राष्ट्रीय क्षेत्र में सापेक्षत: स्थायी गमन की प्रक्रिया प्रव्रजन या देशान्तर के नाम से जानी जाती है। भ्रमण और प्रव्रजन में अन्तर है। भ्रमण पूर्णत: अस्थायी होता है, जबकि प्रव्रजन की स्थिति में स्थायित्व का तत्व विद्यमान होता है।

इसी से मिलती-जुलती दो अन्य अवधारणाएँ यथा उत्प्रवास और आव्रजन हैं। किसी व्यक्ति द्वारा अपने देश को छोड़कर दूसरे देश में जाने की प्रक्रिया 'उत्प्रवास' (एमिग्रेशन) कहलाती है। इसके विपरीत, देश में आने की प्रक्रिया को 'आव्रजन' या आप्रवास (इनइग्रेशन) कहते हैं। इसके अतिरिक्त प्रव्रजन का एक दूसरा रूप भी है जिसे 'आन्तरिक प्रव्रजन' कहते हैं। इस प्रकार के प्रव्रजन में एक ही देश में एक स्थान से दूसरे स्थान जैसे गाँव से शहर की ओर निष्क्रमण अथवा शहर के मध्य क्षेत्र से उपनगरों की ओर गमन की प्रक्रिया भी सम्मिलित की जाती हैं। वैश्वीकरण द्वारा प्रव्रजन की प्रक्रिया तीव्र हुई है। एक देश के नागरिक द्वारा दूसरे देश में पूँजी निवेश किया जा रहा है। इसके लिए उसका दूसरे देश में आना-जाना बढ़ रहा है। अविकसित तथा विकासशील देशों के दक्ष लोग रोजगार की तलाश में अमेरिका तथा यूरोप में तेजी से अधिक संख्या में जा रहे हैं। वहीं निवास कर रहे हैं। वैश्वीकरण ने इस प्रक्रिया को गति प्रदान की है। इससे उत्प्रवास (एमिग्रेशन) की गति तीव्र हुई है।

अप्रवासी भारतीयों (एन.आर.आई.) को भारत में पूँजी निवेश के लिए आमंत्रित किया जा रहा है। इसके लिए अप्रवासी भारतीयों को सरकारी और कानूनी स्तर पर बहुत सारी सहूलियतें मुहैया करायी गयी हैं। देश में एन.आर.आई. द्वारा पूँजी निवेश को बढ़ाने हेतु उन्हें दोहरी नागरिकता की वकालत की गयी। इससे आकर्षित होकर अप्रवासी भारतीय बड़ी संख्या में भारत आ रहे हैं। वे यहाँ पूँजी निवेश के लिए तत्पर हैं। यह प्रक्रिया दुनिया के विभिन्न देशों में जारी है। इससे आव्रजन या आप्रवास (इमाइग्रेशन) की प्रक्रिया तीव्र हुई है। यद्यपि भारत सरकार द्वारा दिनांक 26 मई, 2004 को विनिवेश मंत्रालय समाप्त किये जाने तथा दिनांक 8 जुलाई, 2004 को संसद में बजट पेश करते हुए विदेशी निवेश को बढ़ाने हेतु प्रावधान करने के बाद भविष्य में इसका क्या प्रभाव पड़ेगा यह विचारणीय विषय है।

प्रव्रजन, उत्प्रवास, आव्रजन अथवा अप्रवास के बहुआयामी परिणाम सामने आते हैं। नए देश की नयी संस्कृति में समायोजन की समस्या। नये प्रकार के प्रकार्यात्मक सम्बन्धों (Functional Relationships) का उदय। एक संस्कृति के लोगों का दूसरे संस्कृति के लोगों के साथ मूल्य, मानक, जीवन-पद्धति, व्यवहार, अन्तर्क्रियाएँ आदि के स्तर पर एका अथवा द्वन्द्व। जनांकिकी (Demography) सम्बन्धी समस्या। ये मुद्दे वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप सामने आये हैं। इन मुद्दों का समाजशास्त्रीय अध्ययन आवश्यक है। इससे वैश्वीकरण के प्रभाव का अध्ययन किया जा सकता है।

**वैश्वीकरण का वाहक : मध्यम वर्ग (Middle Class : Carrier of Globalisation)**–किसी समाज की आर्थिक तथा सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था का वह भाग जिसका स्तर न तो अत्यधिक निम्न होता है और न ही अत्यधिक ऊँचा। यह सामाजिक वर्ग कुलीन वर्ग तथा सर्वहारा द्वारा बने सामाजिक माप के दो छोर बिन्दुओं के मध्य में स्थिर होता है। इस वर्ग में मुख्यत: सफेदपोश तथा निम्न प्रबंधकीय व्यवसायों में कार्यरत व्यक्तियों को सम्मिलित किया जाता है।

यूरोपीय पुनर्जागरण के फलस्वरूप एक नयी सामाजिक व्यवस्था सामने आयी। इसमें आधुनिकता ने बहुआयामी परिवर्तन किये। भारतीय पुनर्जागरण इसी की एक कड़ी है। रोजगार और व्यवसाय के नये अवसर उपलब्ध हुये। कर्मचारी तंत्र (Bureaucracy), तकनीकी तंत्र (Technocracy), वकील, डॉक्टर, इंजीनियर, अध्यापक, मझोले व्यापारिक प्रतिष्ठानों के प्रबंध निदेशक, क्षेत्रीय और प्रांतीय राजनेता, जैसे अनेकों वर्ग न सिर्फ अस्तित्व में आये वरन् ये धीरे-धीरे एक प्रभावशाली वर्ग के सदस्य बन गये। यही मध्यम वर्ग के नाम से जाना जाता है। इसने परिवर्तन के निर्वाहक की भूमिका अदा की है। आज वैश्वीकरण का मुख्य वाहक मध्यम वर्ग है। यही बाजारवाद में मुख्य उपभोक्ता है। आज विभिन्न टी.वी. चैनल्स को सबसे अधिक मध्यमवर्ग देख रहा है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के माल की खपत करने वालों में मध्यम वर्ग अग्रणी है।

**श्रम का भूमण्डलीकरण (Globalisation of Labour)**–जब से वैश्वीकरण ने दुनिया को एक बाज़ार के रूप में परिवर्तित किया है तब से श्रमिकों की आवाज कमज़ोर हो गयी है। राष्ट्रीय सरकार अपने अधिकारों से वंचित हो रही है। सामूहिक असुरक्षा तथा वित्तीय पूँजी को बढ़ावा मिल रहा है। धनी देशों में गैर विशेषज्ञ श्रमिकों के सम्मुख रोज़गार की समस्या खड़ी हो गयी है। वैश्वीकरण द्वारा गैर विशेषज्ञ लोगों को रोज़गार की मुख्य धारा से अलग-थलग किया जा रहा है। निजीकरण के कारण रोज़गार की गारंटी समाप्त हो रही है। कम पढ़े लिखे तथा गैर विशेषज्ञों में सुरक्षित तथा उत्साहजनक भविष्य के लिए निराशा घर कर रही है। इससे वे अपने समुदाय से परकीकृत हो रहे हैं। इससे नृजाति चेतना, सामाजिक अशांति तथा हिंसा को फलने-फूलने के लिए उर्वरा भूमि प्राप्त हो रही है। अंतर्राष्ट्रीय औद्योगिक प्रतिष्ठानों की तुलना में लघु तथा कुटीर उद्योग मार खा रहे हैं। लघु तथा कुटीर उद्योगों में लगे शिल्पकार तथा परंपरागत व्यवसायों के विशेषज्ञों को बेरोजगारी का सामना करना पड़ रहा है। श्रम संघों की भूमिका निष्प्रभावी हो रही है।

## 3.12 सारांश (Summary)

- परिवर्तन प्रकृति का एक शाश्वत एवं अटल नियम है। मानव समाज भी उसी प्रकृति का अंग होने के कारण परिवर्तनशील है। समाज की इस परिवर्तनशील प्रकृति को स्वीकार करते हुए **मैकाइवर** लिखते हैं, "समाज परिवर्तनशील एवं गत्यात्मक है।" बहुत समय पूर्व ग्रीक विद्वान **हेरिक्लिटिस** ने भी कहा था, "सभी वस्तुएँ परिवर्तन के बहाव में हैं।"
- परिवर्तन का सामान्य तात्पर्य है–किसी क्रिया अथवा वस्तु की पहले की स्थिति में बदलाव आ जाना। परिवर्तन को स्पष्ट करते हुए **फिचर** लिखते हैं, "संक्षेप में, परिवर्तन पहले की अवस्था या अस्तित्व के प्रकार में अन्तर को कहते हैं। परिवर्तन का सम्बन्ध प्रमुख रूप से तीन बातों से है–(1) वस्तु, (2) समय एवं (3) भिन्नता।"
- परम्परात्मक समाजों में होने वाले परिवर्तनों या औद्योगीकरण के कारण पश्चिमी समाजों में आये परिवर्तनों को समझने तथा दोनों में भिन्नता प्रकट करने के लिए विद्वानों ने आधुनिकीकरण की अवधारणा को जन्म दिया।
- किसी समाज विशेष को कितना आधुनिक कहा जायेगा; यह इस बात पर निर्भर करता है कि वहाँ जड़ शक्ति तथा यन्त्रों का कितना प्रयोग हुआ है।
- लौकिकीकरण वह प्रक्रिया है जिसके परिणामस्वरूप किसी समाज में धर्म के आधार पर सामाजिक व्यवहार में भेदभाव समाप्त किया जाता है। धर्मनिरपेक्षीकरण जो बुद्धिवाद पर आधारित है, आधुनिकीकरण के लिए आवश्यक है। चूंकि प्रत्येक समाज अब आधुनिकृत होना चाहता है, इसलिए वह धर्मनिरपेक्षीकरण को आश्रय दे रहा है।
- शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से यह वह प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति के अस्तित्व, महत्त्व, पहचान या विकास का धर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं जोड़ा जाता है। धर्मनिरपेक्षीकरण का प्रत्यक्ष सम्बन्ध तार्किक दृष्टिकोण से है। इसके अन्तर्गत विश्व की व्याख्या विशुद्ध चिन्तन के रूप में प्रस्तुत की जाती है। धर्मनिरपेक्षीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा परम्परागत विश्वासों तथा धारणाओं के स्थान पर तार्किक ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है।
- वैश्वीकरण वह प्रक्रिया है जिसके जरिये विश्वस्तर पर संकुचन हो रहा है। जो राष्ट्र-स्तर पर था, वह आज विश्व-स्तर पर हो गया है।
- वैश्वीकरण एक बहुआयामी जटिल प्रक्रिया है। इसके अन्तर्गत बाजारों, वित्त और प्रौद्योगिकीयों का एकीकरण हो रहा है। विश्व का ऐसा संकुचन हो रहा है कि जिसके प्रत्येक कोने में हम इतनी जल्दी और सस्ते में पहुँच जायें जितने में पहले कभी सम्भव नहीं था। पूर्व की सभी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाओं की भाँति यह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में घरेलू राजनीतियों, आर्थिक नीतियों तथा सभी देशों के विदेशी सम्बन्धों को स्वरूप प्रदान कर रहा है।

## 3.13 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. सामाजिक परिवर्तन से क्या समझते हैं?
2. सामाजिक परिवर्तन को परिभाषित करते हुए इसकी विशेषताओं को बताएँ।
3. आधुनिकीकरण की अवधारणा को समझाएँ।
4. लौकिकीकरण से क्या तात्पर्य है? इसकी विशेषताओं का वर्णन करें।
5. वैश्वीकरण के अर्थ को समझाते हुए, इसे परिभाषित करें।
6. वैश्वीकरण के प्रभावों की विवेचना करें।

नोट

## 3.14 सदर्भ पुस्तकें (Further Readings)


- भारतीय समाज–राम आहुजा।
- विकास का समाजशास्त्र–दूबे श्यामाचरण, वाणी पब्लिकेशन।
- सैद्धांतिक समाजशास्त्र–वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा।
- समाजशास्त्र के मूलतत्व–जे. पी. सिंह, पी.एच.आई; लर्निंग प्रा. लि.।
- समाजशास्त्र का परिचय–वीरेन्द्र प्रकाश, पंचशील प्रकाशन।

नोट

इकाई-4
(Unit-4)

# सामाजिक स्तरीकरण
# (Social Stratification)

## रूपरेखा

4.1 उद्देश्य (Objectives)
4.2 प्रस्तावना (Introduction)
4.3 सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Social Stratification)
4.4 सामाजिक स्तरीकरण एवं विभेदीकरण (Social Stratification and Differentiation)
4.5 स्तरीकरण एवं विभेदीकरण में अंतर (Distinction between Stratification and Differentiation)
4.6 सामाजिक स्तरीकरण की आवश्यकता (Necessity of Social Stratification)
4.7 सामाजिक स्तरीकरण की विशेषताएँ (Characteristics of Social Stratification)
4.8 सामाजिक स्तरीकरण के आधार (Bases of Social Stratification)
4.9 सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप (प्रकार) (Forms of Social Stratification)
4.10 सामाजिक स्तरीकरण का महत्त्व (प्रकार्य) (Importance (Functions) of Social Stratification)
4.11 सामाजिक स्तरीकरण के अकार्य (Dysfunctions of Social Stratification)
4.12 जाति व्यवस्था और सामाजिक स्तरीकरण (Caste System and Social Stratification)
4.13 जाति: अध्ययन के तीन परिप्रेक्ष्य (Caste: Three Perspectives of the Study)
4.14 जाति व्यवस्था में परिवर्तन (Transformation of Caste System)
4.15 क्या जाति व्यवस्था परिवर्तित हो रही है? (Is Caste System Changing?)
4.16 जाति व्यवस्था का भविष्य (Future of Caste System)
4.17 जाति की गतिशीलता (Mobility of Caste)
4.18 समानता और सामाजिक संरचना के मुद्दे (Issues of Equality and Social Structure)
4.19 जाति और राजनीति (Caste and Politics)
4.20 लिंग भेदभाव (Gender Discrimination)
4.21 सारांश (Summary)
4.22 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
4.23 संदर्भ ग्रंथ (Further Readings)

## 4.1 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- सामाजिक स्तरीकरण एवं विभेदीकरण तथा इसके अंतर को समझने में;
- सामाजिक स्तरीकरण की विशेषता, स्वरूप तथा महत्त्व को समझने में;
- सामाजिक स्तरीकरण और जाति व्यवस्था को समझने में,
- जाति और राजनीति को समझने में।

नोट

## 4.2 प्रस्तावना (Introduction)

आदिकाल से ही मानव समाज में असमानता व्याप्त रही है। ऐसा समाज जहाँ उसके सदस्यों में वास्तविक रूप में समानता हो और स्तरीकरण का अभाव हो, एक कोरी कल्पना है। मानव समाज के इतिहास में ऐसी स्थिति कभी नहीं रही। समनर की मान्यता है कि इतिहास में कभी भी ऐसा समय नहीं रहा है जिसमें वर्ग घृणा उपस्थित नहीं रही हो। अनेक मानवशास्त्रियों ने आदिम समाजों में समानता का उल्लेख किया है, किन्तु उनमें भी आज के समाज की भाँति सामाजिक विषमता के आधार पर समाज में उच्चता और निम्नता का भेद अवश्य रहा है। जैसा कि **गिटलर** कहते हैं, "असमानता सभी संस्कृतियों की विशेषता है, यद्यपि एक समूह से दूसरे समूह में, एक संस्कृति से दूसरी संस्कृति में असमानता के विस्तार एवं प्रकार में अन्तर पाया जाता है।" हम प्रत्येक समाज में दो प्रकार का विभेदीकरण देख सकते हैं। व्यक्तिगत एवं सामाजिक। दो व्यक्तियों के बीच रंग, रूप, नाक, नक्शा, लम्बाई-चौड़ाई, आयु एवं लिंग के आधार पर पाया जाने वाला अन्तर व्यक्तिगत विभेदीकरण है, जबकि कार्य, धर्म, संस्कृति, रुचि, आर्थिक स्थिति, राजनीतिक सत्ता एवं पद के आधार पर पाये जाने वाले अन्तर को सामाजिक विभेदीकरण कहते हैं।

जब सामाजिक विभेदीकरण में उच्चता एवं निम्नता के भाव जुड़ जाते हैं तो वह सामाजिक स्तरीकरण को जन्म देता है। स्तरीकरण के लिए प्राणीशास्त्रीय एवं सांस्कृतिक विशेषताएँ उत्तरदायी हैं। मानव की सभ्यता एवं समाज के विकास के साथ-साथ सामाजिक असमानता बढ़ती गयी और मानस समाज उच्च और निम्न स्तरों में विभाजित हो गया। समाज में व्याप्त उच्चता और निम्नता की स्थिति को ही हम सामाजिक स्तरीकरण कहते हैं। अन्य शब्दों में, **स्तरीकरण समाज के समूहों एवं सदस्यों के विभिन्न स्तरों में बंटने की प्रक्रिया है।** सामाजिक स्तरीकरण के द्वारा समाज में कार्य-विभाजन करके सामाजिक एकता एवं संगठन को बनाये रखा जाता है और योग्य तथा बुद्धिमान व्यक्तियों को प्रोत्साहन दिया जाता है। प्रत्येक समाज में स्तरीकरण के लिए प्रदत्त और अर्जित दोनों ही आधार पाये जाते हैं।

## 4.3 सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Social Stratification)

सामाजिक स्तरीकरण समाज को उच्च एवं निम्न वर्गों में विभाजित करने और स्तर निर्माण करने की एक व्यवस्था है। स्तरीकरण शब्द समाजशास्त्र में भू-गर्भशास्त्र (Geology) से लिया गया है। भू-गर्भशास्त्र में मिट्टी व चट्टानों को विभिन्न स्तरों में बाँटा जाता है। समाज में उसी प्रकार की अनेक सामाजिक परतें पायी जाती हैं। प्रत्येक समाज अपनी जनसंख्या को आय, व्यवसाय, सम्पत्ति, जाति, धर्म, शिक्षा, प्रजाति एवं पदों के आधार पर निम्न एवं उच्च श्रेणियों में विभाजित करता है। प्रत्येक विभाजन एक परत के समान है और ये सभी परतें जब उच्चता एवं निम्नता के क्रम में रखी जाती हैं तो सामाजिक स्तरीकरण के नाम से जानी जाती हैं। विभिन्न विद्वानों ने सामाजिक स्तरीकरण को निम्न प्रकार परिभाषित किया है:

**जिसबर्ट** के अनुसार, "सामाजिक स्तरीकरण समाज का उन स्थायी समूहों अथवा श्रेणियों में विभाजन है जो कि आपस में श्रेष्ठता एवं अधीनता के सम्बन्धों द्वारा सम्बद्ध होते हैं।"

**रेमण्ड मूरे** के अनुसार, "स्तरीकरण उच्चतर एवं निम्नतर सामाजिक इकाइयों में समाज का क्षैतिज विभाजन है।"

**सदरलैण्ड** एवं **वुडवर्ड** के शब्दों में, "स्तरीकरण केवल अन्तःक्रिया अथवा विभेदीकरण की ही एक प्रक्रिया है, जिसमें कुछ व्यक्तियों को दूसरे व्यक्तियों की तुलना में उच्च स्थिति प्राप्त होती है।"

**टालकॉट पारसन्स** के अनुसार, "किसी समाज व्यवस्था में व्यक्तियों का ऊँचे और नीचे क्रम-विन्यास में विभाजन ही स्तरीकरण है।"

**ऑगबर्न एवं निमकॉफ** के अनुसार, "वह प्रक्रिया जिसके द्वारा व्यक्तियों एवं समूहों को थोड़े-बहुत स्थायी प्रस्थितियों के उच्चता और निम्नता के क्रम में श्रेणीबद्ध किया जाता है, स्तरीकरण के नाम से जानी जाती है।" उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक स्तरीकरण द्वारा समाज विभिन्न उच्च एवं निम्न समूहों में विभाजित एवं व्यवस्थित होता है तथा ये समूह परस्पर एक-दूसरे से जुड़े होते हैं और सामाजिक एकता को बनाये रखते हुए समाज में स्थिरता कायम रखते हैं।

## 4.4 सामाजिक स्तरीकरण एवं विभेदीकरण (Social Stratification and Differentiation)

सामाजिक स्तरीकरण को अधिक स्पष्टतः समझने के लिए विभेदीकरण की अवधारणा को समझ लेना भी आवश्यक है। सामाजिक विभेदीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्तियों और समूहों को कुछ मूर्त आधारों पर विभाजित किया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि आयु, लिंग, बुद्धि, व्यक्तित्व, धर्म, प्रजाति, शिक्षा, भाषा एवं सम्पत्ति, आदि के आधार पर व्यक्तियों को अनेक वर्गों में विभाजित कर दिया जाए तो इस प्रक्रिया को हम सामाजिक विभेदीकरण कहेंगे। सामाजिक विभेदीकरण भी समाज में आदिकाल से चला आ रहा है, प्राचीन समय में ही आयु, लिंग, एवं रंग के आधार पर व्यक्तियों में भेद किया जाता रहा है। सामाजिक विभेदीकरण का अर्थ स्पष्ट करते हुए **लम्ले** लिखते हैं, "विभेदीकरण से हमारा अर्थ उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा व्यक्ति भिन्नताओं का पोषण करते हैं जिन्हें एक साथ रखने पर आरकेस्ट्रा के विभिन्न वादकों की तरह एक पूर्णतया समन्वययुक्त सम्पूर्ण की रचना होती है।"

**न्यूमेयर** के अनुसार, सामाजिक विभेदीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें अनेक जैविकीय, वंशानुगत और शारीरिक विशेषताओं जैसे आयु, लिंग, प्रजाति, सपिण्डता, व्यक्तिगत व्यवसाय, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, सामाजिक स्थिति, सामाजिक उपलब्धियों, समूह की रचना और सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर अनेक व्यक्तियों तथा समूह में सामाजिक भिन्नता उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार सामाजिक भिन्नताएँ विभेदीकरण की प्रक्रिया का आधार भी हैं और उपज भी। इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि व्यक्ति एवं समूहों में पायी जाने वाली विभिन्नताएँ समाज में विभेदीकरण उत्पन्न करती हैं। सामाजिक विभेदीकरण को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम उसकी विशेषताओं का यहाँ उल्लेख करेंगे:

1. विभेदीकरण एक तटस्थ अवधारणा है, उससे श्रेष्ठता एवं निम्नता के भाव प्रकट नहीं होते। उदाहरण के लिए, हम लोगों को उनके लिंग के आधार पर स्त्री व पुरुष में तथा आयु के आधार पर बाल, युवा और वृद्ध में विभाजित करते हैं तो यह विभेदीकरण कहलायेगा। इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि स्त्री व पुरुष, बालक, युवा एवं वृद्ध में कौन श्रेष्ठ है और कौन निम्न।
2. सामाजिक विभेदीकरण एक जागरूक प्रक्रिया है। इसका अर्थ है–समाज का प्रत्येक व्यक्ति विभेदीकरण के प्रति जागरूक है। हर व्यक्ति यह जानता है कि वह लिंग, आयु, रंग एवं अन्य आधारों पर दूसरों से भिन्नता रखता है।
3. सामाजिक विभेदीकरण का निर्धारण बाह्य एवं स्पष्ट कारकों द्वारा किया जाता है। उदाहरण के रूप में, लिंग, आयु, प्रजाति, सामाजिक प्रतिष्ठा एवं आर्थिक प्रगति के आधार पर हम व्यक्तियों में परस्पर भेद कर सकते हैं। ये आधार ही विभेदीकरण को विकसित करते हैं।
4. सामाजिक विभेदीकरण अवैयक्तिक है, इसका सम्बन्ध समूह एवं समाज को भिन्नता के आधार पर विभाजित करने से है, उनमें विरोध या संघर्ष पैदा करने से नहीं।
5. विभेदीकरण एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है, यह आदिकाल से सभी समाजों में व्याप्त रही है।

## 4.5 स्तरीकरण एवं विभेदीकरण में अन्तर (Distinction between Stratification and Differentiation)

सामाजिक स्तरीकरण एवं विभेदीकरण दोनों ही समाज को विभिन्न समूहों में विभाजित करने की प्रक्रियाएँ हैं। ये एक-दूसरे की पूरक होते हुए भी परस्पर भिन्नता लिये हुए हैं। इन दोनों में निम्न अन्तर हैं:

1. सामाजिक स्तरीकरण का उद्देश्य कुछ विशेष परिस्थितियों को धारण करने वाले व्यक्तियों को अधिक अधिकार, सुविधाएँ एवं सुरक्षा प्रदान करना है। इसीलिए यह एक जागरूक एवं जान-बूझकर अपनायी जाने वाली प्रक्रिया है। दूसरी ओर विभेदीकरण एक स्वतः स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने वाली प्रक्रिया है। इसका विकास जान-बूझकर योजनाबद्ध रूप से नहीं किया जाता है।

नोट

2. सामाजिक विभेदीकरण में तो केवल व्यक्तियों एवं समूहों के बीच भिन्नता ज्ञात होती है जबकि स्तरीकरण से भिन्नता के साथ-साथ उच्चता, निम्नता, विशेषाधिकार, सुविधाएँ एवं अधीनता का ज्ञान भी होता है।
3. सामाजिक विभेदीकरण के लिए समूहों का स्थायी होना आवश्यक नहीं जबकि स्तरीकरण में उच्चता और निम्नता के निर्धारण के लिए स्थायी समूहों का होना आवश्यक है।
4. सामाजिक विभेदीकरण चूंकि स्पष्ट आधारों पर किया जाता है (जैसे आयु एवं लिंग भेद), अतः यह एक सरल प्रक्रिया है। दूसरी ओर स्तरीकरण का आधार पक्षपात की भावना एवं सामाजिक प्रतिष्ठा है जिन्हें ज्ञात करना सरल नहीं है, अतः यह एक जटिल प्रक्रिया है।
5. ओल्सन का मत है कि स्तरीकरण एक वैयक्तिक प्रक्रिया है जबकि विभेदीकरण अवैयक्तिक। स्तरीकरण में व्यक्ति एक-दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा, विरोध एवं संघर्ष करते हैं जबकि विभेदीकरण में व्यक्तियों में परस्पर भिन्नता होते हुए भी विरोध एवं संघर्ष नहीं पाया जाता है। उदाहरण के रूप में, महिलाएँ पुरुषों से इस कारण विरोध प्रकट नहीं करतीं कि वे महिलाएँ हैं तथा बालक, युवा एवं वृद्ध लोगों से इसलिए रोष प्रकट नहीं करते कि वे बालक हैं।
6. सामाजिक स्तरीकरण का सम्बन्ध उपयोगिता से है, इसके द्वारा योग्य व्यक्तियों को उच्च पद एवं अधिक सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं जबकि विभेदीकरण उपयोगिता के आधार पर नहीं किया जाता है।
7. स्तरीकरण की तुलना में विभेदीकरण की प्रक्रिया अधिक प्राचीन है। पहले विभेदीकरण अस्तित्व में आया और उसके बाद ही स्तरीकरण प्रारम्भ हुआ।

सामाजिक स्तरीकरण एवं विभेदीकरण को हम चित्र द्वारा प्रकट कर सकते हैं:

**सामाजिक स्तरीकरण**

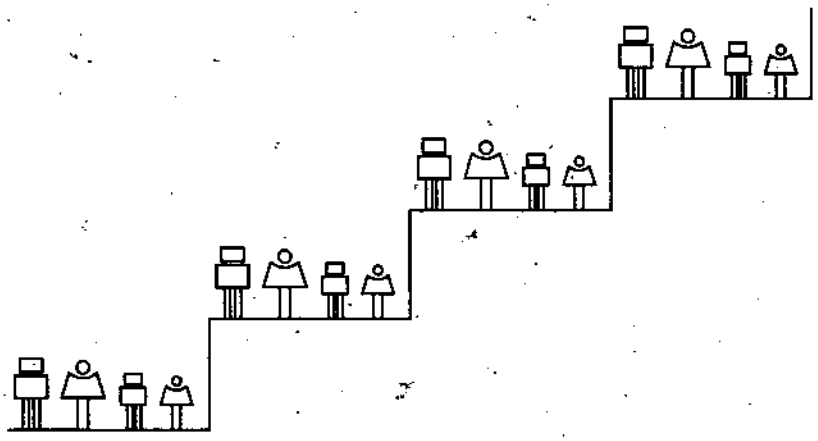

**सामाजिक विभेदीकरण**

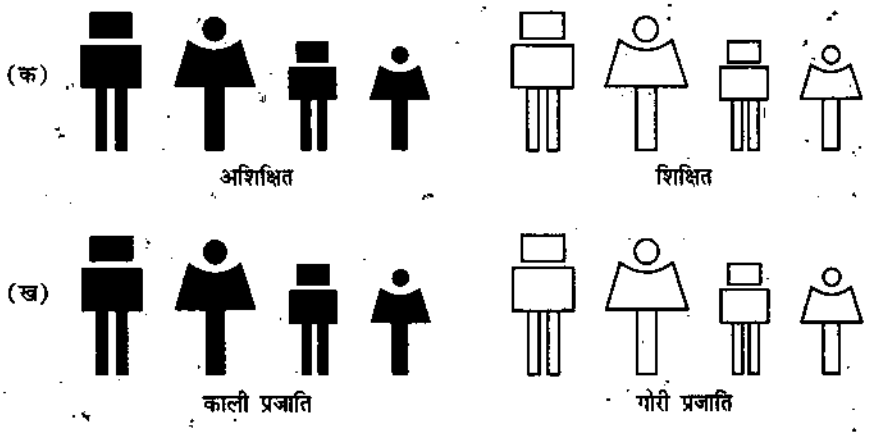

## 4.6 सामाजिक स्तरीकरण की आवश्यकता (Necessity of Social Stratification)

मानव ने आदिकाल से ही समाज में समानता पैदा करने एवं विभिन्नता को समाप्त करने का प्रयास किया है। समाजवादी समाज की स्थापना उसकी इसी कल्पना पर निर्भर है, किन्तु वास्तव में ऐसे समाज की स्थापना सम्भव नहीं क्योंकि सामाजिक संरचना का निर्माण विभिन्न, उच्च एवं निम्न प्रस्थितियों से होता है। इन प्रस्थितियों पर विभिन्न व्यक्तियों को बैठाकर उनसे कार्य लेना पड़ता है। विभिन्न प्रस्थितियों को धारण करने के लिए भिन्न-भिन्न योग्यता वाले व्यक्तियों की आवश्यकता होती है और पदों के अनुरूप कार्य करने की प्रेरणा भी लोगों को देनी होती है। इसके लिए समाज में स्तरीकरण को जन्म देना होता है। दूसरे शब्दों में, स्तरीकरण लोगों को पद प्राप्त करने एवं उनके अनुरूप भूमिका निभाने की प्रेरणा देता है। समाज में स्तरीकरण की आवश्यकता निम्न कारणों से उत्पन्न होती है:

1. समाज अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए विभिन्न पदों की रचना करता है। विभिन्न पदों के लिए विभिन्न प्रकार की योग्यता एवं क्षमता की आवश्यकता होती है। किसी पद के लिए अधिक प्रशिक्षण देना होता है तो किसी के लिए कम। कोई पद अधिक जिम्मेदारी वाला है तो कोई कम। पद एवं दायित्व के अनुसार ही समाज लोगों को कम या अधिक पुरस्कार प्रदान करता है। इस कारण समाज में, भेद-भाव एवं उच्चता-निम्नता का क्रम पैदा होता है और समाज विभिन्न स्तरों में विभक्त हो जाता है। इस स्तरीकरण को रोका नहीं जा सकता। यहाँ तक कि साम्यवादी देशों में भी पदों एवं दायित्वों की भिन्नता के अनुसार पुरस्कारों में भिन्नता पायी जाती है और वहाँ पर भी सामाजिक स्तरीकरण देखने के लिए मिलता है।
2. दूसरी बात यह है कि प्रत्येक पद पर ऐसे आदमी बैठाने होते हैं जो अपने पद के उत्तरदायित्व को अच्छी तरह से निभा सकें, परिश्रम एवं लगन द्वारा अपने कर्त्तव्य का पालन कर सकें। इसलिए ही समाज विभिन्न पदों के लिए विभिन्न प्रकार के पुरस्कारों की व्यवस्था करता है और लोगों को उनकी योग्यता, बुद्धि एवं रुचि के अनुसार विभिन्न पद प्रदान करता है। इस प्रकार पदों का विभाजन एवं प्रत्येक पद के लिए विशिष्ट पुरस्कार समाज का आवश्यक अंग है। इसे ही स्तरीकरण कहते हैं।

जब किसी समाज में विभिन्न पद हों और उनसे सम्बन्धित अधिकारों एवं पुरस्कारों में असमानता हो तो समाज में स्तरीकरण पैदा होना स्वाभाविक है। स्तरीकरण के द्वारा समाज यह विश्वास दिलाता है कि सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पदों पर योग्य व्यक्तियों को रखा जायेगा। इस प्रकार व्यक्तियों में निहित योग्यता एवं बुद्धि की भिन्नता को समाज संस्थात्मक रूप दे देता है।

## 4.7 सामाजिक स्तरीकरण की विशेषताएँ (Characteristics of Social Stratification)

**टयूमिन** ने सामाजिक स्तरीकरण की निम्नांकित विशेषताओं का उल्लेख किया है:

1. **सामाजिक स्तरीकरण की प्रकृति सामाजिक है**—सामाजिक स्तरीकरण कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं होता वरन् सम्पूर्ण समाज में व्याप्त होता है। समाज के सभी लोग समान मूल्यों एवं व्यवहार के समान प्रतिमानों को स्वीकार करते हैं। सामाजिक स्तरीकरण को आयु, रंग एवं यौन भेद के आधार पर ही नहीं वरन् समाज में व्यक्तियों को प्राप्त विभिन्न पदों एवं प्रस्थितियों के आधार पर भी समझा जा सकता है। समाजीकरण के द्वारा व्यक्ति सामाजिक मानदण्डों को सीखता है और अचेतन रूप में स्तरीकरण को स्वीकार करता है। सामाजिक संस्थाएँ जैसे धर्म, शिक्षा, परिवार, विवाह एवं राजनीति आदि भी समाज में स्तरीकरण उत्पन्न करती हैं।
2. **सामाजिक स्तरीकरण पुरातन है**—स्तरीकरण समाज में अति प्राचीन काल से ही विद्यमान

रहा है। प्राचीन समय में इसके आधार आयु, लिंग, शारीरिक शक्ति, जन्म आदि प्रदत्त गुण थे तो वर्तमान समय में अर्जित गुणों का अधिक महत्त्व है। **मार्क्स** की मान्यता है कि प्रत्येक युग में समाज में दो वर्ग रहे हैं–एक श्रमिक और दूसरा पूंजीपति। इस प्रकार वर्ग स्तरीकरण प्रत्येक समाज में सदैव ही विद्यमान रहा है।

नोट

3. **सामाजिक स्तरीकरण प्रत्येक समाज में पाया जाता है**–आदिकाल से लेकर आज तक कोई ऐसा समाज नहीं पाया गया जिसमें स्तरीकरण न हो। इसके आधारों एवं स्वरूपों में अन्तर हो सकता है, किन्तु सामाजिक स्तरीकरण सर्वत्र ही विद्यमान रहा है। **बोटोमोर** लिखते हैं, "समाजों का वर्गों अथवा स्तरों में विभाजन जिससे प्रतिष्ठा एवं शक्ति का सोपान बनता है; सामाजिक संरचना का एक सार्वभौमिक तत्व है।"
4. **सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न स्वरूप हैं**–विश्व के सभी समाजों और सभी कालों में सामाजिक स्तरीकरण का समान स्वरूप नहीं रहा है वरन् देश एवं काल के अनुसार इसके अनेक स्वरूप देखे जा सकते हैं। अति प्राचीन काल में सामाजिक स्तरीकरण का सरलतम आधार यौन-भेद, आयु-भेद और शारीरिक शक्ति था। भारत में जाति-प्रथा के आधार पर स्तरीकरण पाया जाता है तो यूरोप में वर्ग व्यवस्था एवं अर्जित गुणों को अधिक महत्त्व दिया गया है। मध्य युग में दास एवं स्वामी स्तरीकरण के दो प्रमुख स्वरूप रहे हैं। अफ्रीका एवं अमेरिका में प्रजाति भेदभाव का लम्बे समय से प्रचलन रहा है। इस प्रकार सभी समाजों में स्तरीकरण का प्रचलन किन्हीं सामान्य नियमों द्वारा न होकर स्थान, परिस्थिति एवं संस्कृति द्वारा प्रभावित रहा है।
5. **सामाजिक स्तरीकरण परिणामिक है**–ट्यूमिन कहते हैं कि सामाजिक स्तरीकरण परिणामिक (Consequential) है। यह समाज में असमानता उत्पन्न करता है। इस असमानता को हम जीवन जीने के अवसर (Life chances) तथा जीवन शैली (Life style) में देख सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन जीने के अवसर एवं शैली स्तरीकरण के स्वरूपों के आधार पर भिन्न-भिन्न होते हैं। किसी व्यक्ति को कितनी शक्ति, सम्पत्ति एवं मानसिक सन्तोष प्राप्त होगा, यह समाज में उसके स्तर पर निर्भर है। विभिन्न स्तरों में मृत्यु-दर, लम्बी आयु, शारीरिक एवं मानसिक रोग, सन्तानों की संख्या, वैवाहिक संघर्ष, तलाक, पृथकता आदि की मात्रा में भिन्नता पायी जाती है। एक व्यक्ति किस प्रकार के मकान एवं पड़ोस में रहेगा, किस प्रकार के मनोरंजन के साधन अपनायेगा, माता-पिता से उसके सम्बन्ध कैसे होंगे, किस प्रकार की शिक्षा एवं पुस्तकों का वह प्रयोग करेगा, यह उसके सामाजिक स्तर पर निर्भर करता है। प्रत्येक स्तर के जीवन अवसर एवं शैली में भिन्नता पायी जाती है।

ट्यूमिन की मान्यता है कि ये पाँच विशेषताएँ ऐसी हैं जिनके आधार पर समाज में स्तरीकरण के अध्ययन के महत्त्व को सिद्ध किया जा सकता है।

## 4.8 सामाजिक स्तरीकरण के आधार (Bases of Social Stratification)

स्तरीकरण प्रत्येक समाज में पाया जाता है, किंतु उसके आधार समान नहीं हैं। फिर भी विद्वानों ने कुछ सामान्य आधारों का उल्लेख किया है। **पारसन्स** ने व्यक्ति की प्रस्थिति निर्धारित करने वाले छः कारकों का उल्लेख किया है जो स्तरीकरण को भी तय करते हैं। वे हैं–नातेदारी समूह की सदस्यता, व्यक्तिगत विशेषताएँ, अर्जित उपलब्धियाँ, द्रव्यजात (Possession), सत्ता तथा शक्ति। **सोरोकिन** तथा **वेबर** स्तरीकरण के प्रमुख तीन आधारों–आर्थिक, राजनीतिक एवं व्यावसायिक का उल्लेख करते हैं जबकि **कार्ल मार्क्स** केवल आर्थिक आधार को ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इस आधार पर समाज में दो प्रकार के वर्ग पनपते हैं पूंजीपति एवं श्रमिक। स्तरीकरण के सभी आधारों को हम प्रमुख रूप से दो भागों में बाँट सकते हैं– (1) प्राणिशास्त्रीय आधार, एवं (2) सामाजिक-सांस्कृतिक आधार।

1. **प्राणिशास्त्रीय आधार** (Biological Basis)–समाज में व्यक्तियों एवं समूहों की उच्चता एवं

निम्नता का निर्धारण प्राणीशास्त्रीय आधारों पर भी किया जाता है। प्रमुख प्राणीशास्त्रीय आधारों में हम लिंग, आयु, प्रजाति, जन्म एवं शारीरिक व बौद्धिक कुशलता आदि को ले सकते हैं।

(*i*) **लिंग**–लिंग के आधार पर स्त्री और पुरुषों के रूप में समाज का स्तरीकरण सबसे प्राचीन है। लगभग सभी समाजों में पुरुषों की स्थिति स्त्रियों से ऊँची मानी जाती रही है। कई पद ऐसे हैं जो केवल पुरुषों के लिए ही निर्धारित हैं; जैसे–सेना में स्त्रियों को नहीं लिया जाता, परम्परा के अनुसार अमेरिका का राष्ट्रपति कोई भी स्त्री नहीं बन सकती यद्यपि संवैधानिक रूप से ऐसी कोई अड़चन नहीं है।

(*ii*) **आयु**–प्रत्येक समाज में कई पद ऐसे होते हैं जो एक निश्चित आयु के व्यक्तियों को ही प्रदान किये जाते हैं। आयु के आधार पर समाज में प्रमुख चार स्तर-शिशु, किशोर, प्रौढ़ और वृद्ध पाये जाते हैं। सामान्यत: महत्त्वपूर्ण पद बड़ी आय के लोगों को प्रदान किये जाते हैं। भारत में परिवार, जाति एवं ग्राम पंचायत के मुखिया का पद वयोवृद्ध व्यक्ति को ही दिया जाता रहा है। यह माना जाता है कि आयु और अनुभव का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए उत्तरदायित्व के कार्य अनुभवी एवं वयोवृद्ध व्यक्तियों को सौंपे जाते हैं।

(*iii*) **प्रजाति**–प्रजाति के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण वहाँ देखा जा सकता है जहाँ एकाधिक प्रजातियाँ साथ-साथ रहती हैं। जिस प्रजाति के लोग शासन एवं सत्ता में होते हैं तथा सम्पन्न होते हैं, वह प्रजाति अपने को दूसरी प्रजातियों से श्रेष्ठ मानती है। अमेरिका व अफ्रीका में गोरी प्रजाति ने काली प्रजाति से अपने को श्रेष्ठ घोषित किया है और उसे अनेक सुविधाएँ एवं विशेषाधिकार प्राप्त हैं। अमेरिका का राष्ट्रपति नीग्रो प्रजाति का कोई व्यक्ति नहीं बन सकता।

(*iv*) **जन्म**–जन्म भी सामाजिक स्तरीकरण उत्पन्न करता है। जो लोग उच्च कुल, वंश एवं जाति में जन्म लेते हैं, वे अपने को दूसरों से श्रेष्ठ मानते हैं।

(*v*) **शारीरिक व बौद्धिक कुशलता**–वर्तमान समय में व्यक्ति की प्रस्थिति एवं स्तर का निर्धारण उसकी शारीरिक एवं मानसिक कुशलता, योग्यता एवं क्षमता के आधार पर होने लगा है। जो लोग अकुशल, पागल, क्षीणकाय, आलसी एवं अयोग्य होते हैं, उनका स्तर उन लोगों से नीचा होता है जो बुद्धिमान, परिश्रमी, हृष्ट-पुष्ट एवं कुशल होते हैं। साम्यवादी देशों में भी इन गुणों के आधार पर स्तरीकरण देखा जा सकता है।

2. **सामाजिक-सांस्कृतिक आधार** (Socio-cultural Basis)–सामाजिक स्तरीकरण प्राणीशास्त्रीय आधारों पर ही नहीं वरन् अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक आधारों पर भी पाया जाता है। उनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं:

(*i*) **सम्पत्ति**–सम्पत्ति के आधार पर भी समाज में स्तरीकरण किया जाता है। आधुनिक समाजों में ही नहीं वरन् आदिम समाजों में भी सम्पत्ति के आधार पर ऊँच-नीच का भेद पाया जाता है। समाज में वे लोग ऊँचे माने जाते हैं जिनके पास अधिक सम्पत्ति होती है। वे सभी प्रकार की विलासिता एवं सुख-सुविधाओं की वस्तुएँ खरीदने की क्षमता रखते हैं। इसके विपरीत, गरीब तथा सम्पत्तिहीन की स्थिति निम्न होती है। सम्पत्ति के घटने एवं बढ़ने के साथ-साथ समाज में व्यक्ति का स्तर भी घटता-बढ़ता जाता है।

(*ii*) **व्यवसाय**–व्यवसाय भी सामाजिक स्तरीकरण का प्रमुख आधार है। समाज में कुछ व्यवसाय सम्मानजनक एवं ऊँचे माने जाते हैं तो कुछ निम्न एवं घृणित। डॉक्टर, इंजीनियर, प्रशासक, प्राध्यापक आदि का पेशा, बाल काटने, कपड़े धोने और चमड़े का काम करने वालों के पेशों से श्रेष्ठ एवं सम्माननीय माना जाता है। अत: इन पेशों को करने वालों की स्थिति भी सामाजिक संस्तरण में ऊँची होती है।

(*iii*) **धार्मिक ज्ञान**–धर्म प्रधान समाजों में धर्म भी स्तरीकरण उत्पन्न करता है। जो लोग धार्मिक कर्मकाण्डों में संलग्न होते हैं, धार्मिक उपदेश देते हैं एवं धर्म के अध्ययन में

रत रहते हैं उन्हें सामान्य लोगों से ऊँचा माना जाता है। भारत में पण्डे-पुजारियों, धार्मिक गुरुओं, साधु-सन्तों एवं ब्राह्मणों की सामाजिक स्थिति, उनके धार्मिक ज्ञान और धर्म से सम्बन्धित होने के कारण ही ऊँची रही है। वर्तमान में धर्म के महत्त्व के घटने के साथ-साथ स्तर निर्धारण में इसका प्रभाव भी कमजोर होता जा रहा है।

(iv) **राजनीतिक शक्ति**–सत्ता एवं अधिकारों के आधार पर भी समाज में संस्तरण पाया जाता है। जिन लोगों के पास सैनिक शक्ति, सत्ता और शासन की बागडोर होती है, उनकी स्थिति उन लोगों से ऊँची होती है जो सत्ता एवं शक्ति विहीन होते हैं। शासक और शासित का भेद सभी समाजों में पाया जाता है।

नोट

## 4.9 सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप (प्रकार) (Forms of Social Stratification)

**बोटोमोर** ने मानव इतिहास में प्रचलित सामाजिक स्तरीकरण के प्रमुख चारों स्वरूपों–दास प्रथा, जागीरें, जाति और सामाजिक वर्ग का उल्लेख किया है। कुछ विद्वान स्तरीकरण के दो रूप मानते हैं–खुला स्तरीकरण एवं बन्द स्तरीकरण। खुले स्तरीकरण में आधुनिक वर्ग व्यवस्था वाले समाज आते हैं, जहाँ व्यक्ति अपने वर्ग परिवर्तन द्वारा एक वर्ग से दूसरे में आ-जा सकते हैं। बन्द स्तरीकरण का उदाहरण भारतीय जाति-व्यवस्था है। जाति जन्म से निर्धारित होती है और कोई भी व्यक्ति अपने जीवन काल में जाति परिवर्तन नहीं कर सकता, अतः ऐसे समाज को बन्द स्तरीकरण वाला समाज कहा जाता है। हम यहाँ स्तरीकरण के कुछ प्रमुख स्वरूपों का संक्षेप में विवेचन करेंगे।

1. **दास प्रथा (Slavery)**–दास प्रथा असमानता के चरम रूप का प्रतिनिधित्व करती है जिसमें व्यक्तियों के कुछ समूह पूर्ण अधिकारों से वंचित रहते हैं। अनेक कालों एवं स्थानों पर दास प्रथा का प्रचलन रहा है, किन्तु प्राचीन समय में यूनान और रोम में तथा 18वीं एवं 19वीं सदी में दक्षिणी अमेरिका में इसका प्रमुख रूप से प्रचलन रहा है। दास को परिभाषित करते हुए **एल.टी. हॉबहाऊस** लिखते हैं, "एक व्यक्ति जिसे कानून और प्रथा दूसरे की सम्पत्ति मानते हैं। चरम अवस्थाओं में वह पूर्णतया अधिकारों से वंचित रहता है तथा शुद्ध व्यक्तिगत सम्पत्ति की वस्तु है। दूसरी स्थितियों में उसकी कुछ रक्षा की जा सकती है, लेकिन एक बैल अथवा गधे की तरह ही है।" **एच. जे. निबोर** ने दास प्रथा में दास की सामाजिक दशा का वर्णन करते हुए लिखा है–प्रत्येक दास का एक स्वामी होता है, जिसके अधीन उसे रहना पड़ता है और यह अधीनता विशेष प्रकार की होती है। स्वामी को दास पर शक्ति प्रयोग करने की निर्बाध स्वतन्त्रता होती है। दास स्वामी की सम्पत्ति होता है दास को कोई राजनीतिक अधिकार नहीं होते। सामाजिक रूप से वह तिरस्कृत होता है। दास को अनिवार्य रूप से श्रम करना पड़ता है।

   दास प्रथा औद्योगिक व्यवस्था के समान ही रही है। दास प्रथा उदय के साथ-साथ कुलीनतन्त्र भी प्रकट होता है जो दास के श्रम पर जीता है। आधुनिक युग में समाजवाद, मानव अधिकार एवं जनतन्त्र के विचारों के विपरीत होने के कारण यह प्रथा सभी देशों में लगभग समाप्त हो गयी है।

2. **जागीरें (Estates)**–जागीर प्रथा का प्रचलन मध्ययुगीन यूरोप में रहा है जिसे प्रथा एवं कानून की मान्यता प्राप्त थी। जागीर प्रथा में तीन वर्ग प्रमुख थे–पादरी, सरदार एवं साधारणजन। प्रत्येक वर्ग की जीवन शैली एवं संस्कृति भिन्न थी। सामाजिक संस्तरण में सर्वोच्च स्थान पादरियों का था क्योंकि उस समय राज्य भी चर्च के अधीन था। नियमानुसार तो पादरी सर्वोच्च थे, किन्तु उन्हें कोई पद प्राप्त नहीं था। इसलिए वे व्यावसायिक रूप से राजवंश के सरदारों से नीचे माने जाते थे। जिन पादरियों को उपाधियाँ दी गयी थीं, वे सरदारों से कोई सम्बन्ध नहीं रखते थे। कई पादरी अविवाहित थे, अतः उनका कोई परिवार नहीं था। परिवार जो कि सामाजिक स्तरीकरण की इकाई माना गया है, के अभाव में पादरियों की सामाजिक स्थिति स्पष्ट नहीं थी। फिर भी उनके माता-पिता के परिवारों के आधार पर उनकी स्थिति का

निर्धारण किया जा सकता है। बोटोमोर ने जागीर प्रथा की तीन विशेषताओं का उल्लेख किया है–(*i*) प्रत्येक जागीर की एक वैधानिक परिभाषा थी, उनके अधिकार, कर्त्तव्य, विशेषाधिकार और दायित्वों के आधार पर समाज में उनकी एक निश्चित प्रस्थिति होती थी। (*ii*) जागीरों में स्पष्ट श्रम-विभाजन पाया जाता था, जैसे कुलीन सबकी रक्षा करते, पुजारी सबके लिए प्रार्थना करते और जनसाधारण सबके लिए भोजन जुटाते। (*iii*) जागीरें राजनीतिक समूह थीं। उनके पास राजनीतिक शक्ति थी। भारत में भी मौर्य काल, गुप्त काल एवं मुगल काल की सामन्ती व्यवस्था में यूरोपीय जागीर प्रथा के लक्षण पाये जाते हैं यद्यपि इसका स्वरूप आर्थिक व सैनिक रहा है और यह जाति की विशेषताओं से भी युक्त रही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जागीर प्रथा ने भी समाज में स्तरीकरण पैदा किया है।

3. **बन्द स्तरीकरण : जाति प्रथा (Closed Stratification : Caste System)**–जब हम जातिगत संस्तरण की चर्चा करते हैं तो हमारा ध्यान भारतीय जाति व्यवस्था की ओर जाता है। इसका कारण यह नहीं है कि केवल भारत में जाति प्रथा पायी जाती है या इसका पूर्ण रूप यहीं विद्यमान है, वरन् इसका कारण यह है कि भारत में जाति प्रथा की पराकाष्ठा है। भारतीय जाति व्यवस्था का अनेक विद्वानों ने अध्ययन किया है। जाति एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसकी सदस्यता जन्मजात होती है, प्रत्येक जाति का एक नाम और एक व्यवसाय होता है। एक जाति के लोगों का एक वंशगत पेशा होता है और एक जाति के सदस्य अपनी ही जाति में विवाह करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक जाति की एक जीवन-शैली होती है। एन.के. दत्ता, घुरिये, आदि ने जाति की विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार किया है:

   1. जाति की सदस्यता जन्मजात होती है।
   2. जाति समाज का खण्डात्मक विभाजन है।
   3. जाति व्यवस्था में उच्चता एवं निम्नता का क्रम (Hierarchy) पाया जाता है।
   4. प्रत्येक जाति एक अन्तर्विवाही (Endogamous) समूह है।
   5. प्रत्येक जाति का एक वंशानुगत व्यवसाय होता है।
   6. जाति के सदस्य खान-पान एवं सामाजिक सहवास सम्बन्धी नियमों का पालन करते हैं।
   7. प्रत्येक जाति का एक राजनीतिक स्वरूप होता है। इस रूप में जाति पंचायत जाति के नियमों का पालन करवाती है।
   8. जाति की सदस्यता सम्पूर्ण जीवन के लिए होती है। कोई भी व्यक्ति प्रयत्न द्वारा जाति की सदस्यता बदल नहीं सकता।

उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर ही भारत में जातियों ने संस्तरण की व्यवस्था पैदा की है और प्रत्येक जाति समाज के एक खण्ड का निर्माण करती है। जाति व्यवस्था से पूर्व भारत में वर्ण व्यवस्था का प्रचलन था। वर्ण प्रमुख रूप से चार थे–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्व और शूद्र। वर्णों का निर्माण कर्म के आधार पर किया गया था। ब्राह्मण पठन पाठन, पूजा, हवन एवं शिक्षा-दीक्षा का कार्य करते थे, क्षत्रिय शासन एवं युद्ध कार्य करते थे, वैश्य कृषि एवं व्यापार करते थे तथा शूद्र उपर्युक्त तीनों वर्णों की सेवा करते थे। प्रारम्भ में वर्ण बदले जा सकते थे, किन्तु धीरे-धीरे इनमें कठोरता आयी और प्रत्येक वर्ण में कई उपजातियाँ बन गयीं। अत: किसी समय वर्ण भी समाज में स्तरीकरण के प्रमुख आधार थे, लेकिन वर्णों के बाद जब जाति अस्तित्व में आयी तो जातीय आधार पर संस्तरण होने लगा। वर्तमान समय में नगरीकरण, औद्योगीकरण, यातायात एवं संचार के नवीन साधनों, नवीन शिक्षा, प्रजातन्त्र, नवीन सामाजिक विधान, पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव, समाज सुधार के आन्दोलन आदि के कारण पुरातन जाति व्यवस्था में परिवर्तन आ रहे हैं। अब जातीय आधार पर बने छुआछूत, व्यवसाय एवं खान-पान के नियमों में शिथिलता आयी है, फिर भी जाति की तीन विशेषताएँ अभी भी बनी हुई हैं:

   1. आज भी जाति जन्म से ही निर्धारित होती है और यह व्यक्ति की सामाजिक स्थिति को तय करती है।

2. आज भी व्यक्ति अपनी जाति नहीं बदल सकता है।
3. व्यक्ति जीवन साथी का चुनाव साधारणत: अपनी जाति से ही करता है।

कई बार कुछ जातियों ने सामाजिक संस्तरण में सामूहिक रूप से ऊँचा उठने का प्रयास भी किया है। इस प्रयास को श्रीनिवास संस्कृतीकरण (Sankritization) के नाम से पुकारते हैं। वर्तमान समय में सरकारी व गैर-सरकारी तौर पर जाति की निर्योग्यताओं को दूर करने के अनेक प्रयत्न हुए हैं। निम्न जातियों को आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में अनेक अधिकार एवं सुविधाएँ प्रदान की गयी हैं। इतना सब होने पर भी जाति भारतीय समाज में संस्तरण उत्पन्न करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही है।

नोट

### *खुला स्तरीकरण : सामाजिक वर्ग (Open Stratification : Social Class)*

वर्ग सामाजिक स्तरीकरण का एक प्रमुख स्वरूप है। लगभग सभी समाजों में वर्ग व्यवस्था पायी जाती है। एक-सी सामाजिक प्रस्थिति वाले व्यक्तियों के समूह को एक वर्ग कहा जाता है। जन्म के अतिरिक्त किसी भी आधार पर समाज में समूहों का निर्माण वर्ग कहलाता है। वर्गों का आधार आर्थिक ही नहीं वरन् सामाजिक-सांस्कृतिक भी है।

वर्ग को परिभाषित करते हुए **ऑगबर्न** लिखते हैं, "एक सामाजिक वर्ग ऐसे व्यक्तियों का योग है जिनकी एक दिये हुए समाज में अनिवार्य रूप से समान सामाजिक स्थिति होती है।" **मैकाइवर** एवं **पेज** के अनुसार, "एक सामाजिक वर्ग समुदाय का वह भाग है जो सामाजिक स्थिति के आधार पर दूसरों से पृथक् किया जा सके।" इस प्रकार समान सामाजिक प्रस्थितियों को धारण करने वाले व्यक्ति एक वर्ग का निर्माण करते हैं। वर्ग की विशेषताएँ निम्नांकित हैं:

1. वर्ग में समूहों का उतार-चढ़ाव पाया जाता है, सभी वर्ग समान नहीं होते वरन् उनमें उच्चता एवं निम्नता का क्रम पाया जाता है।
2. एक वर्ग के लोगों की सामाजिक प्रस्थिति समान होती है।
3. एक वर्ग के लोग दूसरे वर्ग के प्रति उच्चता या हीनता की भावना रखते हैं।
4. प्रत्येक वर्ग में **'वर्ग चेतना'** (Class Consciousness) पायी जाती है। यह वर्ग चेतना उनके व्यवहारों एवं वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धों को भी तय करती है। एक वर्ग के लोग अपने अधिकारों के प्रति सजग होते हैं।
5. एक वर्ग के लोगों **के सामाजिक सम्बन्ध** प्राय: अपने ही वर्ग के लोगों तक **सीमित** होते हैं। ओर अन्य वर्गों से एक निश्चित सामाजिक दूरी बनाये रखते हैं।
6. वर्ग व्यवस्था जाति की भाँति कठोर एवं बन्द न होकर एक **मुक्त व्यवस्था** (Open System) है। एक व्यक्ति एक वर्ग से दूसरे वर्ग में आ-जा सकता है।
7. वर्ग में **जन्म का महत्त्व नहीं** होता है।
8. प्रत्येक सामाजिक वर्ग के कई उप-वर्ग भी पाये जाते हैं।
9. एक वर्ग के लोगों को **जीवन के कुछ विशिष्ट अवसर एवं सुविधाएँ** समान रूप से प्राप्त होते हैं।
10. वर्ग की सदस्यता **पूर्णतया अर्जित** है।
11. एक वर्ग के लोगों का **जीवन जीने का तरीका लगभग समान होता है।**
12. वर्ग **कम स्थिर** हैं, उनमें परिवर्तन होता रहता है तथा व्यक्ति के लिए वर्ग-सदस्यता बदलना भी सम्भव है।
13. एक वर्ग को पहचानने एवं दूसरे वर्ग से भिन्न करने के लिए बाह्य लक्षणों जैसे पहनावा, मकान, शिक्षा, आय, बोलने का तरीका, खान-पान आदि का सहारा लिया जा सकता है।

वर्गों का निर्धारण एवं विभाजन अनेक आधारों पर किया जा सकता है। **बीरस्टीड** ने वर्गों के सात

आधारों का उल्लेख किया है–(1) सम्पत्ति, धन और आय, (2) परिवार एवं नातेदारी, (3) निवास की स्थिति, (4) निवास स्थान की अवधि, (5) व्यवसाय की प्रकृति, (6) शिक्षा, (7) धर्म। विश्व के सभी समाजों में वर्ग विभाजन में इनमें से किसी न किसी आधार को अपनाया जाता है। मैक्स वेबर तथा कार्ल मार्क्स तो वर्ग निर्धारण में आर्थिक आधार को ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इस आधार पर वे समाज में प्रमुख दो वर्गों–पूंजीपति एवं श्रमिक का उल्लेख करते हैं। आधुनिक औद्योगिक समाजों में वर्ग ही सामाजिक स्तरीकरण का प्रमुख आधार है।

## 4.10 सामाजिक स्तरीकरण का महत्त्व (प्रकार्य)
## (Importance (Functions) of Social Stratification)

सामाजिक स्तरीकरण सार्वभौमिक तथ्य है। इसका कोई-न-कोई रूप सभी समाजों एवं कालों में पाया जाता रहा है, इसी से इसका महत्त्व एवं उपयोगिता प्रकट होती है। ऐसा माना जाता है कि यदि किसी समाज में असमानता की संस्थागत पद्धति नहीं पायी जाती है तो वह समाज मुश्किल से ही जीवित रह सकता है। प्रत्येक समाज में पदों के महत्त्व में अंतर होने एवं व्यक्तियों की योग्यता, बुद्धि व कुशलता में भेद होने के कारण कुछ व्यक्ति प्रगति कर जाते हैं और कुछ पिछड़ जाते हैं। इस कारण समाज में स्वतः ही स्तरीकरण पैदा हो जाता है। व्यक्ति एवं समाज के लिए स्तरीकरण का महत्त्व इस प्रकार है:

### *(I). व्यक्ति के लिए सामाजिक स्तरीकरण का महत्त्व (प्रकार्य) (Importance of (Functions) Social Stratification for Individual)*

1. ***आवश्यकता पूर्ति में सहायक***–मानव की आवश्यकताएँ असंख्य हैं। इनकी पूर्ति के लिए उसे विभिन्न व्यक्तियों का सहयोग लेना होता है। स्तरीकरण द्वारा समाज में कार्यों का विभाजन कर दिया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने निश्चित कार्य को कुशलता से करके मानव की आवश्यकता पूर्ति में सहयोग प्रदान करता है।
2. ***अधिक कार्य के लिए प्रोत्साहन***–सामाजिक स्तरीकरण का एक महत्त्वपूर्ण प्रकार्य यह है कि वह व्यक्ति को अधिक कार्य करने की प्रेरणा देता है। समाज में महत्त्वपूर्ण पदों के लिए समाज द्वारा अधिक पुरस्कार की व्यवस्था की जाती है। प्रत्येक व्यक्ति में प्रसिद्धि पाने एवं बड़ा बनने की इच्छा होती है। इस इच्छा को पूरा करने एवं उच्च पद को पाने के लिए स्तरीकरण द्वारा व्यक्ति को कठोर परिश्रम करने की प्रेरणा दी जाती है।
3. ***सहयोग को बढ़ावा***–स्तरीकरण में विभिन्न योग्यता वाले व्यक्तियों को पद प्रदान किये जाते हैं। इससे समाज में संघर्ष की स्थिति पैदा नहीं होती और सभी व्यक्ति परस्पर सहयोग द्वारा समाज को सुचारू रूप से चलाने में योग देते हैं।
4. ***मनोवृत्तियों का निर्धारण***–ओलसन मानते हैं कि स्तरीकरण मानव की मनोवृत्तियों को भी तय करता है। व्यक्ति विभिन्न जाति, वर्ग प्रस्थिति-समूह का सदस्य होता है अतः उसके विचार, क्रियाएँ एवं मनोवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं।
5. ***शक्ति-सन्तुलन***–स्तरीकरण समाज में शक्ति सन्तुलन कायम रखता है। स्तरीकरण में कुछ व्यक्तियों के पास महत्त्वपूर्ण पद होते हैं, उनके पास शक्ति भी अधिक होती है। दूसरी तरफ राजनीतिक अधिकार एवं शक्तिविहीन लोगों की संख्या अधिक होती है। ये लोग शक्तिसम्पन्न लोगों को शक्ति के दुरुपयोग करने से रोकते हैं। शक्तिशाली लोग सामान्य लोगों पर नियंत्रण रखते हैं और उन्हें निर्देशित करते हैं। इस प्रकार दोनों ही वर्ग परस्पर नियंत्रण रखकर शक्ति-सन्तुलन बनाये रखते हैं।
6. ***उत्तरदायित्व की भावना का विकास***–स्तरीकरण में जब एक व्यक्ति को एक निश्चित पद प्रदान कर दिया जाता है तो वह अपने पद को बनाये रखने के लिए अपने कर्तव्यों का निर्वाह निष्ठापूर्वक करता है। इससे व्यक्ति में उत्तरदायित्व की भावना का विकास होता है।

7. **व्यक्ति की प्रस्थिति एवं भूमिका का निर्धारण**–स्तरीकरण द्वारा प्रत्येक व्यक्ति का समाज में स्थान निर्धारित किया जाता है और व्यक्ति की प्रस्थिति के अनुसार ही उसे कार्य भी सौंपे जाते हैं।

नोट

## *(II) समूह के लिए महत्त्व (Importance for the Group)*

ओलसन ने सामाजिक स्तरीकरण के समूह के लिए कुछ कार्यों एवं महत्त्व का उल्लेख इस प्रकार किया है:.

1. **सामाजिक परिवर्तन**–एक सामान्य धारणा यह है कि स्तरीकरण परिवर्तन विरोधी है, किंतु इसके विपरीत स्तरीकरण परिवर्तन को प्रोत्साहन भी देता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता में वृद्धि करके उच्च प्रस्थिति प्राप्त करने का प्रयास करता है और उसके द्वारा रिक्त किये हुए स्थान को नये व्यक्ति ग्रहण करते हैं। साथ ही नये पदों के अनुरूप व्यक्ति अपने व्यवहार, संबंध, रहन-सहन, विचार एवं मनोवृत्तियों में भी परिवर्तन लाता है।
2. **सामाजिक संघर्षों से रक्षा**–सामाजिक स्तरीकरण में समाज के विभिन्न समूहों में अधिकारों एवं कार्यों का विभाजन कर दिया जाता है। इससे उनमें परस्पर संघर्ष नहीं हो पाता। विभिन्न व्यक्तियों में उनकी योग्यता के अनुरूप पदों, कार्यों, सुविधाओं एवं पुरस्कारों के वितरण के कारण भी संघर्ष की स्थिति से बचा जाता है। स्तरीकरण इस बात का विश्वास दिलाता है कि महत्त्वपूर्ण पद योग्य व्यक्तियों को सौंपे जायेंगे।
3. **सामाजिक एकीकरण**–सामाजिक स्तरीकरण में कार्यों का विभाजन कर दिया जाता है और प्रत्येक व्यक्ति एवं समूह अपने कार्यों का निर्वाह कर सामाजिक एकता एवं संगठन को बनाये रखने में योग देता है। इससे वे संघर्ष की स्थिति से बचे रहते हैं।
4. **सामाजिक प्रगति**–सामाजिक स्तरीकरण में ऊँचे एवं नीचे पदों की व्यवस्था होती है। व्यक्ति उच्च पदों को प्राप्त करने के लिए आपस में प्रतिस्पर्द्धा करते हैं, कठिन परिश्रम करते हैं। इससे समाज में निर्माण का कार्य होता है; नवीन आविष्कार होते हैं और समाज प्रगति करता है।
5. **सामाजिक संबंधों का निर्धारण**–एक स्तर एवं वर्ग के लोगों में परस्पर घनिष्ठ संबंध पाये जाते हैं क्योंकि उनके स्वार्थ एवं रुचियाँ समान होते हैं। उदाहरण के लिए, पूँजीपतियों में परस्पर घनिष्ठ संबंध होते हैं। यही बात श्रमिकों में देखने को मिलती है। इसका कारण उनके उद्देश्यों की समानता है। इसी प्रकार से एक ही जाति के लोगों में भी अन्य जातियों के लोगों की अपेक्षा घनिष्ठ संबंध पाये जाते हैं क्योंकि एक व्यक्ति के नाते-रिश्ते अपनी ही जाति में होते हैं एवं संकट में जाति के सदस्य ही सहायक होते हैं।
6. **श्रम-विभाजन**–स्तरीकरण में समाज के कार्यों का विभिन्न लोगों में विभाजन कर दिया जाता है। श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण के कारण कार्यकुशलता बढ़ती है, विभिन्न कार्य करने वालों में पारस्परिक निर्भरता एवं सहयोग बढ़ता है और अंततः यह सामाजिक एकता एवं संगठन को सुदृढ़ बनाता है। स्तरीकरण में यह भी तय होता है कि एक इकाई का अन्य इकाइयों के साथ कैसा संबंध होगा।
7. **सामाजिक मानदण्डों का पालन करने की प्रेरणा**–सामाजिक स्तरीकरण में प्रत्येक व्यक्ति अपने पद को बनाये रखने के लिए जागरूक होता है और पद से संबंधित सामाजिक मानदण्डों (Social Norms) का पालन करता है। ऐसा न करने पर उसकी प्रतिष्ठा गिरने का डर रहता है। अतः स्तरीकरण में स्वतः ही अचेतन रूप में सामाजिक मानदण्डों का पालन किया जाता है।
8. **अनावश्यक प्रतिस्पर्द्धा एवं संघर्ष से रक्षा**–स्तरीकरण में समूहों के कार्यों, अधिकारों एवं व्यवसाय, आदि का विभाजन होने कारण प्रत्येक समूह अपना निर्धारित कार्य करता है। इससे अनावश्यक प्रतिस्पर्द्धा और संघर्षों से बचा जा सकता है।

## 4.11 सामाजिक स्तरीकरण के अकार्य (Dysfunctions of Social Stratification)

सामाजिक स्तरीकरण से जहाँ अनेक लाभ हैं और जहाँ यह व्यक्ति एवं समाज के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य करता है, वहीं इसके अनेक दोष या अकार्य भी हैं जो निम्न हैं:

1. **निष्क्रियता**–स्तरीकरण में अक्सर व्यक्ति निश्चित पद प्राप्त कर लेने के बाद निष्क्रिय हो जाते हैं। ऐसी निष्क्रियता अधिकांशत: उन लोगों में देखी जा सकती है जो उच्च पद पर पहुँच जाते हैं।
2. **वर्ग चेतना और पक्षपात**–स्तरीकरण में विभिन्न वर्ग बन जाते हैं। इन वर्गों में वर्ग चेतना पनपने लगती है और वे अपने वर्ग के प्रति पक्षपात तथा अन्य वर्गों के हितों की उपेक्षा करने लगते हैं।
3. **संघर्ष को जन्म**–स्तरीकरण के कारण समाज में विभिन्न वर्ग पनपते हैं। इन वर्गों में कुछ को कम और कुछ को अधिक अधिकार एवं सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। उच्च वर्ग निम्न वर्ग पर बोझ होता है और उसका शोषण करता है। इससे विभिन्न वर्गों में संघर्ष पनपता है तथा सामाजिक एकता खतरे में पड़ जाती है। विभिन्न वर्गों के बीच सामाजिक दूरी बढ़ती जाती है और उनमें विरोधी भावना पनपती है। ऐसी स्थिति में सामाजिक लाभ भी समाप्त हो जाते हैं। उच्च वर्ग के लोग धन संग्रह करने में लगे रहते हैं जबकि निम्न वर्ग के लोगों को उनके परिश्रम का उचित पुरस्कार भी नहीं मिल पाता।
4. **निराशा का जन्म**–स्तरीकरण में कुछ व्यक्तियों को अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य सौंपे जाते हैं और कुछ को कम। जिन लोगों को कम महत्त्वपूर्ण पद एवं कार्य सौंपे जाते हैं, उनमें निराशा एवं असंतोष पैदा होता है।
5. **असुरक्षा**–स्तरीकरण में प्रतिस्पर्द्धा पायी जाती है, इसलिये व्यक्ति को सदैव असुरक्षा महसूस होती है। कई बार उच्च पद पर पहुँच जाने के बाद भी उस पद को बनाये रखना कठिन होता है और कभी-कभी तो वह पुन: निम्न वर्ग में आ जाता है और तब वह अपने पुराने मित्रों को खो बैठता है।
6. **समानता का विरोधी**–स्तरीकरण का सिद्धांत असमानता पर आधारित है। अत: यह समानता का विरोधी है।
7. **व्यक्तित्व के विकास में बाधक**–स्तरीकरण में निम्न वर्ग के लोगों में हीनता की भावना के पनपने से उनके व्यक्तित्व का ठीक से विकास नहीं हो पाता और व्यक्तित्व का विघटन तक होने लगता है।
8. भारत जैसे बन्द समाजों में जहाँ स्तरीकरण प्रमुखत: जाति-प्रथा पर निर्भर है, स्तरीकरण अनेक बुराइयों को जन्म देता है। जाति ने ऊँच नीच, छुआछूत, हीन भावना, सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध एवं अन्तर्जातीय विवाह पर रोक, आदि बुराइयों को जन्म दिया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्तरीकरण के कुछ कार्य और अकार्य दोनों हैं। इसके अकार्यों के बावजूद भी यह सभी समाजों में विद्यमान रहा है। स्तरीकरण के अभाव में सामाजिक विघटन एवं क्रांति होने के अवसर भी पैदा हो जाते हैं। स्तरीकरण एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अंतर्गत व्यक्ति को साधारणत: अपनी योगयतानुसार पद एवं भूमिका प्राप्त होती है।

## 4.12 जाति व्यवस्था और सामाजिक स्तरीकरण (Caste System and Social Stratification)

समाज इस प्रकार श्रेणीक्रम समूहों में विभाजित है कि यद्यपि विविध समूह परस्पर संबंधों में असमान समझे जाते हैं लेकिन एक ही समूह के सदस्य समान माने जाते हैं। सामाजिक स्तरीकरण के दो प्रमुख आधार जाति और वर्ग हैं, लेकिन कुछ अन्य मान्य आधार आयु, लिंग, प्रजातीय/नृजातीय भी हैं। सामाजिक

स्तरीकरण सामाजिक विभेदीकरण से भिन्न है। 'विभेदीकरण व्यापक अर्थ में प्रयोग होता है क्योंकि यह तुलना के उद्देश्य से व्यक्तियों और समूहों को एक-दूसरे से अलग और स्पष्ट करता है। उदाहरणार्थ वर्ग के भीतर ही आय (उच्च, मध्यम और निम्न), व्यवसाय (उच्च स्थिति वाला और निम्न स्थिति वाला), और शिक्षा (उच्च स्तर, मध्य स्तर और निम्न स्तर), तुलना और विभेदीकरण को आधार प्रदान करते हैं। स्तरीकरण तब होता है जब भेद श्रेणीबद्ध क्रम में अंकित किए जाते हैं।

नोट

### *जाति : एक इकाई (समूह) और व्यवस्था के रूप में (Caste : As a Unit (group) and a System)*

भारत में जाति और वर्ग श्रेणीबद्ध क्रम के आधार के रूप में प्रयोग किए जाते हैं। परन्तु जाति को, जो धार्मिक विश्वास में आबद्ध है, स्तरीकरण के सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक उद्देश्यों के लिए महत्वपूर्ण आधार माना जाता है। 'जाति' एक आनुवांशिक सामाजिक समूह है जो अपने सदस्यों को सामाजिक गतिशीलता (यानी सामाजिक प्रस्थिति बदलने) की अनुमति प्रदान नहीं करती। इसमें जन्म के अनुसार प्रस्थिति अथवा श्रेणी निर्धारित होती है जो व्यक्ति के व्यवसाय, विवाह, और सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करती है।

जाति एक इकाई (समूह) और व्यवस्था दोनों ही रूप में प्रयोग होती है। इकाई के रूप में जाति एक 'बन्द-क्रम (closed) प्रस्थिति समूह' होती है, अर्थात् एक ऐसा समूह जिसमें सदस्यों की प्रस्थिति, उनका पेशा, जीवनसाथी के चयन का क्षेत्र, तथा दूसरों के साथ अन्तर्क्रिया आदि निश्चित होते हैं। व्यवस्था के रूप में, जाति का अर्थ 'प्रतिबन्धों की सामूहिकता (collectivity) से होता है, जैसे सदस्यता परिवर्तन, व्यवसाय, विवाह और सहभोज तथा सामाजिक सम्बन्ध आदि पर प्रतिबन्ध। इस संदर्भ में एक पूर्वधारणा यह है कि कोई भी जाति पृथक नहीं रह सकती अथवा प्रत्येक जाति दूसरी जातियों से आर्थिक, राजनैतिक और संस्कार सम्बन्धों (ritualistic relations) के जाल में जुड़ी हुई है।

### *जाति : संरचनात्मक और सांस्कृतिक अवधारणाएँ (Caste : Structural and Cultural Concepts)*

जाति को संरचनात्मक तथा सांस्कृतिक संदर्भों में देखा जाता है। संरचनात्मक आधार पर यह अन्त: संबद्ध प्रस्थितियों, विविध निषेधों के आधार पर जातियों के बीच प्रतिमानित (patterned) अन्तर्क्रिया और सामाजिक सम्बन्धों के एक स्थाई स्वरूप (stable set) की ओर संकेत करती है। सांस्कृतिक आधार पर इसको मूल्यों, विश्वासों और प्रथाओं की व्यवस्था के रूप में देखा जाता है। अधिकतर विद्वानों ने जाति को एकात्मकता (Solidarity) के रूप में देखा है, न कि मूल्यों और अभिवृत्तियों की सामूहिकता के रूप में। जाति व्यवस्था की संरचना ऐसी है कि इसमें प्रस्थितियों, भूमिकाओं और सामाजिक प्रतिमानों के संदर्भ में प्रत्येक जाति के सदस्यों की और प्रत्येक जाति को एक समूह के रूप में भी, एक परस्पर संबद्ध अधिकारों और दायित्वों की सुगठित व्यवस्था (organised pattern) मिलती है।

संरचनात्मक अर्थ में बूगिल (Bougle, 1958) ने जाति को "आनुवांशिक रूप से विशिष्ट (spcialised) और श्रेणीक्रम में व्यवस्थित (hierarchically arranged) समूह कहा है, जबकि व्यवस्था के रूप में उन्होंने इसके तीन लक्षणों की व्याख्या की है: श्रेणीक्रम, आनुवांशिक विशिष्टीकरण और विकर्षण (repulsion)। अन्तिम लक्षण की व्याख्या करते हुए उसने दावा किया है कि विभिन्न जातियाँ परस्पर आकर्षण (attract) की अपेक्षा प्रतिकर्षण (repel) करती हैं। यह विकर्षण अन्तर्विवाह, सहभोज निषेधों, और सामाजिक सम्पर्कों में प्रकट होते हैं। परन्तु यह व्याख्या सत्य नहीं है। जातियों के बीच प्रतिकर्षण न तो दिखाई देता है और न ही देखा जा सकता है। क्योंकि उन्हें (जातियों को) एक दूसरे की आवश्यकता होती है। **कैथलीन गफ़** (Kathleen Gough) जाति को पदक्रम जन्म प्रस्थिति (ranked birth-status) समूह कहती हैं जो प्राय: अन्तर्विवाही (endogamous) होते हैं और एक व्यवसाय से जुड़ाव रखते हैं। **सेनार्ट** (Senart, 1930) ने जाति को एक "ऐसा बन्द संघ (corporation) कहा है जो आनुवांशिक दूसरी जातियों के साथ एक से पेशे से सम्बन्धित, तथा एक परिषद् (council) से संचालित होता है जो अपने सदस्यों पर दण्ड

द्वारा नियंत्रण रखता है।" इस परिभाषा में 'बंद संघ' पर प्रश्न चिह्न लगाया गया है। इसके अतिरिक्त, सभी जातियों में परिषद (पंचायत) नहीं होती। बेली (Bailey) और श्रीनिवास ने जाति को 'संरचना' के रूप में माना है और जाति की परिभाषा नहीं दी है। एन.के. दत्त (N.K. Dutt, 1931) ने जाति व्यवस्था का वर्णन करते हुए इसके द्वारा विवाह, खानपान, व्यवसाय व आनुवांशिक सदस्यता में परिवर्तन पर प्रतिबन्ध की चर्चा की है। इसके साथ उसने जातियों के श्रेणीक्रम में वर्गीकरण की बात भी कही है। ओपलर मारिस (Opler Morris, 1950) मानता है कि जाति की छोटी-सी परिभाषा सन्तोषजनक नहीं है, इसलिए जाति के लक्षण बताना ही अधिक प्रभावी है। उसने जाति व्यवस्था के तीन प्रमुख लक्षण बताये हैं आनुवांशिक सदस्यता, अन्तर्विवाह, तथा सामाजिक अन्तर्क्रिया को नियमित करने वाले प्रतिमान। (Ghurye, 1957) ने भी जाति व्यवस्था की ऐसी ही विशेषताएँ बताई हैं। आनुवांशिक सदस्यता के अतिरिक्त जाति पंचायत, श्रेणीक्रम और अन्तर्विवाह जैसे लक्षण बताते हुए उसने भोजन व सामाजिक अन्तर्क्रिया पर प्रतिबन्ध, व्यवसाय के असीमित चयन की कमी, और नागरिक (civil) तथा धार्मिक निर्योग्यताओं की ओर भी संकेत किया है। विक्टर डिसूजा (Victor D'souza, 1969.) ने जाति व्यवस्था की परिभाषा के संदर्भ में कहा है कि "जाति व्यवस्था उन आनुवांशिक समूहों का प्रस्थिति श्रेणीक्रम (status hierarchy) की संरचना में एकीकरण (integration) है जो आपसी संबंधों में तो विषमांगी (heterogenous) हैं परन्तु आंतरिक रूप से वे समरूप (homogenous) हैं। यह अवधारणा जाति व्यवस्था को समाज में आनुवांशिक समूहों के बीच श्रेष्ठ या आधीन सम्बन्ध बताती है तथा उन दशाओं का वर्णन भी करती है जिनमें ऐसे सम्बन्ध स्थापित होते हैं।"

योगेन्द्र सिंह (1974) मानते हैं कि संरचनात्मक रूप से जाति व्यवस्था दो प्रवृत्तियाँ (tendencies) एक साथ प्रदर्शित करती हैं: एक खण्डों में विभक्त (segmental) और दूसरी समन्वित (organic)। खण्डित यथार्थ के रूप में। प्रत्येक जाति या उप-जाति परस्पर विकर्षण (mutual repulsion), सामाजिक दूरी व सामाजिक असमानता को दर्शाती है, किंतु एक समन्वित व्यवस्था के रूप में जाति खण्ड (segments) जजमानी प्रथा के माध्यम से पारस्परिकता के सिद्धान्त द्वारा आपस में जुड़े होते हैं। बेली (Bailey) ने जाति स्तरीकरण के सन्दर्भ में कहा है कि यह "बन्द समन्वित स्तरीकरण" है और इसके विपरीत वर्ग "खण्डित स्तरीकरण" है। जाति व्यवस्था में सामाजिक खण्ड (जातियाँ व उपजातियाँ) सहयोग के माध्यम से अन्तर्क्रिया करते हैं और वर्ग व्यवस्था में प्रतियोगिता के माध्यम से करते हैं।

## 4.13 जाति : अध्ययन के तीन परिप्रेक्ष्य (Caste : Three Perspectives of the Study)

भारत में जाति व्यवस्था का अध्ययन तीन परिप्रेक्ष्यों में किया गया है– भारतशास्त्रीय (Indological), सामाजिक-मानवशास्त्रीय और समाजशास्त्रीय। भारतशास्त्रीय विद्वानों ने जाति को धर्मग्रंथ संबंधी (Scriptural) दृष्टिकोण से, मानवशास्त्रियों ने सांस्कृतिक दृष्टिकोण से और समाजशास्त्रियों ने सामाजिक स्तरीकरण की दृष्टि से देखा है।

भारतशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में जाति व्यवस्था की उत्पत्ति, उद्देश्य और भविष्य आदि के अध्ययन के लिए धर्मग्रन्थों को आधार बनाया गया है। जिन्होंने इस परिप्रेक्ष्य का प्रयोग किया है उनका मानना है कि वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्मा के शरीर से हुई और जातियाँ वर्ण व्यवस्था में विखंडित इकाइयाँ (fissional units) हैं जिनका विकास अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों के फलस्वरूप हुआ। यद्यपि विविध जातियों द्वारा माने जाने वाले रीति रिवाज 200-100 BC में लिखी गयी स्मृतियों में विहित (prescribed) हैं परंतु क्षेत्रीय, भाषायी, नृजातीय (ethnic) और दलीय (sectarian) भिन्नताएँ धीरे-धीरे जाति सम्बन्धों को प्रभावित करती रही। भारतशास्त्रियों के अनुसार जातियों की उत्पत्ति श्रम विभाजन के उद्देश्य से हुई। धीरे-धीरे जातियाँ अधिक कठोर होती गईं तथा सदस्यता और व्यवसाय आनुवांशिक हो गए। जाति व्यवस्था में कठोरता 'कर्म' और 'धर्म' में विश्वास का परिणाम है जिसका अर्थ है कि धर्म ही जाति परम्पराओं व नीतियों के लिए प्रेरक शक्ति (motivating power) था। भारतशास्त्री यह भी कहते हैं कि क्योंकि जातियाँ दैवीय (divine) हैं, अतः वे भविष्य में भी जारी रहेंगी।

सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य को मानवशास्त्रियों ने (Hutton, Risley, Kroeber) तीन दिशाओं में विभक्त

नोट

किया है–संरचनात्मक, संस्थात्मक तथा सम्बन्धात्मक। **संरचनात्मक दृष्टिकोण** जाति व्यवस्था की उत्पत्ति, विकास और संरचना में परिवर्तन की प्रक्रिया पर केंन्द्रित है। **संस्थात्मक** (institutional) **दृष्टिकोण** (Rex John) के अनुसार, जाति व्यवस्था केवल भारत में ही पाई जाने वाली अनोखी व्यवस्था नहीं है, बल्कि यह अमरीका आदि में भी पाई जाती है। **सम्बन्धात्मक** (relational) **दृष्टिकोण** के अनुसार जाति स्थितियाँ सैन्य बलों, व्यापार, फैक्टरी, प्रबन्धन, राजनीति, आदि में भी देखी जा सकती हैं। इन संगठनों में जाति व्यवस्था तब कमजोर होती है जब गतिशीलता सामान्य होती है और तब दृढ़ होती है जब इसमें रुकावट हो।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण जाति व्यवस्था को सामाजिक असमानता के रूप में देखता है। समाज के कुछ संरचनात्मक पक्ष होते हैं जो सदस्यों को विविध सामाजिक स्थितियों में विभाजित कर देते हैं।

तीन विविध प्रेरिप्रेक्ष्यों के सन्दर्भ का यह अर्थ नहीं है कि समाजशास्त्री, भारतशास्त्रियों और मानवशास्त्रियों की भाँति जाति व्यवस्था की उत्पत्ति एवं विकास में रुचि नहीं रखते, या कि मानवशास्त्रियों को समाजशास्त्रियों की भाँति जाति व्यवस्था सामाजिक स्तरीकरण के परिणाम के रूप में स्वीकार्य नहीं है।

## *जाति-वर्ण, उपजाति और वर्ग (Caste and Varna, Sub-caste and Class)*

### जाति और वर्ण (Caste and Varna)

जाति और वर्ण दो भिन्न अवधारणाएँ हैं। सामाजिक संगठन का हिन्दू सिद्धान्त वर्णाश्रम संगठन के संदर्भ में ही है, जहाँ वर्ण और आश्रम संगठन दो अलग संगठनों के रूप में माने जाते हैं। आश्रम संगठन संसार में व्यक्ति के व्यवहार को जीवन की विविध अवस्थाओं में इंगित करता है, जबकि वर्ण संगठन उस कार्य से सम्बद्ध है जो व्यक्ति समाज में अपनी स्थिति (position) के अनुकूल तथा अपने जन्मजात स्वभाव व अपनी प्रवृत्तियों और प्रकृति के अनुसार करेगा। यद्यपि ऋग्वेद में दो वर्णों का ही उल्लेख है–आर्य और दास–और समाज के विभाजन का उल्लेख तीन क्रमों में है–ब्रह्म (पुरोहित), क्षत्र (योद्धा) और विस (सामान्यजन)–लेकिन चौथे क्रम अर्थात शूद्र का कहीं भी उल्लेख नहीं है, यद्यपि आर्यों द्वारा घृणा किए जाने वाले समूहों का संदर्भ आता है, जैसे अयोग्य, चाण्डाल, और निषाद, आदि। ये चार क्रम अन्ततः चार वर्ण हो गए। वैदिक काल में उच्च या निम्न वर्ण जैसा कुछ नहीं था। समाज का चार वर्णों में विभाजन-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र श्रम विभाजन पर आधारित था। प्रत्येक वर्ण के सदस्य अलग-अलग कार्य करते थे। (क्रमशः पुजारी का, शासक व योद्धा का, व्यापार का और सेवाओं का), विभिन्न देवी देवताओं की पूजा करते थे और विविध-संस्कारों का पालन करते थे, लेकिन सह-भोज या सामाजिक सम्बन्धों या एक वर्ण से दूसरे वर्ण में परिवर्तन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। बाद में, जैसे-जैसे हम वैदिक काल (4000-1000 BC) से ब्राह्मण काल (230 BC से 700 AD) तक चलते हैं, ये चारों वर्ण श्रेणीक्रम में व्यवस्थित होते चले गए और ब्राह्मण सर्वोच्च शिखर पर रहे। एक दृष्टिकोण के अनुसार वर्ण का अर्थ होता है रंग, और शायद इसीलिए समाज का विभाजन गोरे और काले रंग के आधार पर हो गया। हट्टन (Hutton, 1963) का विश्वास है कि यह सम्भव है कि यह रंग-भेद काफी मात्रा में प्रजाति (race) से सम्बद्ध है। होकार्ट (Hocart, 1950) के अनुसार रंग का सांस्कारिक (कर्मकांडी) (ritualistic) महत्त्व है न कि प्रजातीय (racial)।

वर्णों की उत्पत्ति की भाँति ही जातियों की उत्पत्ति की भी रिजले, घूर्ये, मजमूदार आदि जैसे विद्वानों द्वारा प्रजातीय अर्थों में व्याख्या की गई है किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि जातियाँ वर्णों के उप-भाग (sub-divisions) हैं। जातियों की उत्पत्ति का वर्ण से कोई सम्बन्ध नहीं है। जातियों का श्रेणीक्रम और जाति की गतिशीलता वर्ण के संदर्भ में ही प्रयोग होने लगी। इस प्रकार वर्ण ने एक ऐसी रूपरेखा (framework) प्रस्तुत कर दी जिसमें जाति के प्रति सभी भारतीय विचार और सभी प्रतिक्रियाएँ उसी में सम्मिलित हो गईं (Hsu, 1963)। श्रीनिवास ने (1962) भी यह कहा है कि वर्ण ने एक सामान्य सामाजिक भाषा प्रदान की है जो सम्पूर्ण भारत के लिए सही है, अर्थात् इसने एक सरल और स्पष्ट योजना प्रदान कर के सामान्य स्त्री पुरुषों को जाति प्रथा समझने और अपनाने के योग्य बना दिया है जो भारत के सभी लोगों में लागू है। उसने यह भी माना है कि वर्ण व्यवस्था का महत्व इस बात में निहित है कि इसने अखिल भारतीय स्तर पर एक ढांचा (frame) प्रदान किया है जिसमें निम्न जातियों ने सदैव उच्च जातियों के रीति रिवाजों

नोट

को अपना कर अपनी प्रस्थिति को ऊँचा करने का प्रयत्न किया है। इससे समस्त हिन्दू समाज में समान संस्कृति के विस्तार में सहायता मिली है।

### *जाति और उप जाति (Caste and Sub-Caste)*

जाति और उपजाति के बीच अन्तर स्पष्ट नहीं है क्योंकि दोनों के समान लक्षण हैं। एक उप-जाति जाति का ही उप विभाजन है। 'ब्राह्मण' वर्ण और जाति दोनों में ही पदासीन है। कान्यकुब्ज, सरयूपाणीर और गौड़ ब्राह्मण जाति के उदाहरण हैं, और श्रमाली, पुरोहित और पुष्कर्ण ब्राह्मण उपजातियों के उदाहरण हैं, जबकि भारद्वाज, गौतम और कश्यप ब्राह्मण गोत्र हैं। जातियाँ और उप-जातियाँ अन्तर्विवाही समूह हैं लेकिन गोत्र बहिर्विवाही समूह हैं।

उप-जातियों की उत्पत्ति के विषय में दो दृष्टिकोण हैं: प्रथम कि उनका एक ही समूह के विखण्डन से उदय हुआ, और दूसरा कि उनका उदय स्वतंत्र समूहों के रूप में हुआ। (A.C. Mayer, 1960) घूर्ये के अनुसार (1957) उपजातियों का जातियों में प्रभेद निम्न कारकों के आधार पर किया गया। क्षेत्रीय पृथकता, मिश्रित उत्पत्ति, व्यावसायिक श्रेष्ठता, व्यावसायिक प्रविधि (technique) में अन्तर, रीति रिवाजों में असमानता, और उपनाम का अपनाना। रिजले (1915), हट्टन (1961) और मजूमदार (1958) ने उपजाति को मुख्य जाति से अपनी प्रस्थिति को उठाने के लिए टूटने का परिणाम कहा है। बी आर चौहान (1968) ने माना है कि विखण्डन के कारण उपजाति का जन्म प्रव्रजन, रिवाजों के परिवर्तन, राजनैतिक निर्णयों आदि कारकों के प्रकाश में समझाया जा सकता है। क्रिकपैट्रिक (Krickpatrick, 1912) ने कहा है कि उपजातियाँ, जो जातियों से विखण्डित समूह हैं, प्रारम्भ में प्रव्रजन (migration) तथा सामाजिक व राजनैतिक कारकों के परिणाम स्वरूप अस्तित्व में आई लेकिन आज वे किसी घृणित जाति में समृद्ध व्यक्तियों द्वारा अपने निम्न जातीय भाइयों से अलग होकर नये नाम से सामाजिक पैमाने में अपने को उठाने और अपने को किसी उच्च जाति से सम्बद्ध करने के प्रयत्नों के फलस्वरूप अस्तित्व में आ रही हैं। आन्द्रे वेतेई (Andre Beteille) (1965) ने एक जाति द्वारा अनेक उपजातियों को अपने अन्तर्गत मिलाने तथा जाति के कार्यों में विविध ध्रुवता (multi polarity) को प्रकाशित किया है।

आज जातियों और उप जातियों के विविध कार्य (function) और क्रियाकलाप (activities) हैं। उपजातियों द्वारा किए जाने वाले तीन कार्य हैं। विवाहों का नियंत्रण करना, सहभोज सम्बन्धों का प्रतिबन्ध, और एक वृहत समाज के भीतर ही रहन-सहन के अर्थ में साम्प्रदायिक जीवन या व्यवहार को संचालित करना। जातियों के तीन कार्य हैं। प्रस्थिति प्रदान करना, नागरिक और धार्मिक अधिकारों की सीमाओं को समाप्त करना, और व्यवसाय का निर्धारण करना। इन विशेषताओं के सन्दर्भ में घूर्ये (1957) ने माना है कि "हमें उपजातियों को ही वास्तविक जातियों की मान्यता देनी चाहिए।" एसीमेयर (Mayer, 1960) ने भी जाति से उपजाति को मान्यता देने की आवश्यकता के विषय में कहा है। उसने घूर्ये के जाति के संदर्भ को समाज के लिए सार्थक और उपजाति को व्यक्ति के संदर्भ में सार्थक माना है। एक ही जाति के भीतर सदस्यों के संदर्भ में उसने माना है कि उपजाति उनके लिए अधिक सार्थक है, जबकि अन्य जाति के सदस्यों के संदर्भ में उसका विचार है कि जाति पहचान का मुख्य बिन्दु है। इस प्रकार उसका विचार है कि एक-दूसरे से अधिक यथार्थ न बन कर जाति और उपजाति सह अस्तित्व बनाये रख सकती हैं।

जाति व्यवस्था की इकाई क्या है? क्या यह जाति है या उपजाति? श्रीनिवास (1952) का मत है कि 'उपजाति' ही जाति व्यवस्था की 'वास्तविक' इकाई है। परन्तु अपने अध्ययन में (कर्नाटक राज्य के मैसूर प्रदेश में रामपुरा गाँव में) उसने जाति को ही केन्द्र-बिंदु माना था। मेयर (1960) के अनुसार, क्षेत्रीय (regional) स्तर पर उपजाति अन्तर्जातीय तथा अन्त: जातीय सम्बन्धों की इकाई हो सकती है। लेकिन गाँव के भीतर अन्तर्जातीय सम्बन्ध उपजाति के बजाय जातियों के संदर्भ में देखे जाते हैं। इरावती कर्वे (1938) उपजातियों को विश्लेषण की 'अन्तिम इकाईयाँ' मानती हैं। घूर्ये (1950) की मान्यता है कि आमतौर पर जाति ही अधिकतर समाज के द्वारा मान्यता प्राप्त होती है लेकिन एक विशेष जाति या व्यक्तियों द्वारा उपजाति ही अधिक महत्वपूर्ण मानी जाती है। इसलिए हमें उपजाति को ही जाति संस्था के समाजशास्त्रीय रूप में सही दृष्टिकोण जानने के लिए मान्यता देनी चाहिए। स्टीवेन्सन (Stevenson, 1954) के अनुसार,

जाति और उपजाति की अवधारणाओं में भ्रम होने के कारण अच्छा तो यह है कि इन दोनों के बीच अन्तर की उपेक्षा कर दी जाये। लेकिन ऐसा नहीं किया जा सकता है क्योंकि दोनों के कार्य अलग-अलग हैं।

नोट

### *जाति और वर्ग (Caste and Class)*

जाति और वर्ग, मैक्स वेबर के अनुसार, दोनों ही 'प्रस्थिति-समूह' हैं। प्रस्थिति समूह उन व्यक्तियों का समूह है जिनकी एक जैसी जीवन शैली होती है और जो एक ही प्रकार की चेतना अभिव्यक्त करते हैं। जहाँ जाति को एक निर्धारित सांस्कारिक (ritualistic) प्रस्थिति वाला आनुवांशिक समूह समझा जाता है वहीं सामाजिक वर्ग ऐसे लोगों की श्रेणी होती है जिनकी अपने सम्प्रदाय या समाज में अन्य खण्डों (segments) के साथ सम्बन्धों के अर्थ में समान सामाजिक-आर्थिक प्रस्थिति होती है। व्यक्ति और परिवार जो एक सामाजिक वर्ग बनाते हैं शैक्षिक, आर्थिक और प्रतिष्ठा प्रस्थिति में सापेक्ष रूप से समान होते हैं। वे जो एक ही सामाजिक वर्ग के रूप में वर्गीकृत हैं उनको जीवन के एक-समान अवसर प्राप्त होते हैं। कुछ समाजशास्त्री सामाजिक वर्गों को प्रकृति में प्रमुख रूप से आर्थिक मानते हैं जबकि कुछ अन्य विद्वान दूसरे कारकों पर बल देते हैं, जैसे प्रतिष्ठा, जीवन शैली, अभिवृत्तियाँ, आदि। जाति व्यवस्था की विशेषता 'संचित असमानता' (cumulative inequality) है, लेकिन वर्ग व्यवस्था की विशेषता 'विकीर्ण (dispersed) असमानता है। एक वर्ग के सदस्यों की समाज में अन्य वर्गों के साथ एक समान सामाजिक-आर्थिक प्रस्थिति होती है, जबकि जाति के सदस्य अन्य जातियों के साथ उच्च या निम्न प्रस्थिति अनुभव करते हैं। जाति भारत में पाई जाने वाली अनोखी व्यवस्था है (Leach and Dumont) लेकिन वर्ग विश्वव्यापी सार्वभौमिक घटना है। जाति गाँव में एक सक्रिय राजनैतिक शक्ति के रूप में काम करती है न कि वर्ग के रूप में। आन्द्रे बेतेई ने दक्षिण भारत के श्रीपुरम में जाति और वर्ग के अध्ययन में पाया कि साम्प्रदायिक और राजनैतिक कार्यवाही के लिए वर्ग आधार नहीं होता। इस सन्दर्भ में लीच (1960) ने कहा है कि जब जाति आर्थिक और राजनैतिक कार्य करती है और दूसरी जातियों के साथ प्रतिस्पर्धा करती है तो यह जाति सिद्धान्तों की परवाह नहीं करती। गफ़ और रिचर्ड फाक्स (Gough and Richard Fox) ने भी यही स्थिति मानी है। परन्तु एम एन श्रीनिवास (1972) लीच के साथ इस बिन्दु पर सहमत नहीं हैं। उनकी मान्यता है कि जातियों के भीतर प्रतिस्पर्धा को जाति सिद्धान्तों की परवाह न करना नहीं कहा जा सकता। यह सत्य है कि जातियाँ एक-दूसरे पर निर्भर हैं (यजमानी प्रथा) लेकिन इस अन्तर्निभरता के साथ जातियाँ राजनैतिक और आर्थिक शक्ति तथा सांस्कारिक प्रस्थिति प्राप्त करने के लिए आपस में प्रतिस्पर्धा करती है। जाति और वर्ग के बीच एक और अन्तर यह है कि जाति की समन्वित (organic) विशेषता होती है लेकिन वर्ग खण्डों (segments) में बँटा होता है। जाति व्यवस्था में उच्च जातियाँ निम्न जातियों की सेवाओं के लिए आपस में स्पर्धा करती हैं लेकिन वर्ग व्यवस्था में निम्न वर्ग उच्च वर्ग का संरक्षण प्राप्त करने के लिए परस्पर प्रतिस्पर्धा करते हैं (Leach 1960 : 5-6)। जाति व्यवस्था में किसी जाति की प्रस्थिति आर्थिक व राजनैतिक विशेषाधिकारों से निर्धारित नहीं होती बल्कि सत्ता की कर्मकांडी (ritual) वैधानिकता से होती है, अर्थात् जाति व्यवस्था में कर्मकांडी प्रतिमान शक्ति और धन के प्रतिमानों की परिधि में नहीं होते हैं (Dumont)। उदाहरणार्थ, यद्यपि ब्राह्मणों के पास आर्थिक या राजनैतिक शक्ति नहीं होती, फिर भी जाति श्रेणीक्रम में उनका स्थान सर्वोपरि होता है। वर्ग व्यवस्था में कर्मकांडी प्रतिमानों (ritual norms) का कोई महत्व नहीं होता बल्कि शक्ति और धन ही व्यक्ति की प्रस्थिति का निर्धारण करते हैं। बेली ड्यूमान्ट के कथन से सहमत नहीं हैं कि आर्थिक मूल्यों के बजाय धार्मिक विचार प्रत्येक जाति के क्रम को स्थापित करते हैं। वे कहते हैं कि यदि हम इस कथन को स्वीकार कर लें तो इसका अर्थ होगा कि आर्थिक संसाधनों पर नियंत्रण में परिवर्तन क्रम (rank) में परिवर्तन किये बिना हो सकते हैं। यह केवल आंशिक सत्य है। ब्राह्मणों और अस्पृश्यों के लिए यह सत्य हो सकता है लेकिन मध्य जातियों के लिए नहीं। बिस्सीपारा (Bisipara) ने अपने अध्ययन में (1957) पाया कि धन में परिवर्तन से क्रम (rank) में परिवर्तन आ जाता है। अन्त में, सामाजिक गतिशीलता जाति व्यवस्था में सम्भव नहीं है लेकिन वर्ग व्यवस्था में प्रस्थिति परिवर्तन सम्भव है। डी.एन. मजूमदार (1958)

नोट

ने इस संदर्भ में जाति को बन्द वर्ग के रूप में समझाया है। एम.एन. श्रीनिवास ने इस विचार को स्वीकार नहीं किया है। वह मानता है (1962 : 42) कि गतिशीलता केवल संस्कृतीकरण और पश्चिमीकरण की प्रक्रियाओं से ही सम्भव है। आन्द्रे बेतेई (1965) ने भी कहा है कि कोई भी सामाजिक व्यवस्था पूर्णरूपेण बन्द नहीं होती है। वैकल्पिक समन्वय के लिए थोड़ा ही भले हो लेकिन विस्तार की गुंजाइश होती है।

### *गैर-हिन्दुओं में जाति व्यवस्था (Caste System Among Non-Hindus)*

क्या जाति विशिष्ट (particularistic) या सार्वभौमिक (universalistic) घटना है? क्या यह अनोखी व्यवस्था केवल भारत में ही पाई जाती है या यह अन्य देशों में भी पाई जाती है? मुख्य विचार यह है कि जाति को जब सांस्कृतिक घटना (विचारधारा या मूल्य व्यवस्था) के रूप में देखा जाता है तो यह केवल भारत में ही पाई जाती है और जब संरचनात्मक घटना के रूप में देखा जाता है तो यह अन्य समाजों में भी पाई जाती है।

स्वतंत्रता के पूर्व जनगणना आयुक्तों ने भारत में (वर्तमान पाकिस्तान सहित) जाति की तरह की अन्तर्विवाही समूहों और गैर-हिन्दुओं में व्यावसायिक विशिष्टीकरण होने की रिपोर्ट दी थी। एनके बोस के अनुसार, (1949-1951) हिन्दुत्व से परिवर्तित मुस्लिम लोग भी जाति प्रारूप में अन्तर्विवाह और आनुवांशिक परम्परागत व्यवसाय को ही अपनाए हुए थे क्योंकि वे इसमें आर्थिक सुरक्षा का अनुभव करते थे। 1956 और 1965 के बीच आर. गुप्ता द्वारा (उत्तरी पश्चिमी उत्तरप्रदेश के एक गांव के मुस्लिमों में), जी अनसारी द्वारा 1960 में (Muslim Castes in UP), अहमद द्वारा 1962 में (On Muslim Castes in UP), एम. के. सिद्दीकी द्वारा 1970 में (Caste Among Muslims of Calcutta), गुहा द्वारा 1971 में (Rural Bengali Muslims), साग्रे द्वारा 1959 में (on Jains), आई.पी. सिंह द्वारा 1958 में (सिखों पर), शिफरा स्ट्राहिजोणर (Suchifra Strezower) द्वारा 1959 में (Jews पर,) और मैकिम मेरियट (McKim Marriott) द्वारा 1960 के दशक में किए गये अध्ययनों से गैर-हिन्दुओं में जाति प्रथा के प्रचलन का संकेत मिलता है। डयूमान्ट, लीच, पोकाक, और टी.एन. मदान ने भारतीय सभ्यता के बाहर के लोगों का अध्ययन किया और उनमें जाति की सामाजिक संरचना के लक्षण पाये। लीच ने अपने अध्ययन (Aspects of Caste in South India, Ceylon and North West Pakistan, 1960) में श्रीलंका में बौद्धों में तथा पाकिस्तान में स्वात (Swat) के मुसलमानों में जातियाँ देखी। रयूक नाइट (Reuck Knight, 1987) और बेरीमैन (Berreman, 1966) ने भी यूरोप और अमरीका में प्रजातीय स्तरीकरण में जाति व्यवस्था की कुछ विशेषताएँ और जापान में अस्पृश्य जातियों को सन्दर्भित किया है। स्तरीकरण के जाति और प्रजाति व्यवस्था की तुलना के बावजूद भी यह कहना अधिक सही होगा कि संरचनात्मक तथा सांस्कृतिक दृष्टि दोनों से जाति प्रथा उन क्षेत्रों तक ही सीमित है जहाँ भारतीय सभ्यता के कुछ तत्व पाए जाते हैं। इन क्षेत्रों की जनसंख्या अनेक अन्तर्विवाही सामाजिक इकाइयों में विभक्त है जो वर्ण नमूने के क्षेत्रीय प्रतिदर्श को अपनाए हुए श्रेणीक्रम में अन्तर्क्रिया करते हैं।

योगेन्द्र सिंह (Sociology of Social Stratification, A Survey of Research in Sociology and Social Anthropology) ने सैद्धान्तिक रचना के दो स्तरों के बीच अन्तर करते हुए जाति के चार दृष्टिकोणों का सन्दर्भ दिया है–सांस्कृतिक व संरचनात्मक तथा सार्वभौमिक व विशिष्टीकरण। ये चार दृष्टिकोण हैं सांस्कृतिक–सार्वभौमिक, सांस्कृतिक–विशिष्टीकरण, संरचनात्मक–सार्वभौमिक और संरचनात्मक–विशिष्टीकरण। लीच (1960) ने जाति के संरचनात्मक विशिष्टीकृत दृष्टिकोण का प्रयोग करते हुए माना है कि जाति प्रथा भारतीय समाज तक ही सीमित है, अन्य लोग जो जाति को संरचनात्मक सार्वभौमिक दृष्टिकोण से देखते हैं, मानते हैं कि भारत में जाति, सामाजिक स्तरीकरण के बन्द स्वरूप की एक सामान्य घटना है। घूर्ये (1957, 1961) जैसे समाजशास्त्रियों का तीसरा दृष्टिकोण भी है जो जाति को सांस्कृतिक सार्वभौमिक घटना मानते हुए, (विशेष रूप से उस श्रेणीक्रम में जो व्यक्तियों या समूहों के क्रम को निश्चित करने का आधार बनाता है) कहते हैं कि जाति जैसा स्तरीकरण का आधार अधिकतर परम्परागत समाजों के रूप में भारत में जाति प्रस्थिति आधारित सामाजिक स्तरीकरण की सामान्य व्यवस्था का एक विशेष स्वरूप है। पूर्व में मैक्स वेबर द्वारा बनाया गया दृष्टिकोण समकालीन समाजशास्त्र में भी प्रचलित है। जाति पर चौथा

विचार सांस्कृतिक-विशिष्टीकरण विचार है। डयूमान्ट (Louis Dumont, 1986, 1961) मानता है कि जाति केवल भारत में ही पाई जाती है।

योगेन्द्र सिंह (1974-317) ने जाति के संरचनात्मक विशिष्टीकरण विचार को मानते हुए कहा है कि संस्थात्मक असमानता और इसके सांस्कृतिक व आर्थिक अवयव (coordinates) वास्तव में वे कारक हैं जो भारत में सामाजिक स्तरीकरण की अनोखी व्यवस्था के रूप में बनाए हुए हैं। संरचनात्मक दृष्टि से जाति व्यवस्था में चार मुद्दे (issues) विशेष महत्त्व के हैं–(*i*) जाति क्रम (ranking) निर्धारण में इकाई अवयवों (unit components) से सम्बद्ध (जैसे, वर्ण, जाति, उपजाति), (*ii*) जाति विलय (fusion) और विखण्डन (fission) के तरीके, जाति संघ निर्माण; जाति महासंघ या संस्कृतीकरण द्वारा नयी उपजाति बनाने से सम्बद्ध (*iii*) सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया में जाति प्रभुत्व व संघर्ष से सम्बद्ध और (*iv*) जाति व्यवस्था में सामाजिक गतिशीलता के विस्तार से सम्बद्ध। इन सन्दर्भों में जाति केवल भारत में ही पाई जाती है।

नोट

## 4.14 जाति व्यवस्था में परिवर्तन (Transformation of Caste System)

### *प्रारम्भ से मध्य और ब्रिटिशकाल तक इसके सांस्कृतिक, आर्थिक और सामाजिक पक्ष (From Early to Medieval and British Periods-Its Ritual, Economic and Social Aspects)*

जाति व्यवस्था जैसी आज है यह अनेक शताब्दियों में विकसित हुई है। प्राचीन काल में (4,000 BC से 700 AD) अर्थात् वैदिक, ब्राह्मण, मौर्य तथा मौर्योत्तर काल में (या-सागा, कुषाण और गुप्त काल), इसके कार्य और संरचना मध्य काल (राजपूत और मुस्लिम काल अर्थात् 700 AD से 1707 AD तक) और ब्रिटिश काल (अर्थात् 1757-1947 AD) से काफी भिन्न थी।

#### *वैदिक काल (1500 B.C.-322 B.C.)*

जाति व्यवस्था के प्रचलन से सम्बद्ध दो विचार हैं। एक सम्प्रदाय का मानना है कि जाति व्यवस्था पहले से ही विद्यमान थी और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, जाति के तीन भाग थे जिन्हें ऋग्वेद काल के समाज ने स्पष्ट मान्यता प्रदान की थी। परन्तु शूद्र जाति विद्यमान नहीं थी। दूसरा सम्प्रदाय (Weler, 1882 और Ghurye, 1932) मानता है कि ये तीन जातियाँ नहीं वरन् वर्ण थे जो आनुवांशिक न होकर लचीले थे। ब्राह्मण काल में, जो ब्राह्मण और उपनिषदों के बाद का काल था, चार वर्णों की श्रेणीक्रम व्यवस्था स्थापित हो चुकी थी और आगे आने वाले समय में भी चलती रही। धर्म की आड़ में ब्राह्मण लोग विशेषाधिकारों का आनन्द लेते रहे जिसने उन्हें अनेक प्रतिबन्ध लगाने योग्य बनाया। यद्यपि ब्राह्मण और क्षत्रिय एक-दूसरे पर श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए परस्पर संघर्षरत रहे लेकिन क्षत्रियों ने वैश्यों तथा शूद्रों के ऊपर अपनी शक्ति बढ़ा ली। विभिन्न सामाजिक समूहों के बीच सामाजिक सम्बन्धों के विषय पर संहिताओं और ब्राह्मणों में, जाति भिन्नताएँ स्पष्ट होती गयीं। रामायण और महाभारत (epics) काल के पिछड़े भाग में पुजारी कार्य आनुवंशिक हो गया और अपरिहार्य रूप से ब्राह्मणों ने रक्त की पवित्रता और अन्य लोगों पर अपनी श्रेष्ठता प्राप्त करने पर ध्यान देना शुरू कर दिया। उन्होंने गृह सूत्र (700-300 BC) तथा धर्म सूत्र (600-300 BC) के माध्यम से सामाजिक व्यवहार और सम्बन्धों की संहिता बना दी। अत: यह कहा जा सकता है कि जाति प्रथा का प्रारम्भ-बिन्दु परावैदिक काल (800-500 BC) और महाकाव्य (रामायण-महाभारत) काल (500-200 BC) था। क्योंकि सामाजिक स्तरीकरण का आधार श्रम विभाजन था, इसलिए अपने मौलिक स्वरूप में यह जाति व्यवस्था की अपेक्षा वर्ग व्यवस्था अधिक थी। प्रजाति कारक, व्यावसायिक पूर्वाग्रह, कर्म का दर्शन, और शुद्धता तथा अशुद्धता की धार्मिक अवधारणा सभी ने जाति व्यवस्था की रचना में योगदान दिया।

मौर्य काल (322 BC से 184 BC तक) में सम्पूर्ण भारत एक शासक के आधीन प्रथम बार राजनैतिक रूप से एक हुआ। राजनैतिक एकता ने देश की सांस्कृतिक एकता को सुदृढ़ किया। कौटिल्य के लेख इस काल में जाति प्रथा के सामाजिक संगठन और कार्य प्रणाली पर प्रकाश डालते हैं। कौटिल्य (चन्द्र गुप्त मौर्य का एक ब्राह्मण मंत्री) ने ब्राह्मणों द्वारा शूद्रों पर लगाए गए कई प्रतिबन्धों को हटाने का प्रयत्न किया

नोट

और घोषणा की कि शाही कानून धर्म के कानून से ऊपर होंगे। चन्द्रगुप्त मौर्य के पौत्र अशोक के शासन काल में ब्राह्मणों के अधिकारों और विशेषाधिकारों को एक और आघात लगा। अशोक की धार्मिक नीति सहिष्णुता और सार्वभौमिक भ्रातृत्व पर आधारित थी जो जाति बन्धनों को नहीं मानती थी। इन सभी उपायों के कारण जाति प्रथा इस काल में एक कठोर संस्था के रूप में विकसित न हो सकी।

मौर्योत्तर काल में ब्राह्मण धर्म और जाति व्यवस्था को विकास के पुनर्जागरण के लिए फिर से प्रोत्साहन दिया गया। ब्राह्मणों ने मनुस्मृति (185 BC) में अपने लिए विशेषाधिकारों का प्रावधान किया और शूद्रों पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिए। मनु स्मृति में शूद्रों के लिए ब्राह्मणों का अपमान करने पर कठोर दण्ड का प्रावधान किया गया। (जीभ काटना, मुँह में कील ठोकना, कानों में गर्म तेल डालना आदि)। अत: इस प्रकार के प्रावधानों से कानून में समानता पूरी तरह नष्ट कर दी गई और जाति प्रथा कठोर मार्ग पर चल पड़ी और इसने एक नवीन संरचना धारण कर ली। गुप्त काल में (जो सुंग काल के बाद आया, 300 A.D.-500 A.D.) हिन्दू जागरण का काल था। इस काल में ब्राह्मणवाद भारत का नृजातीय (ethnic) धर्म हो गया और जाति प्रथा को अधिक प्रोत्साहन मिला। परन्तु यह बहुत कठोर नहीं हुआ। विवाह के नियम लचीले थे और अन्तर्विवाह तथा अन्तर्भोज के उदाहरण मिलते थे। शूद्रों को व्यापारी, शिल्पी और कृषक व्यवसाय अपनाने की स्वीकृति थी। लेकिन इस काल में अस्पृश्यता लगभग उतनी ही थी जितनी कि आज है। शूद्र लोग मुख्य आवासीय क्षेत्रों से बाहर ही रहते थे। गुप्तोत्तर काल में (हर्षवर्धन और अन्य, 606-700 A.D.) भी जाति प्रथा की वही संरचना जारी रही जो गुप्त काल में थी। इस काल की सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक दशाओं का विशद वर्णन चीनी विद्वान ह्वेनसाँग के लेखों में उपलब्ध है जो 630 A.D. में भारत आया था और 13 वर्ष तक यहाँ रहा। वह लिखता है कि जाति सामाजिक ढाँचे पर हावी थी, ब्राह्मणवाद का आधिपत्य था, और अशुद्ध पेशेवर लोगों (भंगी, कसाई, आदि) को नगर की चार दीवारी के बाहर रहना होता था।

मध्य युग में राजपूत काल (700 से 1200 A.D.) और मुस्लिम काल (1206 A.D. से 1707 A.D.) शामिल हैं। राजपूत काल में हिन्दुओं का सांस्कृतिक जीवन प्रारम्भ काल के जीवन से बिल्कुल भिन्न था। राजनैतिक कारकों के कारण भारतीय सामाजिक व्यवस्था नहीं बदली। ब्राह्मणों ने स्वयं को विशेषाधिकार दे रखे थे। शंकराचार्य द्वारा स्थापित मठ विलासी जीवन के केंद्र बन गए थे। देवदासी प्रथा ने मंदिरों में वेश्यावृत्ति को विकसित किया, जिससे नैतिक आचार संहिता कमजोर हो गई। राजपूतों की अपने वशों के प्रति निष्ठा ने देश के प्रति राष्ट्र भक्ति से उदासीन बना लिया। नयी जातियों और उपजातियों का जन्म हुआ जो अपने ही हितों में इतने संलग्न हो गए कि इसका देश के सामाजिक और राजनैतिक जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ा। परिणामत: विदेशी मुसलमानों ने भारत पर आक्रमण शुरू कर दिया। 1175 A.D. में भारत में महमूद गोरी द्वारा मुस्लिम साम्राज्य की नींव रखी गई और उसके बाद मुगल आक्रमण होते रहे। मुस्लिम काल (1206 से 1707 A.D.) में जाति प्रथा और अधिक कठोर हो गई क्योंकि मुस्लिम हिन्दुओं के लचीलेपन में समाहित नहीं हुए। उनका धर्म ऐकेश्वरवादी होने के कारण अनेकेश्वरवाद से समझौता न कर सका। मुसलमानों ने भारत पर क्योंकि धार्मिक जेहाद बोल दिया और लोगों को इस्लाम में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया, ब्राह्मणों ने हिन्दुओं को धर्म परिवर्तन से बचाने का उत्तरदायित्व सम्भालते हुए, हिंदुओं पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिए और जाति व्यवस्था को कठोर बना दिया। यद्यपि कुछ भक्तों ने–जैसे रामानुज, कबीर, गुरु नानक, चैतन्य, तुकाराम, तुलसीदास, नामदेव, आदि ने इस काल में भक्ति की राह दिखाई जो मूर्तिपूजा और जाति की निन्दा करते थे, लोगों में समानता का उपदेश देते थे, कर्मकाण्ड तथा पुजारी वर्ग के आधिपत्य का विरोध करते थे, फिर भी भक्ति मार्ग जाति व्यवस्था को तोड़ न सका। ब्राह्मणों का हिन्दुओं पर नेतृत्व जारी रहा क्योंकि मन्दिर न केवल धार्मिक कृत्यों के लिए प्रयोग होते थे बल्कि सामाजिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक क्रियाकलापों के लिए भी। ब्राह्मणों ने यह घोषणा करते हुए कि वे सभी हिन्दू जो मुसलमानों के लिए या उनके साथ काम करेंगे, वे मलेच्छ समझे जायेंगे, जाति भेद को और कठोर व गहरा बना दिया। इस प्रकार लोहार, सुनार, नाई, धोबी, खाती और ऐसे ही लोग निम्न जाति के समझे जाने लगे। पुराण फिर से लिखे गए और जाति व्यवस्था को और कठोर बनाने के उद्देश्य से नये आदेशों का प्रावधान किया गया।

नोट

**प्रारम्भिक ब्रिटिश काल या पूर्व औद्योगिक युग** में देश के भौतिक विकास, बाहरी दुनिया से सम्पर्क, सरकार की सामाजिक-आर्थिक नीतियों और कुछ वैधानिक उपायों द्वारा हमारे धार्मिक सिद्धान्तों, सामाजिक प्रथाओं तथा समाज की जाति संरचना में भी परिवर्तन आया। जाति पंचायतों की न्यायिक शक्तियाँ दीवानी तथा फौजदारी न्यायालयों को दे दी गई। 1850 का जाति निर्योग्यता निवारण (Disabilities Removel Act) अधिनियम, 1856 का विधवा पुनर्विवाह अधिनियम और 1872 का विशेष विवाह अधिनियम ने भी जाति प्रथा पर प्रहार किया। जाति प्रथा की दृढ़ता को एक और आघात तब लगा जब कुछ सामाजिक उपायों से अस्पृश्यों की कुछ निर्योग्यताएँ समाप्त कर दीं गई। परन्तु ब्रिटिश सरकार ने इन उपायों को विशुद्ध प्रशासनिक कारणों से किया था न कि इसलिये कि सरकार जाति प्रथा समाप्त करना चाहती थी। घूर्ये (1961 190) ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त किए हैं। समाज सुधारकों के कुछ सामाजिक आन्दोलनों ने भी जाति व्यवस्था पर प्रहार किया। राजा राममोहन राय द्वारा चलाये गये 'ब्रह्म समाज आन्दोलन' ने जाति बन्धनों को अस्वीकार कर दिया और मनुष्य के सार्वभौमीकरण तथा भ्रातृत्व के लिए कार्य किया। न्यायमूर्ति रानाडे द्वारा समर्थित 'प्रार्थना सभा आन्दोलन' ने भी अन्तर्जातीय विवाह, अन्तर्भोज, तथा विधवा पुनर्विवाह आदि समाज सुधारों की ओर ध्यान केन्द्रित किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित 'आर्य समाज आन्दोलन' तथा 'रामकृष्ण मिशन आन्दोलन' ने भी जाति के विरुद्ध आवांज उठाई और इसके उन्मूलन का उपदेश दिया। दक्षिण भारत के लिंगायत आन्दोलन ने लोगों को जाति व्यवस्था छोड़ने का उपदेश दिया। यद्यपि ये सभी प्रहार इस काल में (अर्थात् 20वीं शताब्दी के प्रथम 25 वर्षों में) जाति व्यवस्था की कठोरताओं को समाप्त न कर सके, फिर भी जाति के कुछ संरचनात्मक गुण निश्चित् रूप से प्रभावित हुए।

**औद्योगिक अवधि, ब्रिटिश काल** में प्रथम विश्व युद्ध के बाद 1920-25 से प्रारम्भ हुई। औद्योगीकरण और नगरीकरण (गाँवों से शहरों में लोगों का प्रव्रजन) की प्रक्रिया ने भी जाति संरचना को प्रभावित किया। औद्योगिक विकास ने लोगों को जीवन निर्वाह का नया साधन प्रदान किया और व्यावसायिक गतिशीलता सम्भव हो सकी। नयी आवागमन की सुविधाओं ने भी शीघ्र संचार सम्भव बना दिया जिसने सभी जाति के करोड़ों लोगों को एक साथ ला दिया। भोजन संबंधी संबंधों पर निषेध (taboos) तब कमजोर पड़ने लगे जब विभिन्न जातियों के औद्योगिक श्रमिकों ने गांवों में अपने परिवारों को छोड़कर शहरों में एक ही मकान में इकट्ठा रहना शुरू कर दिया।

नगरीकरण और शहरों के विकास ने जाति प्रथा की कार्य प्रणाली को काफी बदल दिया। न केवल सहभोजी अवरोध कम हो गए बल्कि ब्राह्मणों के अधिकारों पर भी प्रश्न चिह्न लगने लगे हैं। किंगस्ले डेविस (Kigsley Davis, 1951) ने कहा है कि शहरों का अनजानापन, भीड़-भाड़, गतिशीलता, धर्मनिरपेक्षता और परिवर्तनशीलता जाति की क्रियात्मकता को लगभग असम्भव बना देती है। घूर्ये (1961 202) भी शहरी जीवन के विकास के कारण जाति प्रथा की कठोरताओं में परिवर्तन को स्वीकारता है। एम.एन. श्रीनिवास (1962 85-86) का भी मानना है कि ब्राह्मणों के शहरों में प्रव्रजन के कारण, गैर-ब्राह्मण पहले जैसा आदर भाव नहीं दर्शाते और अन्तर्जातीय खान-पान के निषेध कमजोर हो रहे हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जाति प्रथा की संरचना और कार्य प्रणाली और इसके संस्कार, आर्थिक व सामाजिक पक्ष ब्रिटिश काल के **औद्योगिक चरण** में काफी बदल गए।

### *वर्तमान भारत में जाति व्यवस्था (Caste System in Present India)*

1947 में देश की राजनैतिक स्वतंत्रता के बाद, औद्योगीकरण और नगरीकरण के अलावा अन्य कारणों ने भी जाति व्यवस्था को प्रभावित किया। ये हैं विभिन्न राज्यों का विलय, अनेक सामाजिक कानूनों का लागू होना, शिक्षा का विस्तार, सामाजिक-धार्मिक सुधार और आन्दोलन, पश्चिमीकरण, आधुनिक पेशों का विकास, स्थान गतिशीलता और बाजार अर्थव्यवस्था का विकास। वर्तमान काल में जाति की कार्यप्रणाली के बारे में मोटे तौर पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

- जाति व्यवस्था उन्मूलन की प्रक्रिया में नहीं है बल्कि आधुनिक परिवर्तनों के साथ पर्याप्त सामंजस्य कर रही है।
- जाति का धार्मिक आधार टूट गया है।

- विविध प्रकार के प्रतिबन्ध लगाने की पुरानी सामाजिक प्रथाएँ समाप्त हो गई हैं। जाति अब नवीन मूल्यों वाली व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध नहीं लगा सकती।
- अब जाति व्यक्ति के पेशेवर जीवन को निर्धारित नहीं करती यद्यपि उसकी सामाजिक प्रस्थिति आज भी उसकी जातीय सदस्यता पर निर्भर है।
- पिछड़ी जाति/दलितों को समानता प्रदान करने के लिए गम्भीर प्रयत्न किये जा रहे हैं।
- अन्तर्जातीय संघर्ष बढ़ रहे हैं, परन्तु यह संघर्ष सांस्कारिक प्रस्थिति के आधार की अपेक्षा शक्ति अर्जित करने के लिए अधिक हैं।
- जातिवाद में बढोतरी हुई है।
- गाँवों में यजमानी प्रथा कमजोर पड़ गई है, इससे अन्तर्जातीय सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ा है।
- गाँवों में किसी जाति का वर्चस्व अब उसकी धार्मिक प्रस्थिति पर निर्भर नहीं करता।
- जाति और राजनीति एक-दूसरे को प्रभावित कर रहे हैं।
- एक ओर कुछ जातियों के संगठन मजबूत हुए हैं तो दूसरी ओर अधिकतर जातियों ने अपनी सामूहिक एकता खो दी है और उत्तरदायित्व की भावना का ह्रास हुआ है।
- जाति अब सामाजिक प्रगति व राष्ट्रीय विकास में बाधक नहीं है। जाति व्यवस्था के बावजूद भी भारत प्रगति के पथ पर अग्रसर है।

## 4.15 क्या जाति व्यवस्था परिवर्तित हो रही है? (Is Caste System Changing?)

जाति प्रथा के भविष्य के विषय में तथा वर्तमान के सम्बन्ध में दो विचार हैं, एक विचार यह है कि जाति व्यवस्था तेजी से बदल रही है और कमजोर हो रही है, यद्यपि यह समाप्त नहीं हो रही है। इस सम्प्रदाय के डी एन मजमूदार, कुप्पूस्वामी, काली प्रसाद, गार्डनर मर्फी, पालीन कोलेन्ड़ा, और मैक्स वेबर जैसे 1950, 1960 और 1970 के दशक के विद्वान हैं, और आर. के. मुकर्जी, ई. जे. मिल्लर, और एम.एन. श्रीनिवास जैसे 1970, 1980 और 1990 के दशक के विद्वान हैं। दूसरा विचार है कि जाति व्यवस्था इतनी तेजी से नहीं बदल रही है। परिवर्तन धीमी गति से हो रहा है। इस सम्प्रदाय के प्रारम्भिक विद्वान घूर्ये, आई पी देसाई, नर्मदेश्वर प्रसाद और कापड़िया जैसे और वर्तमान विद्वान डामले, डयूमान्ट, आन्द्रे बेतेई, हैरोल्ड गूल्ड योगेन्द्र सिंह, एम.सी. दुबे, और टी.एन. मदान जैसे हैं।

डी.एन. मजूमदार ने "कैसे जाति प्रथा तेजी से बदली है" की व्याख्या करते हुए जातियों के विलय और विखण्डन और जनजातियों के एकीकरण का सन्दर्भ दिया है। कुप्पूस्वामी और कालीप्रसाद (Social Integration Research A study in Inter-caste Relationship, Lucknow University, Lucknow, 1954) ने भी जाति व्यवस्था में कुछ मूलभूत परिवर्तनों का संकेत दिया है। काली प्रसाद के अपने निष्कर्ष ने कि 90 प्रतिशत उच्च जाति के लोगों ने निम्न जाति के लोगों को भोजन में अपना साथ स्वीकार कर लिया है, उसे यह कहने के लिए मार्ग प्रशस्त किया कि जाति विखण्डन अब तेजी से समाप्त हो रहा है। गार्डनर मर्फी ने 1950-52 के दौरान भारत में सामाजिक तनाव पर अध्ययन किए थे, यह निष्कर्ष निकाला कि जाति व्यवस्था को चुनौती का सामना करना पड़ रहा है। मैक्स वेबर (Essays on Sociology, 1952) का विचार था कि सभी जाति सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो गए हैं और बुद्धिजीवी विशिष्ट राष्ट्रवाद के अधिकर्त्ता हो गए हैं। आर. के. मुकर्जी (The Rise and Fall of the East India Company, 1958) ने कहा है कि जाति प्रथा के आर्थिक पक्ष (व्यावसायिक विशिष्टीकरण में परिवर्तन) और सामाजिक पक्ष (उच्च जातियों के रीति रिवाजों को ग्रहण करना, अपवित्र/अशुद्ध पेशों का त्याग) बहुत बदल गए हैं। उसने कहा कि यह परिवर्तन शहरी क्षेत्रों में विशेष हैं जहाँ सामाजिक मेलजोल और जाति सहभोज आदि के नियम अधिक ढीले पड़ गए हैं और निम्न जातियों की सामाजिक और धार्मिक निर्योग्यताएँ समाप्त कर दी गई हैं। ईजे मिल्लर (1958) ने जाति प्रथा में परिवर्तन की बात करते हुए कहा है कि अतीत में जब अन्तर्जातीय सम्बन्धों में परम्परा से मान्य और स्पष्ट अधिकार, दायित्व और प्रभुत्व और आधीनता के प्रतिमान विद्यमान थे, वर्तमान में अन्तर्जातीय सम्बन्धों का स्वरूप अत्यधिक बदल गया है। मिल्लर के साथ ब्राइस रियान (Bryce Ryan) एम.एन. श्रीनिवास, एससी दुबे जैसे अनेक अन्य विद्वानों ने भी बताया है कि जाति व्यवस्था में परिवर्तन हो रहा है। एम.एन. श्रीनिवास (1952 and 1985) ने माना है कि जातियों के बीच परस्पर अधिकार और

नोट

कर्त्तव्य धराशायी हो रहे हैं। गाँवों में व्यक्ति में जाति के प्रति वफादारी में बदलाव नोट किया जा रहा है। यह परिवर्तन संस्कृतीकरण और पश्चिमीकरण के कारण भी आया है। ब्राह्मणों से पहले अंग्रेजों का स्थान हो गया था, भले ही वे गाय, आदि का मांस खाते थे; शराब पीते थे व पाइप से धूम्रपान करते थे। लेकिन लोग डरते थे, उनकी प्रशंसा करते थे और उनका सम्मान करते थे। परिणाम यह हुआ कि नयी और धर्म निरपेक्ष जाति व्यवस्था परम्परागत व्यवस्था पर हावी हो गई जिसमें अंग्रेज नये क्षत्रियों की तरह उच्च शिखर पर आसीन हो गए।

लेकिन दूसरी विचारधारा के विद्वान (जो जाति प्रथा होने वाले परिवर्तन को धीमा और क्रमिक तथा यहाँ तक कि कुछ मामलों में ऊपरी व दिखाऊ बताते हैं) इन परिवर्तनों को समूची जाति व्यवस्था के लिए विघटनकारी नहीं मानते। ये विद्वान, यद्यपि जाति प्रथा के पूर्ण समापन की बात नहीं कहते, फिर भी उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि आज जाति बिल्कुल वैसी नहीं है जैसे अर्ध या पूर्ण शताब्दि पूर्व थी। उदाहरणार्थ, ए.आर. देसाई और दामले (Damle 1981.: 66) ने कहा है "जाति व्यवस्था के लक्षणों में परिवर्तन की विस्तृतता इतनी महान नहीं है जितनी समझी जाती है। इन परिवर्तनों ने समूची जाति व्यवस्था के आवश्यक लक्षणों को प्रभावित नहीं किया है।" घूर्ये (1961, 209-210) का विचार था कि जाति व्यवस्था ने अपनी कुछ विशेषताओं को हटा दिया है। उसने कहा कि अब जाति व्यक्ति के पेशे को निर्धारित नहीं करती लेकिन पुरानी व्यवस्था का अनुसरण करते हुए विवाह व्यवस्था में वही भावना जारी है। व्यक्ति को जीवन के महत्वपूर्ण अवसरों पर अब भी जाति की सहायता पर ही निर्भर रहना पड़ता है, जैसे विवाह, और मृत्यु आदि। उसने आगे कहा, "यद्यपि जाति न्याय करने वाली इकाई के रूप में अब काम नहीं करती फिर भी व्यक्ति पर इसकी पकड़ कम नहीं हुई है। व्यक्ति आज भी जाति की राय से नियंत्रित होते हैं।" उसका विश्वास था कि सामाजिक जीवन में जाति व्यवस्था की ताकत अभी तक हमेशा की तरह मजबूत है।

नर्मदेश्वर प्रसाद (1956 240) ने जाति के कार्यों को दो स्तरों पर विश्लेषित किया है: सांस्कारिक (ritual) (विवाह, भोज आदि) और वैचारिक (ideology) (ब्राह्मणों के प्रति अभिवृत्ति, चुनाव लड़ने के लिए एक हो जाना, आदि)। उसने पाया कि दोनों ही स्तरों पर परिवर्तन हो रहे हैं। इन परिवर्तनों के बावजूद भी जाति प्रथा काफी सीमा तक वैसी ही है। व्यवस्था के भीतर तो परिवर्तन हो रहे हैं, किन्तु व्यवस्था से परे नहीं।

कपाडिया ("Caste in Transition" in Sociological Bulletin, September 1962 : 75) ने चार विशेषताओं को केंद्र मानकर जाति व्यवस्था की विशेषताओं के परिवर्तनों का अध्ययन करने का प्रयत्न किया जाति पंचायतें, सहभोजी निषेध, सांस्कारिक पवित्रता, और अन्तर्विवाह। जाति पंचायतों की कार्य प्रणाली का विश्लेषण करते हुए उसने पाया कि जब जाति पंचायतें 1860 और 1910 के दशकों में शक्तिशाली थी, 1960 के दशक में भी वे शक्तिशाली रहीं यद्यपि कानूनी रूप से उन्हें अपने सदस्यों को बहिष्कृत (ex-communicate) कर परम्परागत प्रतिमानों को थोपने का अधिकार नहीं रह गया था। वे अपने सदस्यों के मन और व्यवहार को नियंत्रित व संचालित करती रहती थीं। सहभोजी निषेधों की बात करते हुए उसने पाया कि यद्यपि यह सत्य है कि ग्रामीण क्षेत्रों तक में अन्तर्भोज (जहाँ सब जातियों के सदस्य पंक्ति में बैठकर भोजन करते हैं–हरिजनों सहित) 1960 के दशक में असाधारण बात नहीं थी लेकिन साथ ही इस बात के साक्ष्य भी हैं कि शहरी क्षेत्रों में भी इस प्रकार के निषेध मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी पूरी तरह समाप्त नहीं हुए थे। उत्सवी शुद्धता (ceremonial purity) में परिवर्तन के संदर्भ में कापडिया ने कहा कि अशुद्धता (pollution) की हिन्दू अवधारणा विषय-क्षेत्र (Scope) में विस्तृत थी और सदी के 20 वर्षों तक परिपालन (observance) में भी अधिदेशात्मक (mandatory) थी। यह नियम आज भी (1960 के दशक तक) ग्रामीण और नगरेत्तर क्षेत्रों (moffusil) में उच्च जाति परिवारों में पालन किए जाते हैं। लेकिन समग्र रूप से (on the whole) कहा जा सकता है कि उनसे लगभग छुटकारा पा लिया गया है। अन्त में, अन्तर्विवाह के सन्दर्भ में उसने कहा कि जाति के अन्तर्विवाही चरित्र में परिवर्तन स्पष्ट नहीं है। अन्तर्जातीय विवाहों की संख्या में वृद्धि देखी जा सकती है, विशेष रूप से गत 20 वर्षों में। साथ ही जाति अन्तर्विवाह के मौजूद होने के साक्ष्य भी हैं।" इस प्रकार उसने निष्कर्ष रूप में कहा कि लोग जाति के विषय में कुछ भी कहें, जाति बन्धनों की स्वीकृति आज भी (1960 के दशक तक) है। इस साक्ष्य में त्रुटि नहीं है कि जाति अन्तिम साँसें नहीं गिन रही हैं, यद्यपि इसमें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं।

'आजकल जाति व्यवस्था का क्या हो रहा है' इस प्रश्न पर ड्यूमान्ट अपनी पुस्तक (Dumont, Homo Hierarchicus, 1971 217-18) में कहता है कि समकालीन (contemporary) साहित्य में परिवर्तन को अतिशय के (exaggerated) ढंग से प्रस्तुत किया है। इतना निश्चित कि जाति समाज का समग्र रचना (overall framework) के रूप में परिवर्तित नहीं हुआ है। मात्र परिवर्तन जो हुआ है वह यह है कि जातियों की परम्परागत परस्पर निर्भरता के स्थान पर उन अथाह खण्डों (impenetrable blocks) में वृद्धि हुई है जो आत्म-निर्भर हैं तथा एक-दसूरे के साथ प्रतिस्पर्धा में भी हैं। ड्यूमान्ट ने इसको जाति का ठोस प्रमाणीकरण (substantialization of caste) कहा है।

आन्द्रे बेतेइ (1976 61-65) ने भी जाति प्रथा में कुछ परिवर्तनों का हवाला दिया है। उदाहरणार्थ, संरचनात्मक दूरी में, जीवन शैली में, सहभोजी सम्बन्धों में, और अन्तर्विवाह आदि में। अतीत में जातियों के बीच संरचनात्मक दूरी न केवल विविध जीवन शैली अपना कर रखी जाती थी बल्कि विवाह, सहभोज और सामान्य सामाजिक परस्पर लेनदेन में विविध प्रकार के निषेधों द्वारा भी रखी जाती थी। आज एक ही उपजाति के दो उपविभागों के बीच संरचनात्मक दूरी इन दोनों में से किसी एक के बीच की अपेक्षा कम है। परम्परागत व्यवस्था में विशेष जाति की विशिष्ट जीवन शैली में भी परिवर्तन आया है। परम्परागत व्यवस्था में सहभोज की इकाई जाति सम्बद्धता के अर्थ में स्पष्ट रूप से कठोरता से परिभाषित की गई है। हाल के ही दशकों में इस इकाई का क्रमिक विस्तार हुआ है। आज ब्राह्मण 'स्वच्छ' शूद्रों के साथ भोजन कर सकते हैं लेकिन आमतौर पर मलिन/अशुद्ध (pollutable) जाति के सदस्यों के साथ नहीं। अन्तर्विवाह की इकाई का भी विस्तार हुआ है यद्यपि थोड़ा ही। बेतेइ के अनुसार, जाति व्यवस्था में ये सभी परिवर्तन भौगोलिक गतिशीलता, पश्चिमी शिक्षा, नये पेशों के सृजन-जिनमें प्रवेश जाति के अलावा अन्य कारकों के आधार पर भी होता है, आधुनिकीकरण की प्रक्रिया, और राजनैतिक कारकों के परिणाम हैं। परन्तु यह भी स्पष्ट है कि कुछ जातियों में अन्य की अपेक्षा आन्तरिक विभेद बहुत अधिक आ चुके हैं। वे जातियाँ जिन पर पश्चिमीकरण का प्रभाव सबसे अधिक पड़ा है वे हैं जो सबसे अधिक बदली हैं। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण, कायस्थ, नायर, आदि जातियाँ तथा सामान्य रूप से वे जातियाँ जिन्होंने पश्चिमी शिक्षा ग्रहण की हैं और मध्यम-वर्गीय पेशे अपनाए हैं और जो मुख्य रूप से वितरण (distribution) की दृष्टि से शहरी हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में कृषक-वर्गीय जातियों ने अधिक समता बनाए रखी हैं तथा उन पर परिवर्तन का प्रभाव कम हुआ है।

हैरोल्ड गूल्ड (Harold Gould, 1988) ने कहा है कि सत्य कहीं इन स्थितियों के बीच स्थित है। जाति व्यवस्था पर औद्योगीकरण का प्रभाव अधिक हुआ है, अपेक्षाकृत वेबर के विचार के। लेकिन उस पैमाने पर जिस पर मार्क्स ने पूर्वानुमान किया था जाति विलीन नहीं हुई है। पारसंस (Parsons, The Social System, 1952) ने इसे यथार्थ (reality) की 'अनुकूलिनी संरचनाएँ' (adaptive structures) कहकर विशेषता बतायी है। इन अनुकूलिनी संरचनाओं ने प्रतिस्पर्धात्मक दवाबों में घिरे लोगों के संरचनात्मक तनावों (structured strains) को कम किया है। हैरोल्ड गूल्ड की मान्यता है कि भारत में जाति की यह विशेषता (अनुकूलिनी संरचना की) न केवल शहरों में स्पष्ट है बल्कि गाँवों में भी है जहाँ जाति अभी भी सुरक्षा, एकता और लोगों के समूहों के लिए वरीयता व्यवहार को बनाये हुए है।

हैरोल्ड गुल्ड के अनुसार (1988) आधुनिक होते हुए भारतीय समाज में अनुकूलनीय संरचनाओं की तरह कार्य करने वाली जातियाँ (जो उनका भविष्य स्थाई एवं सुरक्षित बनाती हैं) का तीन स्वरों पर परीक्षण किया जा सकता है। राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक। राजनैतिक स्तर पर गाँवों और शहरों दोनों में जाति साम्प्रदायिकता और राजनैतिक गुटबाजी आपस में जुड़ी हैं। संसदीय लोकतंत्र (जो गुप्त मतदान से जुड़ा है) में लोगों की संख्या, संसाधनों एवं उन लाभों (favours) (जो चुनाव में जीतने के उपरान्त पद प्राप्त करने से प्राप्त होते हैं) के जोड़-तोड़ (manipulation) को महत्व मिला है। लोकतांत्रिक राजनीति क्योंकि हित-समूहों में पद और सत्ता प्राप्त करने वाले व्यक्तियों में एक प्रतिस्पर्धा है यह स्वाभाविक है कि भारतीय समाज में स्वार्थ समूहों की रचना विखण्डन (clavage) और एकता (solidarity) (जो जातियों और नृवंशीय समुदायों को विभाजित करती हैं) दोनों ही रेखांकित होगी। जातिवाद राजनैतिक मुद्दों और निर्णयों को प्रभावित करता है, जाति निवेदनों (appeals) के बाद धार्मिक निवेदन किये जाते हैं। यह तथ्य भारत

में हिन्दू और मुस्लिम राजनैतिक कार्यविधि से प्रभावित होती है। इसमें आश्चर्य नहीं कि जाति का सभी राजनैतिक स्तरों पर शोषण किया जायेगा।

आर्थिक स्तर पर यद्यपि यह सत्य है कि श्रमिकों व पारिश्रमिक लेने वालों की आर्थिक गतिशीलता, पुरस्कार वितरण, और श्रमिकों की भर्ती, उनकी कार्य गुणवत्ता के आधार पर निर्धारित होते हैं, और विभिन्न जातियों के लोग आधुनिक पेशे अपनाते हैं, लेकिन यह भी समान रूप से सत्य है कि विशेष रूप से गाँवों में उनकी स्थिति प्रचलित जाति संरचना और अन्तर्जातीय सम्बन्धों पर ही निर्भर है। भारत में आज व्यक्तियों के लिए जो आर्थिक समस्या है वह है 'कमी' (scarcity) की–धन की, नौकरी की और अवसरों की–जिससे इस नयी आर्थिक व्यवस्था में भाग ले सकें जो कि धीरे-धीरे बन रही है और स्पष्ट रूप से धन और शक्ति का प्रमुख साधन हैं। इस प्रकार जाति के वे पक्ष जो आधुनिक व्यावसायिक व्यवस्था में शक्ति और पद के सम्भावित दावेदारों के लिए अति लाभदायक होते हैं, जातिवाद और भाई-भतीजावाद (nepotism) ही हैं।

सामाजिक स्तर पर जीवन शैली निर्धारण में तथा उस क्रम स्थिति निर्धारण में जिसमें विवाह निश्चित होने हैं, जातियाँ अभी भी महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि जातियों के पुराने संस्कार और पेशेवर कार्य तेजी से अदृश्य हो रहे हैं, फिर भी जाति में अन्तर्विवाह अभी भी सुरक्षित हैं। जाति संरचना की शुद्धता का विचार विद्यमान रखा गया है तथा आधुनिक सामाजिक सूचीक्रम की आवश्यकताओं के अनुकूल बना लिया गया है। यह भी नोट करने योग्य है कि भारत के अभिजात्य श्रेणी के लोग (elite) बहुत ज्यादा उच्च जातियों के हैं, जब कि निम्न जाति व दास श्रेणी के लोग जातियों का सामीप्य विरोध सूक्ष्म रूप से प्रदर्शित करते हैं।

योगेन्द्र सिंह (1974) ने भारत में जाति प्रथा के भविष्य के सम्बन्ध में तीन परिकल्पनाओं की चर्चा की है– (*i*) उत्पादन की विधि संबंधी परिकल्पना (*ii*) जाति लचीलापन परिकल्पना, और (*iii*) संरचनात्मक अनुकूलनीय परिकल्पना। उत्पादन की विधि (mode of production) संबंधी परिकल्पना, जो किंगस्ले डेविस, मार्क्सवादी (ए.आर. देसाई) और गैर मार्क्सवादी दोनों प्रकार के समाजशास्त्रियों द्वारा समर्थित है, के अनुसार जाति का पतन हो रहा है। किंगस्ले डेविस के अनुसार जाति के पतन के साक्ष्य हैं (1) सहभोजी निषेधों में ध्यान देने योग्य ढीलापन और भोजन के निषेधों के उल्लंघन को सहन करना, (2) अन्तर्विवाह (inter-marriage) की बाधाओं की उपेक्षा करने की बढ़ती प्रवृत्ति या अन्तर्जातीय विवाहों की बढ़ती संख्या, (3) पेशेवर गतिशीलता में वृद्धि, (4) जाति पंचायतों का बिल्कुल कमजोर होना (5) यजमानी प्रथा का कमजोर पड़ना, (6) निम्न जातियों पर उच्च जातियों के प्रभुत्व और प्रभाव का कम होना, (7) अस्पृश्यता का धीरे-धीरे समापन, और (8) सामाजिक गतिशीलता का विकास।

किंगस्ले डेविस (Kingsley Davis) ने औद्योगीकरण के प्रभाव में अनुकूलनीय परिवर्तनों (adaptive changes) के माध्यम से जाति के वर्ग में परिवर्तन होने की सम्भावना व्यक्त की है, यद्यपि ऐसे परिवर्तनों की विवेचना करने के लिए वह मार्क्सवादी विचारधारा का प्रयोग नहीं करता। दूसरी ओर ए. आर. देसाई यद्यपि विचार रखते हैं (जाति का वर्ग में परिवर्तित होना) लेकिन उसने अपने तर्कों को मार्क्सवादी सिद्धान्त पर आधारित किया है। उनके अनुसार जाति कृषि सामन्ती (feudal) व्यवस्था पर आधारित सम्पत्ति के स्वामित्व और उत्पादन की शक्तियों की सामाजिक अभिव्यक्ति है। वह मानते हैं कि (1969) कुछ दर्जन जातियाँ ही आर्थिक संसाधनों, राजनैतिक शक्ति, और उपलब्ध शैक्षिक तथा सांस्कृतिक सुविधाओं का एकाधिकार (monopoly) रखती हैं। आर्थिक ढाँचे में मूल परिवर्तन अपनाए बिना जाति श्रेणीक्रम और जाति व्यवस्था को समाप्त करना सम्भव नहीं होगा।

'जाति की लचीलेपन' संबंधी परिकल्पना (मूल स्थिति को पुनः प्राप्त करना) के अनुसार, औद्योगीकरण, प्रौद्योगिकी का विकास, पश्चिमीकरण, और अन्य लोकतांत्रिक संस्थात्मक विस्तार, जाति कार्यों की प्रक्रिया को प्रतिबन्धित करने की अपेक्षा अधिक सक्रिय और विस्तृत करते हैं। ये सब कारक जाति के क्रमों (ranks) के विलय में और संगठनात्मक गतिशीलता तथा सुव्यवस्थीकरण (rationalisation) में योगदान देते हैं। एम.एन. श्रीनिवास (1964) कहते हैं कि जहाँ मध्ययुगीन भारत में जाति गतिशीलता विखण्डन (fission) पर आधारित थी, वहीं आधुनिक भारत में जाति प्रखण्डों (segments) के विलय का ढंग सक्रिय हो गया है। इस प्रक्रिया में निस्सन्देह जाति की प्रकृति में कुछ परिवर्तन होता है किन्तु यह गिनना सही नहीं होगा, जैसा बेली (Bailey) मानता है, कि जातियाँ अपने लक्षण ही बदल देती हैं। जाति

नोट

व्यवस्था में परिवर्तन नहीं होता। आन्द्रे बेतेइ ने जाति के लचीलेपन की परिकल्पना का समर्थन किया है। उसने जाति की तरह ही, नये संरचना स्वरूपों (पेशेवर तथा व्यावसायिक समूह) की चर्चा की है। बेतेइ का कहना है (1965) कि "राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन से प्रस्थिति समूहों (जातियों) के समाप्त होने की सम्भावना नहीं है। भविष्य के प्रस्थिति समूह निस्सन्देह जाति व्यवस्था के चिह्न अपने साथ अवश्य ले जायेंगे।"

"जाति के लचीलेपन संबंधी परिकल्पना" के विरुद्ध संरचनात्मक अनुकूलनीय (structured adaptation) परिकल्पना है। इस परिकल्पना के अनुसार; जाति संघों, जाति महासंघों और जाति एकता की रचना के माध्यम से जातियाँ अपना मूल चरित्र समाप्त करती हैं और वर्ग-प्रकार का स्वरूप धारण कर लेती हैं। इस विचार के प्रतिपादक इन परिवर्तनों को परिवर्तन के अपरिहार्य अवस्थाओं (inevitable stage) से नहीं जोड़ते। वे जाति के अदृश्य होने की बात भी नहीं करते और न ही वर्ग व्यवस्था से इसके स्थानापन्न होने (replacement) की बात करते हैं।

## 4.16 जाति व्यवस्था का भविष्य (Future of Caste System)

जाति व्यवस्था की पकड़ ढीली होने के कोई संकेत नहीं हैं। परिवर्तन केवल विभिन्न जातियों द्वारा सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने तथा ऊपर उठने के रुख में आया है। जाति व्यवस्था में परिवर्तन यद्यपि निरन्तर और नियमित रूप से हो रहे हैं लेकिन यह (जाति व्यवस्था) अटूट बनी हुई है। विभिन्न जातियों में एक प्रकार की वर्ग चेतना प्रवेश कर रही है। अन्त: समूह (in-group) की भावना से प्रभावित होकर जातियाँ अपनी व्यवस्था को अधिक दृढ़ता से पकड़े रहना चाहती हैं। आजकल, जातियाँ स्वयं को राजनैतिक, सामाजिक व आर्थिक उद्देश्यों के लिए संगठित होने का प्रयत्न कर रही हैं। चुनाव जातिगत आधार पर लड़े जाते हैं। अखिल भारतीय क्षत्रिय महासभा, अखिल भारतीय माथुर संघ, अखिल भारतीय भार्गव संगठन जैसे जाति संगठन विकसित हो गये हैं।

जाति व्यवस्था के भविष्य के विषय में विभिन्न दृष्टिकोण रखने वाले तीन प्रकार के प्रगतिशील हिन्दू मिलते हैं। (*i*) ऐसे लोग जो जाति को अहितकारी (evil) समझते हैं और चाहते हैं कि यह समाप्त हो जानी चाहिए। (*ii*) ऐसे लोग जो सोचते हैं कि जाति व्यवस्था का पतन हो गया है। वे चाहते हैं कि परम्परागत चारों व्यवस्थाओं की पुनर्स्थापना के प्रयत्न होने चाहिए। इस विचार के सबसे बड़े प्रतिपादक महात्मा गान्धी थे। (Young India 1919)। (*iii*) ऐसे लोग जो चाहते हैं कि जाति व्यवस्था जारी रहे लेकिन इसकी पुनर्स्थापना बिल्कुल भिन्न स्थितियों में हो। ये लोग सांस्कृतिक एकता वाली और आर्थिक समानता वाली विभिन्न उप जातियों को मिला देना चाहते हैं। धीरे-धीरे वे जातियाँ जो लगभग समानता के स्तर पर होंगी एक हो जायेंगी और अन्त में एक जाति विहीन समाज की स्थापना हो जायेगी। ये लोग इस प्रक्रिया को मन्द गति से चाहते हैं क्योंकि इससे लोगों को शिक्षित होने का समय मिल जायेगा और वे उन जातियों/वर्गों के वांछित अनुकूलन के साथ परिचित राय बना सकेंगे जो अपने पुराने रीति रिवाजों में परिवर्तन के लिए तैयार नहीं हैं। टी. एच. मार्शल (T.H. Marshall), पी कोडान्डा राव (P Kodanda Rao), आदि, जैसे विद्वानों ने इन तीनों विचार-सम्प्रदायों का मूल्यांकन किया। गान्धी जी द्वारा दिए गए प्रथम विचार पर चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि यह अव्यावहारिक है क्योंकि लोगों को चार श्रेणियों में से किसी एक श्रेणी में रखने के लिए केवल उनका व्यवसाय ही है जो वे आज करते हैं। वर्तमान समाज में व्यवसाय विशिष्ट और विविध होते हैं और एक ही परिवार के लोग इतने भिन्न व्यवसायों में लगे होते हैं कि उन्हें किसी एक श्रेणी की सदस्यता प्रदान करना असम्भव होगा। दूसरे, यदि यह कथन (जातियों को प्रथम तीन व्यवस्थाओं/श्रेणियों में से किसी एक में शामिल करना) सम्भव होता भी, तो अस्पृश्य जातियों का क्या होगा? गान्धी जी ने अस्पृश्यता के विरोधी होने के कारण, स्वाभाविक रूप से इन के लिए सम्मानजनक प्रस्थिति का प्रस्ताव किया। लेकिन उन्हें कहाँ स्थान प्रदान किया जाये? जिस किसी भी व्यवस्था श्रेणी में उन्हें सम्मिलित करने का प्रयास किया जायेगा, उसी व्यवस्था/श्रेणी के लोग अत्यधिक विरोध करेंगे। तृतीय, यह मान लें कि चार व्यवस्थाओं/श्रेणियों में जातियों का वर्गीकरण सम्भव हो भी जाये, क्या हम इन चार व्यवस्थाओं में विवाह की स्वीकृति दें देंगे या प्रतिबन्ध लगाएंगे? दोनों ही पद्धतियाँ अपनी समस्याओं को जन्म देंगी।

अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि समाज के चार प्रकार के विभाजन पर वापसी अव्यावहारिक है। यदि यह कार्य कर भी लिया जाये तो इससे कोई लाभ होने वाला नहीं है।

नोट

दूसरे विचार चर्चा पर कि जातियों को उपजातियों के साथ बड़ी जातियों में एकीकृत करके धीरे-धीरे मिटाया जाये, विद्वानों ने कहा है कि इस बिन्दु को रखने का अर्थ है वास्तविक समस्या की उपेक्षा करना। उनका कहना है कि यह विधि मुम्बई में कई दशकों तक चलाई गई लेकिन परिणाम घातक हुए। एक बड़ा समूह बनाने के लिए सम्मिलित हुई उपजातियाँ बड़े निरुत्साह से बाहरीपन के आन्तरिक भाव को धारण किए रही। नये समूह ने अन्य जातियों के विरुद्ध लड़ाकू रुख अपनाया, विशेष रूप से उन जातियों के विरुद्ध जिनको उनसे थोड़ा ऊँचा या नीचा माना जाता था। अतः विद्वानों का कहना था कि इस प्रकार जाति भक्ति की भावना या जातिवाद पैदा होता है और यदि हम दूसरा दृष्टिकोण अपनाएंगे तो जातिवाद का कम होना अति कठिन हो जायेगा तथा राष्ट्रीय चेतना के पूर्ण विकास के लिए अस्वस्थ वातावरण पैदा हो जायेगा।

कुछ विद्वानों ने तीसरे विचार का समर्थन किया है कि जाति प्रथा को तुरन्त समाप्त कर दिया जाना चाहिए। उनका विचार है कि हमें जातिवाद के विरुद्ध लड़ना है तथा उसे समूल नष्ट करना चाहिए। घूर्ये इस विचार के पक्षधर थे। लेकिन उन्होंने यह विचार 1931 में व्यक्त किया था। तब से लगभग सात दशक व्यतीत हो गए हैं और भारतीय समाज में बहुत परिवर्तन हो गए हैं (देश की आजादी सहित) और जातिवाद के विरुद्ध कई कानून भी लागू किए जा चुके हैं। उदाहरणार्थ, भारत का संविधान (1950 में लागू किया गया) कहता है कि (*i*) जाति के आधार पर राज्य किसी भी नागरिक के साथ भेदभाव नहीं करेगा (सभी जातियों को समान अवसर), (*ii*) किसी भी नागरिक पर जाति के आधार पर किसी भी दुकान, रेस्ट्रां, सार्वजनिक कुओं और तालाबों तक प्रवेश या प्रयोग का प्रतिबन्ध नहीं होगा। (नागरिक नियोग्यताओं की समाप्ति), और (*iii*) अस्पृश्यता के चलन का निषेध। इसी प्रकार किसी भी पेशे को अपनाने पर प्रतिबन्ध नहीं है। समानता की भावना तथा आजादी और भ्रातृत्व की भावना को प्रोत्साहित किया गया है जिसने जाति की जड़ों को काटा है। एक विशेष अधिकारी (आयुक्त) 1951 में पिछड़ी जाति एवं पिछड़ी जनजाति की देखरेख के लिए नियुक्त किया गया था। अब जनगणना में व्यक्ति की जाति को नहीं लिखा जाता। इन सब परिवर्तनों के बावजूद भी गत कई दशकों में, विशेष रूप से गत दो दशकों में जातिवाद और जाति की बुराइयाँ समाप्त नहीं हुई हैं। आशीर्वादम (A New Social Order, 1957) का विचार था कि अतीत में जाति के कितने ही फायदे क्यों न रहे हों, आज यह प्रगति में बाधक है और हमें इसका डटकर विरोध करना है। 1950 व 1960 के दशक में डी. एन. मजूमदार ने भी कहा था कि जिस प्रकार टूटी अंगुली प्रतिस्थापित की जाती है न कि सम्पूर्ण हाथ, उसी तरह एक जाति का दूसरी जाति द्वारा शोषण और इसी तरह के हानिकारक सहवर्ती बुराइयों को समाप्त किया जाना चाहिए, न कि समूची जाति व्यवस्था को।

लगभग 135 वर्ष पहले (1869 में) मैक्समूलर का विचार था कि भारत में जाति को समाप्त नहीं किया जा सकता। इस प्रकार का प्रयत्न मात्र भी कष्टकर व दुष्कर प्रयास होगा। धार्मिक संस्था के रूप में जाति समाप्त हो जायेगी। परन्तु सामाजिक संस्था के रूप में यह जीवित रहेगी और इसमें सुधार भी होगा। पालिन कोलेण्डा (1997) की राय है कि परम्परागत जाति व्यवस्था, जिससे पेशेवर विशिष्टीकृत, परस्पर निर्भर, तथा शुद्धता और अशुद्धता के आधार पर क्रमबद्ध जातियाँ पायी जाती हैं, अदृश्य होने का संकेत दे रही हैं। कोलेण्डा यह प्रश्न भी उठाती है कि अब पेशेवर विशिष्टीकरण और शुद्धता तथा अशुद्धता की व्यवस्था में (जिससे जातियों का एक दूसरे से क्रम व अलगाव का पता चलता था) गिरावट आयी है, क्या नयी जाति व्यवस्था के रूप में एक नया एकीकरण हो सकेगा? उसका विचार है कि वास्तव में यह सम्भव नहीं है कि एक सामाजिक संरचना को जो हजारों वर्षों से लोगों के राजनीतिक, आर्थिक व धार्मिक जीवन को संगठित किए हुए हों, कुछ ही दशकों में बिल्कुल समाप्त कर दिया जाये। समाज वैज्ञानिक जो इस क्षेत्र में काम कर रहे हैं, सभी कहते हैं कि जाति व्यवस्था जीवित है।

यह सत्य है कि जाति व्यवस्था भौतिक व आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त करने में या सामाजिक और राष्ट्रीय विकास में बाधक है। जब तक यह विनाशकारी व्यवस्था चलती रहेगी, हम अपने सामाजिक लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकते। अतः जितनी जल्दी इसकी मृत्यु की घण्टी बजे, उतने ही ऊँचे हमारी प्रगति के अवसर हो जायेंगे। फिर भी यह एक सत्य है कि इस व्यवस्था को समाप्त करना इतना सरल नहीं है।

नर्मदेश्वर प्रसाद द्वारा तीन क्षेत्रों के अध्ययन में–औद्योगिक, गैर-औद्योगिक, और ग्रामीण–कुछ उत्तरदाताओं (1225) से जाति व्यवस्था को कमजोर करने वाले कुछ उपाय प्राप्त हुए। यह थे–शिक्षा और सभी व्यक्तियों के लिए समान अवसर (39.1%), अन्तर्जातीय विवाह (35.3%), अस्पृश्यता निवारण (12.2%), और समानता के आधार पर लोगों से व्यवहार (13.4%)। लेकिन क्या ये उपाय वास्तव में जाति प्रथा को समाप्त करने या कमजोर बनाने में सहायक होंगे? शायद नहीं। सर्वोच्च न्यायलय ने भी नवम्बर 1992 में मण्डल आयोग की रिपोर्ट के क्रियान्वयन कराने के निर्णय में यह माना था कि मात्र जाति ही आरक्षण का आधार होगी।

जाति के कौन-से गुण और कार्य समकालीन समाज में जाति को जारी रखे हुए हैं? आज दो कार्य महत्वपूर्ण मालूम पड़ते हैं (*i*) यह शक्ति प्राप्ति करने के लिए अवसर प्रदान करती है और (*ii*) यह सामाजिक गतिशीलता को सम्भव बनाती है (यदि हम श्रीनिवास के जाति के संस्कृतिकरण के विचारों को स्वीकार कर लें)। आधुनिक समाज में गतिशीलता–व्यावसायिक, आर्थिक और सामाजिक, शिक्षा, प्रशिक्षण, भौतिक संसाधनों, उपलब्ध भाई भतीजावादी तन्त्र, व्यक्तिगत प्रभाव, सामाजिक परिष्करण (refinement), और साथ ही जाति क्रम (rank) जैसे कारणों पर निर्भर करती है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जाति व्यवस्था आगामी वर्षों और दशकों में भी यथार्थ बनी रहेगी।

## 4.17 जाति की गतिशीलता (Mobility of Caste)

समाज वैज्ञानिकों ने भारतीय सामाजिक यथार्थ का वर्ग, जाति, जनजाति, धर्म और भाषायी समूहों के संदर्भ में विश्लेषण किया है। यही श्रेणियाँ समाज में परिवर्तन की प्रक्रिया में अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने के लिए प्रयोग की जाती रही हैं। पहले जब यह माना जाता था कि जाति व्यवस्था भारतीय समाज को बन्द व्यवस्था के रूप में बनाए रखती है, अब यह कहा जाता है कि अन्तर्विवाह, श्रेणीक्रम, और अशुद्धता की भावना का त्रिकोण टूट रहा है (K.S. Singh 1992)। सामाजिक गतिशीलता की समस्या सामाजिक स्तरीकरण की समस्या से सीधे जुड़ी हुई है। योगेन्द्र सिंह (1974) का मत है कि परम्परा आधुनिकता द्विभाजन (dichotomy) ने सामाजिक गतिशीलता के अध्ययन में परिप्रेक्ष्यों (perspectives) में असमंजस (confusion) पैदा किया है। इस प्रकार की असमंजस की स्थिति पश्चिमी विद्वानों में देखी गई थी। इससे यह माना गया कि परम्परागत भारतीय सामाजिक व्यवस्था में गतिशीलता थी ही नहीं जिसे स्तरीकरण की बन्द व्यवस्था का नाम दिया गया था। यह दर्शाता है कि ये विद्वान वैचारिक पूर्वाग्रह से त्रस्त थे। एम.एन. श्रीनिवास (1968) ने कहा है कि जब परम्परात्मक भारतीय समाज स्थिर (stationary) लक्षण वाला था फिर भी इसने स्थानीय श्रेणीक्रम में जातियों की उर्ध्वोन्मुखी (upward) तथा अधोन्मुखी (downward) गतिशीलता को नहीं रोका। सुरजीत सिन्हा (1957) ने भी संकेत किया है कि कई कबीले विजय तथा शक्ति प्राप्ति के बल पर क्षत्रियता का दावा करके शाही स्थिति तक पहुँच गए।

सिलवरबर्ग (Silverberg, 1968 : 128) ने विराग (renunciation) के माध्यम से भारत में सामाजिक गतिशीलता की चर्चा की है। आश्रमों की योजना में संन्यास व विराग द्विजों (twiceborn) के लिए निर्धारित था। व्यवहार में निम्न जाति के सदस्य भी सामाजिक श्रेणी में अपने स्थान की वंचनाओं से बचने के लिए संन्यासी हो जाया करते थे।

हाल में ही एक प्रक्रिया के रूप में सामाजिक गतिशीलता अधिक सक्रिय हो गई है। एम.एन. श्रीनिवास ने संस्कृतीकरण व पश्चिमीकरण के माध्यम से इसकी व्याख्या की है। मैकिम मेरियट, ड्यूमान्ट और रजनी कोठारी ने भी सामाजिक गतिशीलता को विभिन्न स्तरों पर देखा। एक ओर तो निम्न जातियों के सदस्य जाति श्रेणीक्रम में अपनी सामाजिक प्रस्थिति को उठाने का प्रयत्न करते हैं, दूसरी ओर जाति एक समूह के रूप में राजनैतिक शक्ति द्वारा या जातियों के राजनैतीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से गतिशीलता प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। अतः हम विविध स्तरों पर जाति गतिशीलता का अध्ययन करेंगे (*i*) युद्ध के माध्यम से (*ii*) शासकों की सेवा द्वारा (*iii*) विविध स्तरों पर जनगणना द्वारा (*iv*) सामाजिक प्रक्रिया के क्रियान्वयन के माध्यम से और (*v*) राजनीति के प्रयोग से।

नोट

### युद्ध के माध्यम से गतिशीलता (Mobility through Warfare)

एम. एन. श्रीनिवास और पालिन कोलेण्डा ने मुगल काल में युद्ध के माध्यम से होने वाली जाति की गतिशीलता की चर्चा की है। कोलेण्डा ने कहा है कि उन्नीसवीं शताब्दि के पूर्वार्ध में ब्रिटिश एकीकरण तक जाति में ऊँचा उठने का सबसे प्रभावी तरीका कम घनत्व वाली जनसंख्या क्षेत्र में या खाली भूमि में शान्तिपूर्ण अधिकार करके विजय द्वारा सीमाओं पर अधिकार करना था। के.एम. पन्नीकर (इतिहासकार) ने कहा है कि "ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दि से प्रत्येक परिचित शाही परिवार गैर-क्षत्रिय परिवार से सम्बद्ध था।" कोलेण्डा (1998 97) ने कहा है कि प्राचीन भारत में शासक क्षत्रिय थे; यद्यपि कृषक जाति के भी कुछ शासक थे जिन्होंने किसी क्षेत्र पर अधिकार करके अपना राज्य स्थापित कर लिया। शासक बनने के बाद कृषक विजेताओं ने क्षत्रिय होने का दावा किया। इस प्रकार कृषक विजेता छत्रिय क्रम तक उठ गए।

एम. एन. श्रीनिवास ने मुगल काल में शिवाजी का उदाहरण दिया है। शिवाजी के पिता बीजापुर के मुस्लिम शासक के जागीरदार थे। शिवाजी ने मुगल शासन को उखाड़ फेंका और अरब सागर के बंगाल की खाड़ी तक अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। उनकी जाति मराठा, शूद्र वर्ण की मानी जाती थी इसलिए शिवाजी धार्मिक संस्कार द्वारा क्षत्रिय बन गए। शिवाजी के वर्ण प्रस्थिति में उठने के साथ ही उनकी मराठा जाति भी क्षत्रिय क्रम में आ गई।

### शासकों की सेवा के माध्यम से गतिशीलता (Mobility through Serving Rulers)

जिन जातियों के सदस्य हिन्दू या गैर हिन्दू शासकों की नौकरी करते थे, उच्च वर्णक्रम प्राप्त कर लेते थे। उदाहरणार्थ, गुजरात के पातीदार जो शूद्र वर्ण का एक कृषक समूह था, शिवाजी के मराठा वंशजों गायकवाड़ों का समर्थन करते थे, जो मध्य गुजरात पर शासन करते थे। क्रमशः क्षत्रिय होने का दावा करते हुए उन्होंने अपने छोटे-छोटे राज्य स्थापित कर लिए (Shah 1964)। एक दूसरा उदाहरण है कायस्थों का जो लेखाकार जाति के थे (जो मुद्रण के आविष्कार से पहले पेशेवर पत्र लेखक होते थे या जो लेखों की नकल करते थे या आलेखों को रखते थे)। कायस्थों ने पहले तो अपने को मुगलों के लिए और फिर ब्रिटिश शासकों के लिए लाभकारी बनाया। बारहवीं शताब्दी में जब वे निम्न जाति के थे, उन्नीसवीं तक उत्तर भारत में ये लोग द्विज श्रेणी तक उठ गए, यद्यपि पूर्व में बंगाल में वे शूद्र ही रहे। बर्टन स्टीन (Burton Stein, 1968), एक इतिहासकार, ने भी कहा है कि मध्ययुगीन दक्षिण भारत में परिवार मुस्लिम शासकों से सान्निध्य (association) में ऊपर उठे। गतिशीलता की इकाई जाति न होकर परिवार या परिवारों का एक समूह होता था। श्रीनिवास ने सुझाव दिया है कि इस प्रकार की पारिवारिक ऊर्ध्व गतिशीलता का परिणाम बड़ी जाति में से एक नयी जाति की रचना में हुआ।

### ब्रिटिश शासन काल में जनगणना आयुक्तों द्वारा (जातियों को) उच्च प्रस्थिति प्रदान किया जाना (Assigning Higher Status (to Castes) by the Census Commissioners in the British Period)

1891 से 1931 तक जनगणना में जाति पहचान लिखते समय अनेक मध्यम और निम्न जातियों ने स्वयं को द्विज वर्ण के रूप में पंजीकृत कराने का प्रयास किया। 1901 के जनगणना आयुक्त ने सभी जातियों को क्रम देने का कार्य किया। सैकड़ों जातियों ने उच्च वर्ण शीर्षक का दावा करते हुए उच्च क्रम सुनिश्चित किया। उदाहरणार्थ, बंगाल के कृषक कुर्मी क्षत्रिय होना चाहते थे, तथा तेली वैश्य बनना चाहते थे। प्रत्येक दावे के साथ इतिहास और कथाओं से साक्ष्य प्रस्तुत किए गए थे। दावों का मूल्यांकन करने के लिए जिला समितियाँ स्थापित की गई थीं। कुछ दावे मान लिए गए और कुछ अस्वीकृत कर दिए गए।

### संस्कृतीकरण और पश्चिमीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से जाति गतिशीलता (Caste Mobility through Social Processes of Sanskritization and Westernization)

ब्राह्मण, मुस्लिम और ब्रिटिश काल में जाति प्रथा इतनी कठोर हो गई थी कि आनुवांशिक सदस्यता, अन्तर्विवाह, व्यावसायिक गतिशीलता से इन्कार, तथा सहभोजी और सामाजिक प्रतिबन्धों के माध्यम से

सदस्यों को हमेशा एक निश्चित प्रस्थिति का लाभ मिलता रहा। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक से आगे जाति प्रथा कठोर नहीं रह सकी क्योंकि औद्योगीकरण, नगरीकरण, शिक्षा का प्रसार, कुछ वैधानिक उपायों का क्रियान्वयन और अनेक समाज सुधारकों के सामाजिक आन्दोलनों की प्रक्रियाएँ प्रारम्भ हो चुकी थीं। एम.एन. श्रीनिवास ने 1952 में संस्कृतीकरण और नगरीकरण प्रक्रिया के माध्यम से जातियों में प्रस्थिति गतिशीलता को समझाया है। उसका मानना था कि एक निम्न जाति शाकाहार बन कर और मद्यनिषेध अपना कर एक दो पीढ़ी में श्रेणीक्रम में उच्च स्थिति तक पहुँचने में समर्थ होती थी। ऐसी जातियाँ ब्राह्मणों के संस्कार, रीति रिवाज और विश्वास अपना लेती थी और अपने अशुद्ध समझे जाने वाले संस्कारों को त्याग देती थी।

प्रारम्भ में श्रीनिवास ने निम्न जातियों द्वारा ब्राह्मण जीवन शैली का अनुकरण करने की चेष्टा करने की बात कही लेकिन बाद में उसने किसी उच्च वर्ण की महत्त्वपूर्ण जाति से अनुकरण की बात कही। लिच (Lynch, 1969 218) ने इसे 'अभिजात्य अनुकरण' (elite emulation) कहा है। बारनेट (Barnett) ने ब्राह्मणों और क्षत्रियों के जीवन शैली को बराबरी करने को 'राजसी मॉडल' (Kingly model) कहा है। इस प्रकार ऊर्ध्वगामी (upward) गतिशील जाति ने संस्कृतीकरण या 'अभिजात अनुकरण' या 'राजसी अनुकरण' के माध्यम से अपनी प्रस्थिति में सुधार करने का प्रयत्न किया। परन्तु एम.एन. श्रीनिवास (1962 58) ने कहा है कि अस्पृश्य लोग कभी भी शूद्रों की सीमा रेखा पार नहीं कर सके हैं और न ही ऊँची जाति की प्रस्थिति प्राप्त कर सके हैं।

संस्कृतीकरण की प्रक्रिया में कुछ उल्लेखनीय तथ्य इस प्रकार हैं–(1) संस्कृतीकरण की प्रक्रिया आर्थिक और राजनैतिक आधिपत्य से जुड़ी है, अर्थात् सांस्कृतिक प्रभुत्व की प्रक्रिया में प्रभुत्ववाली स्थानीय जाति की भूमिका पर बल दिया गया है। इस प्रकार यद्यपि प्रारम्भ में निम्न जातियों ने ब्राह्मणों का अनुकरण किया लेकिन बाद में स्थानीय प्रभुत्व वाली जातियों की (गैर ब्राह्मण जाति) नकल की जाने लगी। (2) संस्कृतीकरण उन जातियों में हुआ जिन्हें राजनैतिक व आर्थिक शक्तियाँ प्राप्त थीं लेकिन सांस्कारिक क्रम (कर्मकांडीय) (ritual ranking) में वे उच्च क्रम पर नहीं थी, अर्थात् उनकी संस्कारिक तथा राजनैतिक-आर्थिक स्थितियों में फासला था। (3) आर्थिक सुधार संस्कृतीकरण की आवश्यक पूर्व शर्त नहीं है। (4) संस्कृतिकरण एक दोहरी प्रक्रिया है। एक जाति ने न केवल अपने से ऊँची जाति से कुछ लिया बल्कि इसने कुछ दिया भी। (5) गतिशीलता की इकाई समूह है न कि व्यक्ति या परिवार। (6) स्वतंत्रता के बाद संस्कृतीकरण की प्रक्रिया कमजोर हो गई है। अब लम्बवत् (vertical) गतिशीलता पर बल है न कि समतल (horizontal) पर। (7) संस्कृतीकरण सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या मुख्य रूप से सांस्कृतिक अर्थ में करता है न कि संरचनात्मक अर्थ में। (8) संस्कृतीकरण किसी समूह के लिए स्वत: ही उपलब्धि नहीं दिलाता। समूह को तो उच्च प्रस्थिति प्राप्त करने के लिए अनिश्चित काल तक प्रतीक्षा करनी होती है। (9) निम्न जातियों द्वारा अशुद्ध व मलिन पेशा बदलना, मदिरापान बन्द करना, गाय का मांस खाना बन्द करना, सुसंस्कृत रीति-रिवाज अपनाना तथा विश्वासों और देवी देवताओं को मानना आवश्यक रूप से ऊपर उठना नहीं है। इन क्रियाकलापों का लक्ष्य गतिशीलता नहीं हो सकता।

संस्कृतीकरण को सम्भव बनाने वाले कारक हैं–औद्योगीकरण, व्यावसायिक गतिशीलता, संचार के विकसित साधन, शिक्षा का प्रसार, पश्चिमी प्रौद्योगिकी, और निम्न जातियों में मलिन पेशे त्यागने, खराब रिवाजों को तथा सामाजिक प्रथाओं को त्यागने की जागृति। स्वयं श्रीनिवास के अनुसार संस्कृतिकरण के विस्तार में प्रमुख सहायक कारक हैं मंत्रोच्चारण (mantras) के साथ से कर्मकाण्डी कार्यों का अलग होना जिसने ब्राह्मण संस्कारों के प्रसार को सुविधाजनक बनाया।

संस्कृतीकरण के साथ ही, पश्चिमीकरण की प्रक्रिया ने भी सामाजिक गतिशीलता को सम्भव बनाया है। पश्चिमीकरण गैर-पश्चिमी समाज की विचारधारा, मूल्यों, संस्थाओं और प्रौद्योगिकी में परिवर्तन की प्रक्रिया है जो लम्बे समय तक पश्चिमी समाज के साथ सांस्कृतिक सम्पर्कों का परिणाम है। (Srinivas 1962 55)। पश्चिमीकरण की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें प्रौद्योगिकी और तर्क संगतता पर जोर दिया जाता हैं। डेनियल लरनर, हैरोल्ड गूल्ड, मिलटन सिंगर और योगेन्द्र सिंह जैसे विद्वान पश्चिमीकरण की अपेक्षा आधुनिकीकरण को वरीयता देते हैं। लेकिन श्रीनिवास इस शब्द (आधुनिकीकरण) को 'वस्तुपरक' (Subjective) मानते हैं।

नोट

सामाजिक गतिशीलता की व्याख्या करने के लिए संस्कृतीकरण की प्रक्रिया के प्रयोग के विरुद्ध निम्नलिखित आलोचनाएँ की गई हैं–(1) देश के कुछ भागों में (जैसे पंजाब और पहले का सिन्ध) जातियों द्वारा जो कुछ भी नकल किया गया वह संस्कृति परम्परा नहीं थी बल्कि इस्लामी परम्परा थी। सिखवाद का उदय इस्लामी सूफीवाद और रहस्यवादी (mysticism) आन्दोलनों की हिन्दू परम्पराओं के समन्वय से हुआ। (2) संस्कृतीकरण गैर सांस्कृतिक परम्पराओं के अनुकूलन (adaptation) का विवरण देने में असफल रहता है (Yogendra Singh, 1973)। (3) श्रीनिवास की प्रक्रिया (संस्कृतीकरण की) केवल भारतीय समाज में (जहाँ जाति व्यवस्था मौजूद है) सामाजिक गतिशीलता और सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करती है। यह अन्य समाजों के लिए लाभप्रद नहीं है।

### *राजनैतीकरण के माध्यम से जाति गतिशीलता (Caste Mobility through Politicisation)*

अनेक जातियों ने अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए या अपनी स्थिति को सुधारने के लिए राजनीति का सहारा लिया है। एलीनर जेलियट (Eleanor Zelliot) के अनुसार, राजनीति का लाभ सरकारी लाभों को प्राप्त करने और राजनीतिक संस्थाओं और विधायिकाओं में प्रतिनिधित्व प्राप्त करने के लिए किया जाता है। इस सन्दर्भ में कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं–महाराष्ट्र के महार, गुजरात के क्षत्रिय, तमिलनाडू के नादर, और आन्ध्र प्रदेश के रेड्डी और कम्मा लोग।

महाराष्ट्र के महारों ने, जो राज्य की कुल जनसंख्या के 10 प्रतिशत हैं (राज्य में कुल 13 प्रतिशत अनुसूचित जाति जनसंख्या का) प्रारम्भ में सामाजिक पतन की दशाओं में काम किया, लेकिन आखिरकार अपनी सामाजिक दशा को सुधारने के लिए राजनीति का सहारा लिया। अम्बेडकर ने उन्हें राजनैतिक शक्ति के रूप में संगठित किया और अनुसूचित जाति का एक महासंघ बनाया जो अन्त में सामाजिक गतिशीलता और सामाजिक समानता के उद्देश्यों को प्राप्त करने हेतु राजनैतिक साधन के रूप में प्रयोग किया गया। महार, जिन्हें अस्पृश्य समझा जाता था, चौकीदार, सन्देशवाहक, सड़कों की सफाई, दूसरे गाँवों का मृत्यु सन्देश लाने ले जाने, आदि का काम करते थे। मन्दिर, स्कूल और कुएँ उनके लिए बन्द थे। बाद में (1860 से बाद) उन्होंने फैक्ट्रियों, रेलों, आदि में कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। जो गाँवों में रहते थे उन्होंने भी परम्परागत निम्न व्यवसायों को छोड़ना शुरू कर दिया। काफी बड़ी संख्या में वे सेना में भी भर्ती हो गए। सैन्य सेवाओं ने उन्हें सामाजिक श्रेणीक्रम में ऊँचा उठने में ही मदद नहीं की बल्कि पश्चिमी संस्कृति के द्वार भी उनके लिए खुल गए। कुछ महार ईसाई बन गए जबकि कुछ ने कबीर व रामादि पथ अपना लिया, जो समानता के पक्षधर थे। 1936 में अम्बेडकर के नेतृत्व में उनके मन्दिर प्रवेश प्रयास ने राजनैतिक आन्दोलन का रूप ले लिया, हिन्दुत्व को पूर्णरूपेण अस्वीकार कर दिया। 1937 में अम्बेडकर ने स्वतंत्र लेबर पार्टी (Labour Party) की स्थापना की जिसमें अधिकतर टिकिट महार लोगों को ही दिए गए। तब से रिपब्लिक पार्टी (Republic Party) तथा 1946, 1951, 1956 के चुनावों के माध्यम से महारों ने महाराष्ट्र की राजनीति में अपने को महत्वपूर्ण राजनैतिक बल के रूप में स्थापित कर लिया है।

रजनी कोठारी और रुशिकेश मारु (Rushikesh Maru, 1973) ने गुजराज के कुछ मध्यम और निम्न जातियों तथा आर्थिक दृष्टि से पतित समुदायों के उदाहरण दिये हैं जिन्होंने राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने के लिए 1940 और 1950 के दशकों में एक सामान्य संगठन महासंघ के रूप में बनाया। कांग्रेस के विरुद्ध चुनाव जीतने के बाद उन्हें क्षत्रियों में स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार राजनीति उनके लिए सुदृढ़ बन गई।

राबर्ट हार्डग्रेव (Robert Hardgrave Jr, 1973 102-126) ने तमिलनाडू में नादरों के बीच एकता और सामंजस्य और इसकी एकीकृत राजनैतिक संस्कृति का परीक्षण किया। अन्य जातियों पर आर्थिक निर्भरता की समाप्ति तथा विस्तृत भौगोलिक क्षेत्र पर जाति बन्धनों के विस्तार ने इस जाति (नादरों) को एक नयी दृढ़ता प्रदान की जिसने उन्हें सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक दृष्टि से उठा दिया। आर्थिक रूप से अपनी प्रस्थिति में सुधार करने के बाद उन्होंने क्षत्रिय पद का दावा किया। 1921 की जनगणना में सभी नादरों ने स्वयं को नादर क्षत्रिय घोषित कर दिया। आज नादर दक्षिण में आर्थिक व राजनैतिक दृष्टि से सबसे सफल समुदायों में से एक हैं।

ये सभी उदाहरण प्रकट करते हैं कि निम्न जातियों ने किस प्रकार राजनीति का प्रयोग किया। राजनीति शक्ति, जाति एकता और आखिरकार समाज में उच्च स्थिति प्राप्त कर ली।

के. एल. शर्मा (K.L. Sharma, Social Stratification in India, 1997) ने सामाजिक गतिशीलता के तीन दृष्टिकोणों की ओर संकेत किया है। संरचनात्मक ऐतिहासिक, मार्क्सवादी, और संस्कृतिवादी (Culturological) अथवा भारतशास्त्रीय (Indological)। ए.आर. कामत (A.R. Kamat) ने प्रथम दृष्टिकोण का उपयोग करते हुए महाराष्ट्र में जाति गतिशीलता की व्याख्या की है जिसमें उसने कहा है कि पुराने शहरी वर्चस्व वाले राजनैतिक नेतृत्व के स्थान पर नेताओं की नयी व्यवस्था आ गई है जो उन्नत ग्रामीण तत्वों, विस्तृत राजनैतिक चेतना, और राजनैतिक लोकतंत्र में विश्वास रखते हैं। मार्क्सवादी दृष्टिकोण का प्रयोग अरविन्द दास (Arvind Das, 1984) और प्रधान एच. प्रसाद (Pradhan, H. Prasad, 1979) ने बिहार में अन्तर्जातीय वं वर्ग संघर्षों के विश्लेषण करने में किया है। सामाजिक गतिशीलता की व्याख्या यजमानी प्रथा के पतन और आधुनिक व्यवसायों के उदय (Sharma, 1974), अस्पृश्यता और अशुद्धता शुद्धता सिद्धान्त के पतन और शिक्षा, संरक्षणात्मक भेदभाव की राज्य की नीति और सामाजिक आन्दोलनों के संदर्भ में भी की जा सकती है।

### *जातिवाद (Casteism)*

जातिवाद और साम्प्रदायिकतावाद तथा इनके साथ हिंसा की बढ़ती प्रवृत्तियों ने विभिन्न जातियों में आपसी सन्देह और असुरक्षा की भावना पैदा कर दी है। जाति में उच्च पदासीन व्यक्ति नियुक्तियों और प्रोन्नति में अपनी जाति या उपजाति के सदस्यों को वरीयता देते हैं। इससे जाति के प्रति निष्ठा इस सीमा तक बढ़ जाती है कि (*i*) एक जाति दूसरी जाति पर हावी होने का प्रयत्न करती है, (*ii*) उच्च जातियाँ निम्न जातियों का शोषण करती हैं, (*iii*) चुनाव जाति आधार पर लड़े और जीते जाते हैं, (*iv*) समाज में अन्तर्जातीय संघर्ष बढ़ जाते हैं। यद्यपि जातिवाद, अन्तर्जातीय संघर्ष, और जातीय हिंसा की घटनाएँ ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक पाई जाती हैं, लेकिन शहरी क्षेत्रों में भी ये घटनाएँ होती रहती हैं।

स्वतंत्र भारत में विभिन्न जातियों के बीच प्रतिस्पर्धा सामान्य स्थिति मालूम पड़ती है। लोगों के हाथों में राजैतिक शक्ति आ जाने के कारण जातियाँ दबाव-समूह बन गई हैं और शक्ति के लिए स्पर्धारत हैं तथा अपने जाति बन्धुओं के लाभार्थ शक्ति का प्रयोग कर रही हैं। ऐसे उदाहरण दिये जाते हैं जिनमें कुछ वर्ष पहले एक राज्य में एक बड़ी संख्या में पुलिस में यादवों को भर्ती किया गया क्योंकि राज्य में एक यादव व्यक्ति सर्वोच्च राजनैतिक पद पर आसीन था। 1950 के दशक में एक राज्य में रेड्डी जाति के मुख्यमंत्री ने बहुत से रेड्डी लोगों को मंत्री बना दिया। एक राज्य में एक जैन अधिकारी ने जैनियों को और एक राजपूत अधिकारी ने राजपूतों को नियुक्तियों में वरीयता दी। यह प्रवृत्ति न केवल अन्य जातियों के लिए घृणा में वृद्धि करती है बल्कि देश में जाति संघर्षों को भी जन्म देती है। ऐसे संघर्ष उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, तमिलनाडु, कर्नाटक, गुजरात और महाराष्ट्र में बहुत होते हैं। जब एक भौगोलिक क्षेत्र में कोई जाति दूसरी जाति से अधिक प्रभावशाली हो जाती है तब यह आर्थिक व राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने का प्रयास करके प्रभुत्व वाली जाति बन जाती है। जब कोई जाति एक प्रकार का प्रभुत्व रखती है तब यह कालान्तर में अन्य प्रकार के प्रभाव भी प्राप्त कर लेती है।

जातिवाद अपने सदस्यों में ऐसी निष्ठा पैदा कर देता है कि वे अपने एकता को अपनी धाक जमाने या वंचित जातियों के शोषण के लिए प्रयोग करने लगते हैं। इसके सबसे अच्छे उदाहरण बिहार में भूमिहारों, यादवों, कुर्मियों, और दलितों में पाए जाते हैं।

राजनीति में गत कुछ दशकों से जातिवाद चुनाव लड़ने के लिए उम्मीदवारों के चयन में भी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर रहा है। वोट माँगने में भी इस कारक का अच्छी तरह नकदीकरण किया जा रहा है।

जून 1962 में स्थापित राष्ट्रीय एकता समिति भी जातिवाद, क्षेत्रवाद और साम्प्रदायिकता की समस्याओं को सुलझाने में सक्रिय है। 1968 में राष्ट्रीय एकता समिति ने इन समस्याओं से निपटने के लिए अलग समितियाँ बनाईं। इन सभी समितियों ने दिशा निर्देश, कानून व प्रशासनिक कार्यवाही आदि के लिए अनेक सुझाव दिये हैं। 1970 तक ये सब कार्यवाही रुक गईं। 1980 में राष्ट्रीय एकता समिति की पुनर्स्थापना हुई

और फिर 1984 में। इस बार भी तीन समितियाँ बनाई गई लेकिन वे भी कुछ ठोस कार्य न कर सकीं। सितम्बर 1986 में राष्ट्रीय एकता को बढ़ाने के लिए पांच सदस्यों की एक उपसमिति गठित की गई। फरवरी 1990 और फिर 1991 और जुलाई 1993 में एक और स्वरूप इस समिति का निकला लेकिन आज तक (नवम्बर, 2000) राष्ट्रीय सौहार्द्र बनाने और जातिवाद तथा साम्प्रदायिकता को रोकने की दिशा में कोई हल नहीं निकल पाया है।

नोट

## 4.18 समानता और सामाजिक संरचना के मुद्दे (Issues of Equality and Social Structure)

सामाजिक असमानता का मुद्दा भारतीय समाज की एक महत्वपूर्ण समस्या है। किसी समाज के सामाजिक स्तरीकरण का अध्ययन, भले ही वह जाति या वर्ग पर आधारित हो, अधिकतर असमानता को समझने से ही सम्बद्ध है।

ल्यूइस ड्यूमान्ट (Louis Dumont) एक फ्रांसीसी समाजशास्त्री ने एक भिन्न आधार पर जाति व्यवस्था में असमानता की व्याख्या की है। उसकी मान्यता है कि श्रेणीक्रम, न कि असमानता, समानता का विलोम है। उसने जातिप्रथा में श्रेणीक्रम को शुद्धता और अशुद्धता के अर्थों में समझाया है, जो कि उसके अनुसार जाति व्यवस्था का मूल सिद्धान्त है। उसके अनुसार 'श्रेणीक्रम' में अशुद्धता पर शुद्धता की श्रेष्ठता, अशुद्धता से शुद्धता की पृथकता, तथा श्रम विभाजन में शुद्ध व्यवसायों की अशुद्ध व्यवसायों से पृथकता निहित है। इस प्रकार वह (क) दो विरोधियों (opposites) की 'श्रेणीक्रमता' में सहअस्तित्व (co-existence) की, (ख) श्रेणीक्रम के प्राकृतिक असमानताओं से या शक्ति वितरण से बिल्कुल स्वतंत्र होने की, (ग) जातियों के क्रम (ranking) का धार्मिक प्रकृति का होना और (घ) श्रेणीक्रम घेरने वालों (encompasser) और घिरने वालों (encompassed) के बीच का सम्बन्ध होने की बात करता है। ड्यूमान्ट की जाति की विचारधारा और जाति व्यवस्था में श्रेणीक्रम की धारणा पश्चिमी विद्वानों (रिजले, मेयर, मेरियट, आदि) के विचारों से बिल्कुल भिन्न है जिन्होंने इसकी व्याख्या पश्चिमी अवधारणाओं के प्रकाश में की है, जैसे, व्यक्तिवाद, समतावाद, आदि। वह श्रेणीक्रम को वर्ण सिद्धान्त से जोड़ता है, जिसमें क्रमीकरण (gradation) सम्मिलित है, लेकिन शक्ति और सत्ता दोनों से भिन्न है। हिन्दू समाज में राजा का पुजारी के आधीन होना धार्मिक संस्कार के क्रम हैं। ड्यूमान्ट मानता है कि श्रेणीक्रम के घेरे में वर्ण विभाजन और जाति व्यवस्था दोनों ही हैं। इस प्रकार वह जाति के भीतर व जातियों के बीच व्यवहार और अन्तर्क्रिया में वैचारिक उन्मुखता को महत्व देता है। वह यह भी मानता है कि श्रम का परम्परागत विभाजन (यजमानी प्रथा), विवाह का नियमित होना, और सामाजिक सम्पर्क आर्थिक व सामाजिक तर्क की अपेक्षा श्रेणीक्रम या धार्मिक मूल्यों पर आधारित होते हैं।

टी.एन. मदान (T.N. Madan "On the Nature of Caste in India" in Contributions to Indian Sociology, Dipankar Gupta (ed), Social Stratification) ने ड्यूमान्ट के प्रस्थिति और शक्ति के बीच असम्बद्धता (disjunction) के विचार के विपरीत प्रश्न उठाया है। वह कहता है कि प्रस्थिति (ब्राह्मण) के आगे शक्ति (राजा) की आधीनता समझदारी में कठिनाई पैदा करती है। यह दृष्टिकोण चतुराई पूर्ण है लेकिन समझ में सन्तोषप्रद नहीं है।

असमानता के विश्लेषण में हमारी मान्यता यह है कि उस असमानता का जो सदियों के आर्थिक ठहराव (stagnation) के कारण पैदा हुई जिससे वर्गों के बीच जीवन अवसरों में अन्तर पैदा हुआ, और उस असमानता का जो परम्परागत मूल्यों, सामाजिक प्रथाओं, और जाति प्रथा द्वारा लगाए गए प्रतिबन्धों के कारण उत्पन्न हुई, दोनों के अध्ययन के लिए समाजशास्त्रीय विश्लेषण की आवश्यकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से असमानता के समाजशास्त्रीय बोध (understanding) की ओर पहला कदम तब उठा जब लोगों की अस्तित्व की दशाओं में असमानताओं की ओर ध्यान जाने लगा। जीवन के प्रति हिन्दू दृष्टिकोण इस असमानता को भिन्न-भिन्न जातियों में व्यक्ति के विभिन्न क्रमों में जन्म लेने से सम्बद्ध है जिसके कारण व्यक्ति की अयोग्यताओं, अभिरुचियों और आकांक्षाओं में अन्तर होता है। रूसो (Rousseau) ने राजनैतिक असमानताओं की बात कही है, जैसे धन, सम्मान और शक्ति जो कि परिपाटी पर आधारित होती है और व्यक्तियों की

सहमति से अधिकृत होती है। यद्यपि लोग इन परिपाटियों (conventions) को त्यागने के लिए और नयी परिपाटियाँ स्थापित करने के लिए स्वतंत्र होते हैं, फिर भी यह स्पष्ट नहीं है कि असमानताएँ, जिनसे मनुष्य पीड़ित हैं, किस प्रकार इतने लम्बे समय से चली आ रही हैं। जब हमने अपने समाज में मनुष्यों के बीच असमानताओं की तुलना अन्य समाजों से करनी शुरू की, तब से स्तरीकरण के स्वरूप और गतिशीलता की दर की तुलना करने के लिए–पहले औद्योगिक समाजों में फिर कृषक समाजों में–समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण का प्रयोग किया गया।

परम्परागत भारतीय समाज में श्रेणीक्रम और सामाजिक असमानताओं का आधार शुद्धता और अशुद्धता का विचार ही था। आधुनिक औद्योगिक समाज में असमानताओं का आधार 'उपलब्धि' है जो 'खुली और स्वच्छ प्रतिस्पर्धा' का परिणाम है। हिन्दू धार्मिक ग्रन्थ बताते हैं कि हमारा समाज चार वर्णों और एक प्रकार के पारस्परिक सम्बन्धों में व्यवस्थित अनेक जातियों में विभक्त था। जब तक जातियों का सम्बन्ध धर्म से जोड़ा जाता रहा तब तक लोगों ने प्रस्थिति श्रेणीक्रम स्वीकार किया। यह जुड़ाव बीसवीं शताब्दी के 1920 और 1930 की दशकों तक जारी रहा। पश्चिमी संस्कृति से सम्पर्क, शिक्षा का प्रसार और औद्योगीकरण और नगरीकरण की प्रक्रिया ने लोगों के विचार बदल दिए। उन्होंने मानवरचित असमानताओं की चर्चा शुरू कर दी। देश की राजनैतिक आजादी ने उन्हें असमानताओं के प्रश्न को उठाने और सामाजिक न्याय मांगने का अवसर प्रदान किया। केलकर, मण्डल, आदि जैसे आयोगों की सिफारिशों तथा जाति व समुदाय के आधार पर वोट मांगने की राजनीतिक क्रियाओं ने उन्हें समानता के अवसर की मांग करने तथा सामाजिक अन्याय को दूर करने की मांग करने की अधिक प्रेरणा प्रदान की। इसमें आश्चर्य नहीं कि उपेक्षित जाति और वर्ग को नौकरियों, विधायिकाओं और शैक्षिक संस्थाओं, आदि में सामाजिक न्याय के नाम पर आरक्षण मिलने लगा। महिलाओं को भी इस न्याय के मिलने में सफलता मिली जबकि कुछ राज्यों में पंचायतों में महिलाओं के लिए 20% स्थान आरक्षित कर दिए गए और दिसम्बर, 1998 के मध्य में और फिर दिसम्बर 1999 में महिलाओं के लिए 33% स्थान आरक्षित रखने के लिए एक विधेयक संसद में प्रस्तुत किया गया।

लेकिन जाति, वर्ग और समुदाय के आधार पर सामाजिक असमानताओं को समाप्त करने के प्रयासों ने कुछ जातियों और समुदायों में कुण्ठा उत्पन्न कर दी है जिनका परिणाम अनेक आन्दोलनों और हिंसात्मक कार्यवाहियों के रूप में हुआ है। इस प्रकार शिक्षित व्यक्तियों और स्वार्थी राजनीतिज्ञों के विचारों की अतिवादी प्रतिक्रियाएँ कुछ अधिक चिन्ताजनक हैं। इसमें सन्देह नहीं कि सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन ने विकास के मार्ग में काफी परिवर्तन कर दिए हैं। इन बुराइयों को दूर करने के कई सुझाव भी दिए गए हैं। सामाजिक क्रमीकरण को कम करने पर विचारों और मूल्यों का केवल एक सामान्य स्वरूप ही सामाजिक असमानताओं को कम कर सकता है और लोगों की विभिन्न श्रेणियों को न्याय प्रदान कर सकता है।

आन्द्रे बेतेइ (Inequality Among Men, 1977) ने शक्ति (power) और असमानता के बीच सम्बन्धों की चर्चा की है। शक्ति असमानता बनाए रखती है तथा यह असमानता का रूप भी बदल देती है। जाति व्यवस्था में मनुष्यों के बीच असमानता केवल इसलिए ही स्वीकार नहीं की गई थी क्योंकि यह विश्वास था कि लोगों को विविध गुण प्रदत्त हैं, बल्कि इसलिए भी क्योंकि जातियों को शक्ति के साधन के रूप में देखा जाता था। जैसे ही ब्रिटिश लोगों द्वारा संचालित शक्ति के नवीन साधनों ने श्रेणीक्रम और जाति की शक्ति (न्यायालय द्वारा जाति पंचायतों की शक्ति छीन लेने के बाद) से अपना समर्थन वापस लिया, श्रेणीक्रम स्वयं ही टूटने लगा। वर्ग व्यवस्था में जिनके पास भूमि या सम्पत्ति होती है, वही व्यक्ति भूमिहीनों और सम्पत्तिहीनों पर हावी रहते हैं। शक्ति असमानताओं के समाजशास्त्रीय विश्लेषण में दो बातों पर ध्यान दिया जाता है, एक, दूसरे पर कुछ लोगों का शक्ति वर्चस्व और दो, उनके पास नियमों की व्याख्या करने, परिवर्तन करने और बनाने की शक्ति जिनसे उनके सहित, सभी बँध जाते हैं। साथ ही, इस विश्लेषण में शक्ति का विस्तार भी महत्त्वपूर्ण है। एक ही व्यक्ति या समूह समाज के हर क्षेत्र में समान रूप से शक्ति नहीं रखता। हम यह भी पूछते हैं कि कहाँ तक वे विभिन्न व्यक्ति जो एक या अनेक क्षेत्रों में शक्ति रखते हैं और उसका प्रयोग करते हैं एक सम्बद्ध (cohesive) समूह के रूप में रहते हैं जो शेष समाज में स्पष्ट रूप से चिह्नित होता है। बिहार में शक्ति की असमानता ने जाति सेना और जाति संहार को जन्म दिया है।

नोट

प्रस्थिति और शक्ति में असमानताओं की चर्चा के बाद सामाजिक अस्तित्व (existence) की सामान्य दशाओं (general conditions) में असमानताओं का सन्दर्भ भी आवश्यक है। बहुत बड़ी संख्या में लोग असमानता को वर्गों में समाज के विभाजन और धन के असमान वितरण के सन्दर्भ में देखते हैं। औद्योगिक समाज का दो श्रेणियों–पूँजीवादी और समाजवादी, में विभाजन का जन्म सामाजिक वर्ग से ही हुआ है। पूँजीवादी समाज सम्पत्ति के निजी स्वामित्व के माध्यम से संगठित होते हैं और इन समाजों में वर्ग की उपस्थिति को मुक्त रूप से स्वीकारा जाता है, जबकि समाजवादी समाजों में इसे सशर्त स्वीकारा जाता है। क्या समाजवादी समाजों में निजी सम्पत्ति के उन्मूलन से वर्ग अदृश्य हो गए हैं? आन्द्रे बेतेइ मानता है कि क्योंकि रूस और अन्य समाजवादी देशों में अभी भी असमानताएँ विद्यमान हैं तो यह निश्चित है कि असमानता से कहीं अधिक विस्तृत धारणा है।

प्रस्थिति, शक्ति और आय के संदर्भ में सामाजिक असमानताओं की बात करते हुए एक प्रश्न उठाया जा सकता है क्या समतावादी (egalitarian) समाज सम्भव है? क्या यह अतीत में भी था? क्या भविष्य में इसका उदय हो सकता है? यद्यपि हमारे सभी आधुनिक समाज समानता के वायदे पर बने हैं, फिर भी समतावादी समाज की संम्भावना प्रतीत नहीं होती। बेतेइ ने यह भी कहा है कि जब तक मूल्यांकन और संगठन सामाजिक जीवन के अभिन्न अंग बने रहेंगे, असमानता की समस्या का अस्तित्व भी जारी रहेगा। हम समतावादी समाज को दो स्तरों पर सोच सकते हैं एक, जिसमें विभिन्न स्थितियों में एक ही शक्ति और प्रतिष्ठा हो, और दो, जिसमें सभी सदस्य शक्ति की और प्रतिष्ठा की सभी स्थितियों का लाभ लेते हों। लगभग सभी लोगों द्वारा यह स्वीकार किया गया है कि भविष्य में ऐसे समाजों के होने की कल्पना मात्र भी भ्रमात्मक है।

## 4.19 जाति और राजनीति (Caste and Polities)

जाति और राजनीति के बीच सम्बन्ध का दो स्तर पर विश्लेषण किया गया है, एक, जाति राजनीति को किस प्रकार प्रभावित करती है, और दो, राजनीति किस प्रकार जाति को प्रभावित करती है। सर्वप्रथम हम इस सम्बन्ध को राजनीति में जाति की जागृति (चेतना) के अर्थ में लेंगे।

### *चेतना (The Awareness)*

राजनीति में भिन्न जातियों की चेतना और रुचि को चार कारकों के प्रकाश में अध्ययन किया जा सकता है–राजनीति में जाति की रुचि, जाति का राजनैतिक ज्ञान व राजनैतिक चेतना राजनैतिक दलों से जातियों की पहचान, और राजनैतिक मामलों पर जातियों का प्रभाव। इन चारों पक्षों का अध्ययन अनिल भट्ट ने 1970 के दशक में चार राज्यों (उत्तर प्रदेश, गुजरात, पश्चिमी बंगाल, और आन्ध्र प्रदेश) में विभिन्न पृष्ठभूमियों के उच्च, मध्यम व निम्न जातियों के 1713 व्यक्तियों पर किया। सभी जातियों को एक साथ लेने पर राजनीतिक रुचि का विश्लेषण करते हुए उसने पाया कि लगभग 25 प्रतिशत जातियों की राजनीति में बहुत रुचि, 45 प्रतिशत की सामान्य रुचि और 30 प्रतिशत की कोई रुचि नहीं थी। देश में प्रमुख राजनीतिक समस्याओं और राजनीतिक आरोपों की चेतना के सम्बन्ध में उसने पाया कि मध्यम और निम्न जातियों की अपेक्षा उच्च जातियों में अधिक रुचि थी। जाति प्रस्थिति और राजनीतिक दलों के साथ पहचान के बीच उसने कोई सम्बन्ध नहीं पाया। अंत में उसने पाया कि कुछ जातियाँ ही राजनीतिक दृष्टि से प्रभावशील हैं तथा केवल कुछ ही गाँवों में मध्यम और निम्न जातियों का प्रभुत्व है।

### *सम्बन्ध (The Relationship)*

रजनी कोठारी (1970) ने जाति और राजनीति के बीच सम्बन्धों का इस विषय पर विश्लेषण करके परीक्षण किया कि जातियों के वोटों के कारण राजनीतिक व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ता है। उसने पाया कि तीन कारक–शिक्षा, सरकारी संरक्षण, और धीरे-धीरे विस्तृत मताधिकार (18-21 वर्ष के युवा भी मतदान प्रक्रिया में शामिल हैं) जाति व्यवस्था में प्रवेश कर गए हैं जिसके कारण इनसे राजनैतिक व्यवस्था प्रभावित हुई है। नये नेतृत्व तथा सभी संस्थाओं द्वारा प्रदत्त शक्ति के पद, प्रशासनिक संरक्षण और आर्थिक अवसरों

नोट

ने जातियों को राजनीति में घसीटा। जाति के राजनीति में संलग्न होने के दो परिणाम हुए। जाति व्यवस्था ने राजनैतिक गतिशीलता के लिए नेतृत्व को संरचनात्मक और वैचारिक आधार उपलब्ध कराया और दूसरा नेतृत्व स्थानीय राय को छूट देने और आर्थिक तथा राजनैतिक उद्देश्यों के लिए जातियों को संगठित करने के लिए बाध्य हो गया।

राजनीति में जाति के प्रयोग का विश्लेषण रजनी कोठारी (Caste in Indian Politics, 1973) ने दो अवस्थाओं (stages) में किया। प्रथम अवस्था में बुद्धिजीवी और उच्चताबद्ध (high entrenched) जातियों (जैसे, आन्ध्र प्रदेश में रेड्डी, गुजरात में पट्टीदार, कर्नाटक में लिंगायत, बिहार में भूमिहर और राजस्थान में राजपूत) और ऊँची आरोही (high asendant) जातियों (जैसे, बिहार में कायस्थ, राजस्थान में जाट) के बीच बैर भाव (antagonism) तथा क्रोध या विरोध (resentment) सम्मिलित हैं। दूसरी अवस्था में स्पर्धारत (competing) जातियों (उच्चताबद्ध व आरोही) के भीतर ही गुटबाजी और विखण्डीकरण (fragmentation) तथा बहुजातीय और बहु-गुटीय गठजोड़ (alignments) का विकास सम्मिलित है। निम्न जातियों को भी उच्च जाति के नेताओं का समर्थन करने और एक गुट को मजबूत करने के लिए लाया जाता है। प्रथम अवस्था में जाति के केवल तीन अवयव (components) शामिल हैं–जाति की शक्ति संरचना, आर्थिक लाभों का वितरण, और जाति चेतना। लेकिन दूसरी अवस्था में जाति के अन्य अवयव जैसे जाति चेतना, असामी (client) निष्ठा, आदि शामिल हैं। कोठारी ने प्रथम अवस्था में तीन उप-अवस्थाएँ बताई हैं। पहली उप-अवस्था में पहले तो शक्ति और लाभों के लिए संघर्ष उच्चताबद्ध जातियों (entrenched castes) (अथवा उन जातियों तक जो आर्थिक और राजनैतिक रूप से तो अत्यधिक प्रभाव डालती थी लेकिन संख्या की दृष्टि से नहीं) तक ही सीमित रहता है। दूसरी उप-अवस्था में आरोहित (ascendant) जातियाँ (अर्थात् असंतुष्ट व उच्च भूमिका आकांक्षी जातियाँ) भी शक्ति के लिए स्पर्धा करना शुरू कर देती हैं। तीसरी उप-अवस्था में उच्चताबद्ध व आरोहित जातियों के बीच न केवल प्रतिस्पर्धा होती है (शक्ति और लाभों के लिए) बल्कि इन जातियों के भीतर भी होती है। दूसरी अवस्था में, जिसे गुटबाजी और विखण्डनबाजी की अवस्था भी कहा जाता है, नेतृत्व में दरार पड़ने लगती है तथा बहु-जातीय एवं बहु-गुटीय गठजोड़ भी हो जाते हैं। इससे राजनीति में विरोधी जाति नेताओं की समस्या भी उत्पन्न हो जाती है। ये नेता जनता को भी शामिल कर लेते हैं क्योंकि वे (नेता) विस्तृत क्षेत्र में अपना प्रभाव जमाना चाहते हैं। इस अवस्था में नेतृत्व में भी परिवर्तन होता है।

कोठारी ने जाति और राजनीति के बीच सम्बन्ध पर तीसरी अवस्था की बात भी कही है। प्रथम अवस्था में जब उच्चताबद्ध (entrenched) जातियाँ पहले राजनीतिकृत होती हैं और आरोहित उच्चता प्राप्त (ascendant) जातियाँ अपेक्षाकृत उपेक्षा के भाव से क्रोध अभिव्यक्त करती हैं (जैसे महाराष्ट्र में ब्राह्मणों की उच्चताबद्ध जातियाँ और मराठों की उच्चता प्राप्त जातियाँ), दूसरी अवस्था में स्पर्धी जातियों के भीतर गुटबाजी का उदय होने लगता है और निम्न जातियों को भी समर्थन के लिए लाया जाता है और तीसरी अवस्था में जाति के अतिरिक्त अन्य प्रकार की पहचान महत्वपूर्ण हो जाती है। यह बढ़ती शिक्षा, शहरीकरण और आधुनिक उपलब्धि उन्मुखता को अपनाने से अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। इस प्रकार बहु-आयामी (cross-cutting) निष्ठाओं का उदय होता है।

जातियों के विलय की प्रक्रिया डी. एम. के. पार्टी तमिलनाडु और महाराष्ट्र में रिपब्लिकन पार्टी (Republican Party) ने दर्शायी है (महार और अन्य अस्पृश्य जातियों की)। डी.एम.के. पार्टी राजनीतिक दृष्टि से शक्तिशाली है लेकिन दूसरी ने अभी अधिक शक्ति प्राप्त नहीं की है।

इन दिनों ग्राम स्तर पर पंचायतों में चुनाव अक्सर एक-दूसरे के वोट काटने (cross-cutting) पर आधारित होकर लड़े जाते हैं। अब बहुत बड़ी संख्या में भूमिहीन जातियाँ वोट शक्ति रखती हैं, अतः वे परम्परागत शक्तिशाली जाति को चुनौती देती हैं जिसके पास भूमि नियंत्रण के कारण शक्ति होती है। प्रबल (dominant) जातियाँ तथा उच्चता प्राप्त (ascendant) जातियाँ अक्सर क्षेत्र के प्रमुख राजनैतिक दलों से बँधी होती हैं, और दलीय संगठन के माध्यम से ही उर्ध्व (upward) गतिशील होती रहती हैं। अतः आज इस प्रकार एक ओर जाति केवल बाह्य राजनैतिक समर्थन आधार (exclusive political support base) खो देती हैं और दूसरी ओर यह राजनीति को अत्यधिक प्रभावित करती हैं।

नोट

जाति और राजनीति के बीच वर्तमान सम्बन्धों से कोठारी चार निष्कर्ष निकालते हैं–

1. राजनीति में नये अभिजात समूह का उदय हुआ है जो विभिन्न जातियों से आया है लेकिन एक सामान्य धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण में भाग लेता है और कुछ मूल्यों के सन्दर्भ में समरस (homogeneous) भी हैं।
2. जातियों ने नवीन संगठनात्मक स्वरूप धारण कर लिया है। इस प्रकार (*i*) अब विविध स्तरों पर जाति संघ कार्य कर रहे हैं (विश्वविद्यालयों, होस्टलों, क्लबों, सरकारी कार्यालयों आदि में) (*ii*) जाति सम्मेलन विस्तृत आधार वाले हो गए हैं (*iii*) जाति महासंघों का उदय हुआ है।
3. जातियों ने गुटीय आधार पर प्रभावित करना शुरू कर दिया है। ये गुट न केवल राजनैतिक समूहों को विभाजित करते हैं बल्कि सामाजिक समूहों को भी।
4. जाति परिचयों (identifications) ने चुनाव व्यवस्था को एक नयी सार्थकता (relevance) प्रदान की है। न केवल बड़ी जातियाँ राजनीति को प्रभावित करती हैं बल्कि छोटी जातियाँ भी वोट माँगते समय महत्वपूर्ण हो गई हैं।

### *जाति और मतदान व्यवहार (Caste and Voting Behaviour)*

मतदान जातियों को अपना प्रभाव दर्शाने का एक अवसर प्रदान करता है। रजनी कोठारी (1970), लिण्डजे गार्डनर, मिल्लर (1950); की (Key, 1955), कैम्पबेल (1960) और नारमन पामर (Norman Palmer, 1976) जाति को मतदान निर्धारक मानते हैं। जिस प्रकार ब्रिटेन में मतदान वर्ग-निर्धारक है, अमरीका में प्रजाति (race) निर्धारक है, भारत में यह जाति-निर्धारक है। जो जातियाँ श्रेणीक्रम में सबसे नीचे हैं उनके लिए मताधिकार एक शक्तिशाली क्रियाकलाप का कार्य करता है। जाति का सामाजिक और आर्थिक स्तर जितना निम्न होगा, उनके वोट का महत्व उतना ही अधिक होगा। कोठारी; मेयर, वर्मा, भामश्री, रामाशिरे राऊ, कोहन, आदि के अनेक अध्ययनों ने दर्शाया है कि जातियाँ अपना प्रभाव डालती हैं और उन्होंने सौदेबाजी की शक्ति भी विकसित कर ली हैं क्योंकि उनके पास मतदान की शक्ति है। आन्द्रे बेतेइ ने भी कहा है कि जाति की निष्ठाओं का मतदान में शोषण किया जाता है। जाति को काटते हुए नये गठबन्धन भी बनाए जाते हैं। रुडोल्फ (Rudolph) का विचार है कि जाति संघों ने जाति को एक नयी स्फूर्ति प्रदान की है और लोकतंत्र ने भारत में जाति को नयी महत्त्वपूर्ण भूमिका के योग्य बनाया है। डी.एल. सेठ (DL Seth, Economic and Political Weekly, January 1970) ने 1967 में एक अध्ययन किया जिसमें उसने भारत के भिन्न-भिन्न चुनाव क्षेत्रों के 2,287 व्यक्तियों का साक्षात्कार किया और पाया कि विभिन्न कारकों में से जाति नेताओं की सलाह पर मतदान व्यवहार 10 प्रतिशत मामलों में, परिवार के हिसाब से 46 प्रतिशत मामलों में, और मतदाताओं के अपने निर्णय से 49 प्रतिशत मामलों में निर्धारित हुआ था। 40 प्रतिशत मामलों में निर्धारक कारक का पता नहीं लगा सका। उसी वर्ष (1967) पूना में 1000 मतदाताओं में संचालित अध्ययन ने दर्शाया कि जाति ने 58 प्रतिशत मामलों में प्रभावित किया। 1996, 1998 और 1999 के लोक सभा चुनावों के साथ ही दिसम्बर, 1998 में हुए चार राज्यों में और फरवरी 2000 में हुए चार राज्यों में विधान सभा चुनावों में जाति मतदान के महत्वपूर्ण कारकों में सिद्ध हुई है। परन्तु हैरोल्ड गूल्ड (Economic and Political Weekly) का विचार है कि जाति ने भारत में राजनीति का निर्धारक कारक होना कम कर दिया है।

### *राजनैतिक अभिजन राजनैतिक दल और जाति गतिशीलता (Political Elite, Political Parties and Caste Mobilisation)*

जाति 'राजनैतिक अभिजन' प्रस्थिति का एक निर्धारक कारक बन गई है। सिरसीकर, सच्चिदानन्द, राम आहूजा, एस के लाल, आदि विद्वानों द्वारा 'राजनैतिक अभिजन' पर किए गए सभी अध्ययनों ने संकेत दिया है कि अभिजन वर्ग के उदय में उच्च जातियों को मध्यम और निम्न जातियों पर अधिक लाभ मिलता है। आजादी से पूर्व सामान्यत: उच्च जाति समूह ही आजादी के संघर्ष में रत कांग्रेस पार्टी में राजनीतिक मंच के केंद्रीय स्थान में थे, लेकिन आजादी के बाद मध्यम और निम्न जातियों के व्यक्ति भी राजनैतिक

शक्ति क्षेत्र में प्रवेश कर गए। आरक्षण नीति ने निम्न जातियों के व्यक्तियों को नेता के रूप में उभरने के योग्य बनाया जबकि मध्यम जातियों के अभिजन अपनी विकसित शिक्षा और सामाजिक-आर्थिक प्रस्थिति के कारण उभर कर आए। इस प्रकार जाति प्रथा ने, जिसका केवल सरकार सम्बन्धी धार्मिक कार्य था (व्यवसाय और सामाजिक प्रस्थिति निर्धारण सहित), लोगों के राजनैतिक व्यवहार निर्धारण को संचालित करने की भूमिका भी अपना ली। गांवों में भी जाति ने राजनीतिक संरचना के रूप में उभरने में महत्वपूर्ण स्थान ले लिया है। कार्यालयों, सचिवालयों आदि में जैन लॉबी, ब्राह्मण लॉबी, यादव लॉबी, रेड्डी लॉबी, आदि के विषय में सुनते हैं। यदि कार्यकर्ता सामाजिक और व्यावसायिक जीवन में जातिवादी के रूप में कार्य करने लगें तो राजनैतिक जीवन में वे कैसे गैर-जातिवादी के रूप में कार्य कर सकते हैं? हमारे राजनैतिक अभिजन धर्म निरपेक्षता की बात कर सकते हैं और जाति तथा जातिवादी राजनीति की निन्दा भी कर सकते हैं, किन्तु व्यवहार में वे जाति के दबाव में ही काम करते हैं, क्योंकि नेता के रूप में उनकी अपने उदय की पृष्ठभूमि जाति की ही होती है।

राजनैतिक दल भी जाति समर्थन को क्रियाशील बनाते हैं। वास्तव में आज (2000) जनता को गतिशील बनाने की समस्याएं वही हैं जो आज से चार दशक पूर्व थीं। जिस प्रकार 1930 तथा 1940 के दशकों में समाज सुधारक विश्वास करते थे कि जन जागृति के बिना राजनैतिक क्रियाकलापों के लिए उनका संगठन सम्भव नहीं था, उसी प्रकार आज भी राजनीतिज्ञ जाति के नेताओं से समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और साथ ही अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए राजनैतिक साधनों को अपने लाभ के लिए प्रयोग में लाते हैं। कुछ विद्वानों ने गत तीन या चार दशकों में विविध राज्यों में राजनैतिक दलों द्वारा जातियों की गतिशीलता का अध्ययन किया था। उदाहरण के लिए, रिचर्ड सीसन (Richard Sission) ने जाति समर्थन के सन्दर्भ में 1960 के दशक में राजस्थान में एक जिले (नागौर) में कांग्रेस पार्टी के विकास का विश्लेषण किया, रामाश्रय राय ने 1960 के दशक में बिहार में जातीय आधार पर एक राजनैतिक पार्टी में प्रवेश का अध्ययन किया, आन्द्रे बेतेइ ने 1970 के दशक में तमिलनाडु में जाति प्रथा के माध्यम से राजनैतिक दलों की शक्तियों में परिवर्तन का अध्ययन किया, अनिल भट्ट ने गुजरात में जाति की राजनैतिक गतिशीलता का अध्ययन किया, डोनाल्ड रोजन्थाल (Doneld Resenthal) ने दो नगरों (उत्तर प्रदेश में आगरा व महाराष्ट्र में पूना) तथा हैरोल्ड गूल्ड ने 1990 में उत्तर प्रदेश में जातियों की राजनैतिक गतिशीलता का अध्ययन किया। इन सभी अध्ययनों ने दर्शाया कि राजनैतिक दल अपनी कार्यशीलता के लिए जातियों को गतिशील बनाते हैं और चुनाव जीतने में उनका समर्थन लेते हैं।

### *राजनीति में जाति के प्रयोग के विषय में लोगों की धारणा (People's Perception in the Use of Caste in Politics)*

राजनीति में जातियों के प्रयोग के विषय में लोग क्या सोचते हैं? विचारों के आधार पर लोगों को हम तीन समूहों में वर्गीकृत कर सकते हैं एक, वे जो इस भूमिका पर अफसोस करते हैं और सोचते हैं कि राजनीति जाति और जातिवाद से मुक्त रहनी चाहिए, दूसरे, वे जो सोचते हैं कि राजनीतिक सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करने की स्वतंत्र क्षमता नहीं रखते और तीसरे वे जो जाति या राजनीति या दोनों की ही स्वायत्तता (autonomy) का दावा करते हैं। रजनी कोठारी (1973) प्रथम दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं। वह कहते हैं कि राजनीति कुछ उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए शक्ति अर्जित करने के लिए होती है और शक्ति जाति के समर्थन द्वारा स्थित मजबूत करके प्राप्त की जाती है। भारत में क्योंकि सामाजिक व्यवस्था जाति संरचना के चारों ओर संगठित है इसलिए जाति और राजनीति कभी भी पृथक नहीं की जा सकती। अतः राजनीति में जातिवाद वास्तव में जाति का राजनीतिकरण है। दूसरे विचार के सन्दर्भ में राजनीति को स्थिति को ऊँचा उठाने या मजबूत करने के लिए एक साधन के रूप में माना जाता है। इस आधार पर राजनीति समाज की संरचना को प्रभावित नहीं करती। रजनी कोठारी ने इस विचार की भी आलोचना की है। वे कहते हैं कि जाति और राजनीति का एक-दूसरे पर हमेशा प्रभाव रहता है। तीसरे दृष्टिकोण में प्रगतिशील अर्थशास्त्री, भारतशास्त्री तथा राजनैतिक व मानवशास्त्री शामिल हैं। वे जाति को सुरक्षित रखना चाहते हैं तथा जाति को राजनीति तथा राजनीति को जाति से मुक्त रखना चाहते हैं। कोठारी ने इस दृष्टिकोण की भी आलोचना की है और कहा है कि ये सभी विद्वान यह देखने में असमर्थ रहे

हैं कि राजनैतिक व्यवस्था और जीत व्यवस्था के बीच कभी भी पूर्ण ध्रुवीकरण नहीं रहा। ए.आर.देसाई, कापडिया, घूर्ये का भी यही विचार था। राजनीति ने जाति का प्रयोग किया है और सामाजिक-राजनैतिक उद्देश्यों के लिए यह प्रयोग होता रहेगा।

## 4.20 लिंग भेदभाव (Gender Discrimination)

नोट

भारतीय महिलाओं की बहुत बड़ी समस्या यह है कि पुरुषों की तुलना में उनके साथ भेदभाव (Discrimination) किया जाता है। यह भेदभाव समाज के सभी क्षेत्रों में देखने को मिलता है। अब यह बराबर कहा जाने लगा है कि समाज में पुरुष और महिला समान हैं–पुत्र और पुत्री समान हैं और इनके साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार नहीं किया जाना चाहिए।

यह स्वाभाविक है कि जब **जैविकीय** (Biological) दृष्टि से पुरुष और महिला समान हैं, फिर महिलाओं के साथ भेदभाव क्यों? इसके पीछे कई कारक हैं। **मैत्रेयी चौधरी** कहती हैं कि भारत में महिलाओं की जो पद दलित स्थिति है उसके पीछे **विचारधारा** (Ideology) और सामाजिक संरचना बहुत बड़े कारण हैं। इस देश में महिलाओं के पीछे हमारी एक जमी-जमाई धारणा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी हमारी इस धारणा में कोई अन्तर नहीं आया है। यहाँ **यह बहुत स्पष्ट हो जाना चाहिए कि भारतीय समाज में सभी महिलाएँ, एक ही लिंग की होने के कारण समान नहीं है। महिला होकर भी एक महिला, दूसरी महिला से भिन्न है। यह भिन्नता सामाजिक विजातीयता** (Social Heterogeneity) है। उच्च वर्ग की महिलाएँ मध्यम वर्ग से भिन्न होती हैं और इन दोनों वर्गों की महिलाएँ निम्न वर्ग की महिलाओं से भिन्न होती हैं। जाति की सोपानिकता से देखें तो ज्ञात होगा कि महिलाओं में भी यह सोपान व्यवस्था है। कुछ महिलाएँ बड़े घर की हैं। पाँच सितारा होटल में जाने वाली हैं, मोटरकार और दुपहिया चलाने वाली हैं, और बहुत महिलाएँ ऐसी हैं जो कारखाने में काम करती हैं, बीड़ी बनाती हैं, सिलाई करती हैं और साग-सब्जी बेचकर अपना गुजारा करती हैं। भारतीय समाज में महिलाओं की विविधता अन्य है और स्त्री नाम पर सभी महिलाओं को एक ही तराजू में तोलना ठीक नहीं है। हमारा यह तर्क है कि जब हम समाज में महिलाओं की प्रस्थिति का मूल्यांकन करें तब हमें इस विविधता को समझना चाहिए। निश्चित रूप से जो समस्या महानगरों में रहने वाली महिलाओं की हैं, वे गाँवों की महिलाओं की नहीं, और दूसरी ओर मातृसत्तात्मक खासी महिला की जो कठिनाई है, वह बहु-पति वाली टोडा जनजाति की नहीं। समस्याएँ भिन्न हैं; चुनौतियाँ विविध हैं और सभी का विश्लेषण एक समान नहीं है।

महिलाओं की प्रस्थिति में विविधता होते हुए भी उनके बारे में हमारी एक निश्चित विचारधारा है। यह समझा जाता है कि भारतीय महिलाएँ पवित्र और ईश्वरीय (Divine) हैं। इस विचारधारा के ठीक विपरीत हमारी यह भी धारणा है कि रजस्वला के कारण महिलाएँ अशुद्ध और प्रदूषित हैं। कुछ लोगों का विचार है कि उच्च जाति की महिलाएँ पतिव्रता और श्रद्धालु होती हैं। उनमें दया, ममता कूट-कूट कर भरे होते हैं। ठीक इसके विपरीत यह भी धारणा है कि निम्न जाति की महिलाएँ भ्रष्ट चरित्र की होती हैं और उन पर कोई भरोसा नहीं किया जा सकता है। एक सामान्य धारणा यह भी है कि काम वासना की दृष्टि से महिलाएँ खतरनाक हो सकती हैं। आम धारणा यह भी है कि महिलाएँ कमजोर हैं और पुरुषों पर निर्भर हैं।

महिलाओं के सम्बन्ध में ये सब धारणाएँ बहुत ताकतवर हैं और समाज के प्रत्येक भाग में किसी-न-किसी तरह इनकी अभिव्यक्ति होती है। दूसरी बात यह है कि ये धारणाएँ सामान्यतया परस्पर विरोधी (Contradictory) हैं। धारणाओं के परस्पर विरोधी होने का कारण यह है कि महिलाएँ भी भारत की सोपानिक व्यवस्था की अंग हैं। उच्च जातियाँ निम्न जातियों की महिलाओं को चरित्रहीन मानती हैं और दूसरी ओर निम्न जातियाँ उच्च और मध्यम वर्ग की महिलाओं को पूर्वाग्रह के साथ देखती हैं। ऐसी अवस्था में जब महिलाओं की प्रस्थिति का मूल्यांकन करते हैं तब हमें उनसे जुड़ी हुई विचारधाराओं को भी देखना चाहिए।

संरचनात्मक दृष्टि से समाज में महिलाओं का स्थान पितृसत्तात्मक व्यवस्था के कारण है। पिता समझता है कि लड़की "पराया धन" है, एक न एक दिन उसे पति के घर जाना है। यह भी समझा जाता है कि इसी पितृ सत्तात्मक व्यवस्था के कारण बचपन में उसकी देखभाल माता-पिता करते हैं; पत्नी की

नोट

प्रस्थिति में पति उसे संरक्षण देता है और वृद्धावस्था में पुत्र उसकी देखभाल करता है। सामाजिक प्रस्थिति के लिए, एक बहुत बड़ा कारण पितृवंश का है। हिन्दुओं में वंश की परम्परा **पिता के वंश** (Lineage) से चलती है। लड़का ही पिण्डदान देता है। पिण्डदान से मोक्ष मिलता है। मोक्ष की इस प्राप्ति में महिला का कोई योगदान नहीं है। दहेज प्रथा का उद्‌गम भी पितृवंश के कारण है। आदिवासियों में जहाँ महिलाओं को दहेज नहीं दिया जाता और वधू मूल्य चुकाया जाता है, वहाँ उनकी प्रस्थिति उच्च हो जाती है। ये सब संरचनात्मक पहलू हैं जो महिलाओं की समाज में प्रस्थिति को निश्चित करते हैं।

**महिलाओं की प्रस्थिति : ऐतिहासिक संदर्भ (Status of Women : Historical Perspective):** भारत में महिलाओं की प्रस्थिति बराबर विवादास्पद रही है। एक तरफ उसे महिमा मण्डित किया जाता है, वहीं दूसरी तरफ उसे "ढोर, गँवार, शूद्र और पशु" समझा जाता है। जब कभी महिलाएँ रोती हैं, आँसू टपकाती हैं या दहेज की यातना के कारण आत्महत्या करने जाती हैं, तब उन्हें बड़ा दिलासा दिया जाता है। कहा जाता है कि भारतीय समाज में हमेशा से उनका स्थान गौरवपूर्ण रहा है। ऐसी स्थिति में बहुत आवश्यक है कि हम महिलाओं की प्रस्थिति को इतिहास की आँख से देखें। वैदिक काल में वास्तव में महिलाओं की स्थिति कोई बहुत खराब नहीं थी। इस काल में गार्गी, अत्रैयी, लोपामुद्रा; अपाला जैसी साध्वी महिलाएँ इस देश में थीं। इन महिलाओं का वैदिक संहिताओं के निर्माण में बड़ा हाथ था। लेकिन इस काल में पितृ सत्तात्मक व्यवस्था अवश्य थी। जन्म के बाद वैदिक काल में पुरुष और महिला में कोई भेदभाव नहीं था। लड़कों की तरह लड़कियों का भी उपनयन (जनेऊ) संस्कार होता था। विधवा महिलाओं को पुनर्विवाह की अनुमति थी। उच्च शिक्षा जिसमें वैदिक अध्ययन भी सम्मिलित था, महिलाओं को उपलब्ध था। वैदिक शब्द दम्पत्ति का अर्थ ही यह है कि घर-बार में स्वामित्व का अधिकार पुरुष और महिला दोनों को था।

बौद्ध धर्म के काल में महिलाओं की स्थिति में खराबी आने लगी। धर्म के क्षेत्र में तो महिलाएँ पुरुष के बराबर थीं; यहाँ तक कि वेश्याओं को भी बौद्ध धर्म स्वीकार करने का अधिकार था लेकिन बाद में आगे चलकर महिलाओं की प्रस्थिति में गिरावट आने लगी। उत्तरवैदिक काल में महिलाओं के ऊपर पतिव्रता का मुखौटा लगा दिया गया। अब वे सार्वजनिक जीवन में नहीं आ सकती थीं। धर्म के नाम पर वे महिलाएँ केवल व्रत और उपवास ही रख सकती थीं और जब मुस्लिम आक्रमण हुआ यानी मध्यकाल आया तब महिलाओं की प्रस्थिति में बहुत बड़ा पतन हुआ। सूफी सन्तों ने जो भक्ति आंदोलन चलाया उससे महिलाओं को थोड़ा बल मिला। मीरा, मुक्ताबाई, गंगू बाई भक्ति के क्षेत्र में आयीं। लेकिन यह प्रयास आधा-अधूरा था। मुस्लिम आक्रमण ने बाल विवाह आरम्भ कर दिया। अब हिन्दू और मुस्लिम महिलाएँ पर्दे में आ गयीं। उनकी पढ़ाई-लिखाई बन्द हो गई।

ब्रिटिश काल में महिलाओं की प्रस्थिति में थोड़ा सुधार आया। राजा राममोहन राय ने महिलाओं के अधिकार के लिए लड़ाई लड़ी। उन्होंने सती प्रथा का विरोध किया और इसके लिए कानून भी बना। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने महिला शिक्षा के लिए सुधार आन्दोलन किये। विद्यासागर ने उस जमाने में लगभग 21,000 हस्ताक्षर सरकार को दिये और आग्रह करके यह कहा कि विधवाओं को पुनर्विवाह का अधिकार दिया जाना चाहिए।

स्वतन्त्रता प्राप्ति और भारतीय संविधान में महिलाओं के अधिकारों के लिए एक नया इतिहास प्रारम्भ किया। अब कम से कम सिद्धान्त रूप में तो महिलाओं को पुरुषों के बराबर अधिकार मिल गये; समान वेतन मिल गया; भेदभाव दूर हो गया। लेकिन आनुभविक स्तर पर महिलाओं की प्रस्थिति में कोई विशेष अन्तर आया हो, ऐसा नहीं है। हमारा यह बयान सही नहीं लगेगा। यह इसलिए कि आज बहुत बड़ी संख्या में महिलाएँ विश्वविद्यालय के परिसर में शिक्षा ग्रहण करती हैं। उनमें व्यावसायिक शिक्षा भी लोकप्रिय हो रही है। लेकिन हमारा बयान सही भी है। सही इसलिए कि आज भी जयपुर (राजस्थान) की भँवरी देवी जैसी कई देवियाँ हैं जो गाँव-गाँव में प्रताड़ित हैं। हम यह आग्रहपूर्वक कहना चाहते हैं कि जब समाज में महिलाओं की प्रस्थिति का लेखा-जोखा किया जाता है, तब हमें गाँवों की महिलाओं पर भी बराबर अपनी पैनी आँख रखनी चाहिए।

## नारी और उद्यम

नोट

महिलाओं के उद्यम, क्षेत्र और सीमा एक अंचल से दूसरे में बड़ा अन्तर पाया जाता है। देखा जाये तो शहर और गाँव में महिलाओं के उद्यम में बहुत अंतर है। घर में जिस काम या उद्योग को महिलाएँ करती हैं वह दिखायी नहीं देता। लेकिन जब वे वैतनिक आधार पर काम करती हैं तब उसका लेखा-जोखा अवश्य किया जाता है। सारे देश में महिलाओं के उद्यम को मोटे रूप में दो भागों में बाँटा जा सकता है–

(1) अवैतनिक उद्यम, और (2) वैतनिक उद्यम। इस तरह का वर्गीकरण हमें परिवार तथा समाज दोनों में महिलाओं द्वारा किये गये कार्यों को समझने का अवसर देगा।

सामान्यतया उद्यम क्षेत्र का अध्ययन अर्थशास्त्री करते हैं। लेकिन उद्यम का सम्बन्ध आँचलिक विभिन्नता, उम्र, जाति और धर्म के साथ भी है। और समजशास्त्री जब महिलाओं के उद्यम का विश्लेषण करता करता है तब उसका संदर्भ निश्चित रूप से सामाजिक सम्बन्धों से होता है। परम्परा से महिलाएँ हमेशा वस्त्र उद्योग, भोजन और हस्तकलाओं में कार्य करती रहीं हैं। आज भी जहाँ जीवन निर्वाह क्षेत्र में उत्पादन लघु पैमाने पर होता है, महिलाओं का श्रम निवेश दिखायी देता है। यहाँ हम सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में महिलाओं के उद्यम का उल्लेख करेंगे। इस वर्णन से पहले हमें यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि अर्थशास्त्री स्व-उपभोग के लिए उत्पादन और बाजार के लिए उत्पादन के बीच अन्तर करते हैं। वे बाजार के उत्पादन को ही आर्थिक उत्पादन मानते हैं। अधिकतर उद्योग जो कि महिलाएँ घरेलू उद्योगों और कृषि उत्पादन की प्रक्रियाओं में करती हैं, यदि वह अवैतनिक हैं, तो इसे उद्यम नहीं माना जाता।

**ग्रामीण क्षेत्र में नारी उद्यम (Women's Work in Rural Areas):** 20वीं शताब्दी के सातवें दशक तक महिलाएँ घर में जो काम करती थीं उनका लेखा-जोखा नहीं दिया जाता था। बाद में चलकर इसे भी अर्थव्यवस्था में सम्मिलित किया जाने लगा है। गाँवों में महिलाएँ कई काम करती हैं, जैसे कि खाना बनाना, घरेलू खपत के लिए भोजन संसाधन जुटाना, अनाज इकट्ठा करना, बच्चों की देखभाल करना, ईंधन की लकड़ी लाना, चारे और पानी की व्यवस्था करना, जंगल से फल लाना, उपले बनाना, मवेशियों की देखभाल करना और घर की मरम्मत और रख-रखाव रखना आदि सम्मिलित हैं। तकनीकी अर्थ में महिलाओं का यह कार्य उत्पादक उद्योग नहीं है, क्योंकि यह स्व-उपभोग के लिए होता है।

**मैत्रेयी चौधरी** का आग्रह यह है कि महिलाओं के इस काम में एक क्षेत्र से दूसरे में और एक वर्ग से दूसरे वर्ग में अन्तर दिखायी देता है। **काम के इस अन्तर का बहुत बड़ा आधार भूमि का स्वामित्व है, उसका आकार है।** छोटी जातियों की महिलाएँ जिनके पास बहुत थोड़ी कृषि भूमि होती है, खेतों में भी काम करती हैं। लेकिन बड़ी जाति की महिलाएँ जिनके पास अधिक भूमि होती है, खेत पर काम नहीं करती। अर्थ यह निकला कि **कम भूमि है तब महिलाएँ खेत पर काम करती हैं और अधिक भूमि है तो वे खेत पर काम नहीं करती हैं। गाँव में वे महिलाएँ जो खेत पर काम नहीं करती, उनकी प्रतिष्ठा ऊँची होती है।**

अगर देश को क्षेत्रीय अन्तर की दृष्टि से देखें तो महिलाओं की भागीदारी भिन्न हो जाती है। उदाहरण के लिए केरल और तमिलनाडु की महिलाएँ धान यानी चावल की खेती में भाग लेती हैं जबकि पंजाब और हरियाणा की महिलाएँ गेहूँ की खेती में भाग नहीं लेती। देखा गया है कि एक ही क्षेत्र में जाति और वर्ग के पहलू देखने को मिलते हैं। उदाहरण के लिए तमिलनाडु में महिलाएँ खेतों में काम करती हैं, बुवाई में मदद करती हैं, पौधे रोपने में सहायता देती हैं, खरपतवार हटाने में मदद करती हैं और आवश्यकता पड़ने पर भू-स्वामी के घर पर भी काम करती हैं। **यह स्थिति उन महिलाओं की है जिनके परिवार भूमिहीन हैं। मतलब यह हुआ कि भूमिहीन किसान की महिलाएँ खेत और भू-पति के घर पर भी काम करती हैं।** इधर, दूसरी ओर छोटे किसानों की महिला अपने खेतों पर काम करती हैं और इसके अतिरिक्त उसके खेत पर काम करने वाले मजदूरों के लिए रोटी भी बनाती हैं, मजदूरों के काम की देख-रेख भी रखती हैं। बड़े किसानों की महिलाएँ कभी भी शारीरिक श्रम नहीं करतीं।

**महिलाओं के असंगठित क्षेत्र में कार्य (Women's Work in Unorganised Sector):** शहर हो या गाँव, महिलाएँ असंगठित क्षेत्र में बराबर काम करती हैं। **राष्ट्रीय महिला स्वरोजगार कमीशन**

(National Commission of Self-employed, Women) के अनुसार, काम करने वाली महिलाओं में 94 प्रतिशत ऐसी हैं, जो असंगठित क्षेत्र में काम करती हैं। कई ऐसे व्यवसाय हैं जिनमें ये महिलाएँ रोजगार करती हैं। ऐसे रोजगारों में पशुपालन, दूध डेयरी, वानिकी, मत्स्यपालन तथा खादी और कुटीर उद्योग सम्मिलित हैं। ग्रामीण क्षेत्र में ये महिलाएँ लघुवन-ऊपज क्षेत्र में काम करती हैं। इस तरह उद्यम करने वाली महिलाओं का एक बहुत बड़ा भाग असंगठित क्षेत्र में काम करता है।

**मध्यमवर्गीय महिलाएँ और कार्य (Middle-class Women and Work):** मध्यम वर्ग की महिलाएँ जो शिक्षित होती हैं, उच्च जातियों की होती हैं और शहरों में रहती हैं घर से बाहर काम नहीं करती हैं। घर से बाहर काम करने का यह सिलसिला सन् 1940 के बाद प्रारम्भ हुआ। इससे पहले तो यह समझा जाता था कि महिलाओं को घर से बाहर कोई काम नहीं करना चाहिए। काम उनकी प्रतिष्ठा को गिरा देता है। केवल विधवाओं से ही काम करने की अपेक्षा की जाती थी। सातवें दशक के मध्य में पहुँचकर मध्यवर्गीय महिलाओं ने घर से बाहर उद्यमों में सरकारी और निजी कार्यालयों में काम करना प्रारम्भ किया। ये सब काम **सफेदपोश** (White Collar) थे। बाबू का काम, टेलीफोन ऑपरेटर का काम, सरकारी कार्यालयों में काम इसके दृष्टान्त हैं। हाल में महिलाएँ देश के कई क्षेत्रों में काम करती दिखाई देती हैं। वे फौज में आ गयी हैं, हवाई जहाज चलाती हैं, और उच्च स्तर के तकनीकी व्यवसाय भी करती हैं।

कामकाज़ी महिलाओं ने कुछ मुद्दे पैदा किये हैं। मध्यवर्गीय ये महिलाएँ एक ऐसे दोराहे पर हैं कि उन्हें दफ्तर के अतिरिक्त घर पर भी काम करना पड़ता है। ये कामकाजी महिलाएँ, लगता है आर्थिक दबाव के कारण व्यवसाय करती हैं। इन महिलाओं के वेतन के बिना उनका परिवार बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। परिवार चाहता है कि बच्चों को बढ़िया स्कूलों में पढ़ाया जाये। वास्तव में मध्यमवर्गीय कामकाजी महिलाएँ अपने बच्चों के भविष्य के लिए एक सुनहरे संसार की कल्पना करती हैं। उन्हें अपने बच्चों के संगीत, नृत्य, खेल-कूद आदि के लिए धन चाहिए और इसलिये कामकाजी महिलाओं का व्यवसाय करना बहुत महत्वपूर्ण है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं निकाला जाना चाहिए कि घर-बार के चलाने में इन मध्यमवर्गीय महिलाओं की कोई बहुत बड़ी भूमिका है। परिवार के फैसलों में वे सम्मिलित नहीं हैं। यह एक सामान्य बात है कि ये महिलाएँ अपने वेतन को पति या ससुर के हाथों में दे देती हैं। यह सब होते हुए भी निश्चित रूप से कहा जाना चाहिए कि ये मध्यमवर्गीय महिलाएँ अपना **करियर** (Career) बनाना चाहती हैं।

आर्थिक क्षेत्र में स्त्रियों की जो भी स्थिति है, उसके महत्वपूर्ण निर्धारक तत्त्वों में परिवार, जाति, वर्ग और समुदाय हैं। इनके अतिरिक्त क्षेत्रीय अन्तर, श्रम बाजार और पर्यावरण भी निर्धारक तत्व हैं। महिला किन् कार्यों को करेगी, उसका व्यवसाय कैसा है, घर से बाहर कितने घंटे रहेगी, इस सबका निर्धारण प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से परिवार, जाति, वर्ग यानि सामाजिक संरचना करती है। क्षेत्रीय विभिन्नता भी एक अन्य संरचनात्मक कारक है जो भारत में महिलाओं को उद्यमों में भाग लेने के लिए प्रभावित करता है। यह भी देखा गया है कि **उत्तरभारत की तुलना में, दक्षिण, उत्तर-पूर्व और केन्द्रीय आदिम जाति क्षेत्र में महिलाओं की उद्यम में भागीदारी अधिक है। इसी तरह महिलाओं की गेहूँ उत्पादक के मुकाबले चावल उत्पादक क्षेत्रों में भागीदारी अधिक है।** इसके पीछे सांस्कृतिक और आर्थिक, दोनों कारक महत्त्वपूर्ण हैं।

श्रम बाजार सबसे ताकतवर शक्ति है। यह श्रम बाजार ही तय करता है कि महिलाओं को नौकरियों के अवसर कहाँ ज्यादा हैं और कहाँ कम। उदाहरण के लिए कृषि के क्षेत्र में महिलाएँ हल नहीं चलाती बल्कि वे निराई, प्रतिरोपण और कटाई में काम करती हैं। विद्युत् उपकरण जैसे उद्योगों में महिलाओं को अधिकतर काम के अवसर मिलते हैं। शिक्षण, नर्सिंग और कार्यालयों में काम महिलाओं के लिए लोकप्रिय हैं। आजकल पर्यावरण से जुड़े हुए जो अध्ययन हमारे सामने हैं, उनसे ज्ञात होता है कि जिन क्षेत्रों में पानी और जंगल की कमी है, वहाँ की महिलाएँ अधिक समय खाना पकाने के लिए ईंधन, लकड़ी, पशुओं के लिए चारा और घर में खपत के लिए पानी लाने में बिताती हैं। उत्तर प्रदेश के पहाड़ी क्षेत्रों में महिलाओं ने **चिपको आन्दोलन** में सक्रिय रूप से भाग लिया ताकि जंगलों को नष्ट होने से बचाया जाये और इससे उनके लिये ईंधन, पानी और चारे को एकत्र करने की कठिनाइयाँ कम हो सकें।